ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क ४८

संस्कृतका भाषाशास्त्रीय अध्ययन

डॉ० भोलाशङ्कर व्यास
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, काशी विश्वविद्यालय
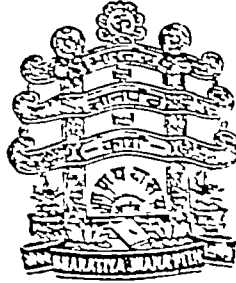
भारतीय ज्ञानपीठ काशी

प्रथम संस्करण
१९५८ ई०
मूल्य पाँच रुपये

मुद्रक
बलदेवदास
संसार प्रेस, बनारस

'सस्कृतका भाषा-शास्त्रीय अध्ययन' डॉ० भोलाशकर व्यास द्वारा प्रणीत महत्त्वपूर्ण रचना है। डॉ० व्यास संस्कृत तथा हिन्दीके मर्मज्ञ एव अधिकारी विद्वान् हैं। उन्होने पर्याप्त गवेषणा तथा विवेचनके साथ इस ग्रन्थका निर्माण किया है। हिन्दी भाषा-विज्ञानके अध्ययनके लिए सस्कृतके भापा-विज्ञानका परिचय अनिवार्य है। अतः भारतीय भाषा-तत्त्वके अनुशीलनके लिए ऐसे एक ग्रन्थकी अत्यन्त आवश्यकता थी। प्रस्तुत ग्रन्थमे भारोपीय भाषा-विज्ञानका तुलनात्मक अध्ययन है। इसलिए यह उपर्युक्त आवश्यकताकी अच्छी तरहसे पूर्ति करता है। डॉ० व्यासने पहले भी अपनी विद्वत्तापूर्ण रचनाओसे हिन्दी-साहित्यकी श्रीवृद्धि की है, प्रस्तुत ग्रन्थ उसकी समृद्धिको बढ़ानेवाला है। इस सफल रचना पर मै उनका हार्दिक साधुवाद करता हूँ।

काशी विश्वविद्यालय
११-१२-५६

राजबली पाण्डेय
प्राचार्य, भारती महाविद्यालय

मेरे मित्र डॉ० भोलाशकर व्यासने थोडे ही समयमे हिन्दी साहित्यको कई बहुमूल्य पुस्तके दी हैं। 'सस्कृतका भाषाशास्त्रीय अध्ययन' निस्सदेह उनकी महत्त्वपूर्ण देन है। इसमे आधुनिक भाषा-विज्ञानकी दृष्टिसे सस्कृत भाषाका अध्ययन प्रस्तुत किया है। इससे पुरानी पद्धतिसे सस्कृत भाषाका अध्ययन करनेवाले विद्वानोको नये ढगसे सोचने की प्रेरणा मिलेगी। मैं हृदयसे उनके इस प्रयासके लिए बधाई देता हूँ।

काशी विश्वविद्यालय
२३-१२-५६

हजारीप्रसाद द्विवेदी
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

प्राक्कथन

विश्वके भाषा-परिवारोंमें भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार बृहत्तम परिवार है, जिसकी भाषाएँ यूरोपसे लेकर भारत तक व्यवहृत होती है। संस्कृत इसी परिवारकी मुख्य भाषा है। इस दृष्टिसे संस्कृतका ग्रीक, लैटिन, प्राचीन चर्च स्लावोनिक-जैसी प्राचीन भाषाओंसे घनिष्ठ सबन्ध है। पारसियोंकी धर्मपुस्तक अवेस्ताकी भाषा तथा वैदिक सस्कृतकी प्रकृति तो परस्पर इतनी निकट है कि उन्हें एक ही भाषाकी दो विभाषाएँ घोषित किया जा सकता है। यूरोपीय जगत्को संस्कृत भाषाका परिचय मिलनेपर १६ वीं शतीमे यूरोपमें भाषाविज्ञानके क्षेत्रमें जो उन्नति हुई, उसने ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता तथा संस्कृतकी प्रकृतियोंका तुलनात्मक अध्ययन कर इस विषयका अन्वेषण किया कि इन भाषाओंके बोलनेवालोंके पूर्वज आरम्भमें एक सी ही भाषाका व्यवहार करते होगे। इसीके आधारपर आदिम भारत-यूरोपीय जैसी कल्पित भाषाकी अवतारणा की गई। ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृतमें निःसन्देह इतनी अधिक ध्वन्यात्मक और पदरचनात्मक समानताएँ पाई जाती हैं कि उपर्युक्त निर्णयपर पहुँचना स्वाभाविक है। भारत-यूरोपीय भाषाशास्त्रकी दिशामें श्लेगेल, रास्क, ग्रिम, फ्रेंज बॉप, श्लेखर, ग्रुगमान, मेये, वाकेरनागेल, ज्यूल ब्लॉख-जैसे यूरोपीय विद्वानोंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस दिशामें अधिकतर कार्य फ्रेंच तथा जर्मन भाषाओंके माध्यमसे हुआ है, तथा आंग्ल भाषामें भी इस विषयमें कुछ पुस्तकें दृष्टिगोचर होती हैं। अब तककी समस्त भाषाशास्त्रीय गवेषणाओंको ध्यानमें रखकर लिखी गई दो पुस्तकें अंगरेज़ीमें पाई जाती हैं, जो खास तौरपर संस्कृत भाषापर लिखी गई हैं· एक डॉ० घोषकी पुस्तक; दूसरी प्रोफेसर बरोकी पुस्तक। प्रोफेसर बरोकी पुस्तक अभी दो-तीन वर्ष पूर्व ही प्रकाशित हुई है। इस

दृष्टिसे हिन्दीमे ऐसी पुस्तककी कमी खटक रही थी, जो भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृत भाषापर लिखी गई हो। डॉ० भोलाशंकर व्यासकी पुस्तक "संस्कृतका भाषाशास्त्रीय अध्ययन" ने इस कमीको पूरा कर दिया है। इस पुस्तकमे व्यासने अबतककी समस्त भाषाशास्त्रीय गवेषणाओ और मान्य कृतियोंका उपयोग करते हुए संस्कृतकी भाषाशास्त्रीय रूपरेखा प्रस्तुत की है। साथ ही संस्कृत भाषाका प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंके रूपमे किस प्रकार विकास हुआ है, इसे भी अन्तिम परिच्छेदमे निबद्धकर संक्षेपमे भारतीय आर्य भाषाओके विकासकी गतिविधि प्रदर्शित कर दी है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओके विद्यार्थीके लिए संस्कृतकी भाषाशास्त्रीय प्रकृति तथा उसकी भावी गति-विधिका सम्यक्ज्ञान आवश्यक हो जाता है, अतः यह पुस्तक भारतीय भाषाशास्त्रके अध्येताके लिए बड़ी उपयोगी होगी। साथ ही इसके द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दीके महान् अभावकी पूर्ति भी हो रही है। पुस्तक गवेषणा तथा विद्वत्तापूर्ण है और डॉ० भोलाशंकर व्यासका यह प्रयास सर्वथा सराहनाके योग्य है।

रमाशङ्कर त्रिपाठी
प्रिन्सिपल, सेण्ट्रल हिन्दू कालेज
तथा डीन, फैकल्टी आफ आर्ट्स

काशी विश्वविद्यालय
७, जनवरी १९५७

विषय-सूची

आमुख

[अ]

भाषाशास्त्रके अध्ययनका विषय जैसा कि स्पष्ट है, भाषा है। भाषासे हमारा तात्पर्य मानवकी उस प्रक्रियासे है, जिसके अन्तर्गत वह अपने कतिपय ध्वनियन्त्रोंका प्रयोग कर उनसे कई प्रकारकी ध्वनियोंका उच्चारण कर उनके द्वारा अपने भावों तथा विचारोंका प्रकाशन करता है। इस प्रकार भाषा भाव-विनिमयका ध्वन्यात्मक साधन है।[1] भाषाशास्त्र मानव-भाषाके समस्त रूपों; चाहे वे असभ्य जातियोंके द्वारा व्यवहृत होते हों, या सभ्य जातियोंके द्वारा का अध्ययन करता है। वह एक ओर प्राक्-ऐतिहासिक कालकी भाषाका अध्ययन करता है; दूसरी ओर प्राचीन संस्कृत [Classical] भाषाओं, देशी प्राकृत रूपों, तथा आजकी प्रचलित भाषाओं एवं विभाषाओंका अध्ययन करता है। भाषाका यह अध्ययन वह भाषाको भाव-व्यंजनाका साधन मानकर करता है।[2]

भाषाशास्त्र [Linguistics] का अध्ययन करनेकी प्रायः तीन प्रणालियाँ पाई जाती हैं :—१. वर्णनात्मक या विवरणात्मक प्रणाली [Descriptive method], २. ऐतिहासिक प्रणाली [Historical method], ३. तुलनात्मक प्रणाली [Comparative method]। इन तीनों प्रणालियोंमें भी हम पहली दो प्रणालियोंको विशेष महत्त्वपूर्ण मानेंगे। तृतीय प्रणालीमें दो या दोसे अधिक भाषाओंको लेकर उनके भाषाशास्त्रीय

---

१. Marcel Cohen Le Langage (Structure Et Evolution) P. I.

२. Ferdinand de Saussure. Cours de Linguistique Generale. chapitre II Page 20.

तत्त्वोकी तुलना की जाती है, जो विवरणात्मक दृष्टिको भी लेकर हो सकती है, दूसरी ओर ऐतिहासिक दृष्टिको लेकर भी। वैसे जब हम किसी भाषाका ऐतिहासिक अध्ययन करते है, तो वहाँ हम विवरणात्मक प्रणालीकी सर्वथा अवहेलना नहीं करते, जब कि कोरी विवरणात्मक प्रणालीमें भाषाके ऐतिहासिक विकास पर नजर नहीं डाली जाती। तुलनात्मक प्रणालीमे किसी भाषाके विवरणात्मक तथा ऐतिहासिक दोनो ढगके अध्ययनको प्रस्तुत करते हुए उससे सबद्ध अन्य भाषाओमे तुलना करते हुए उसका वैज्ञानिक अध्ययन उपस्थित किया जाता है। प्राचीन सस्कृत [Classical] भाषाओं [यथा सस्कृत, ग्रीक, लैतिन] के अध्ययनमे हमे इसी तरहकी तुलनात्मक प्रणालीका प्रयोग करना होता है, जिसमे तुलनाके साथ ही साथ विवरणात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धतिका समन्वय होता है। प्रस्तुत पुस्तकमे हमने इसी पद्धतिपर सस्कृतका भाषाशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया है।

इस भागमे वर्णनात्मक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक प्रणालीकी विशेषताओका परिचय देते हुए, हम भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाओका सक्षिप्त परिचय तथा उनमे सस्कृतके महत्त्वका सकेत करेगे।

१–विवरणात्मक पद्धति

किसी भी भाषाकी एक कालकी स्थितिको लेकर उसके यथास्थित स्वरूपका अध्ययनकर उसके आधारपर कुछ निश्चित नियम बना देना विवरणात्मक ढगका अध्ययन है। एक भाषाको लेकर उसकी ध्वनियो, पदरचना तथा वाक्यरचनाका अध्ययन करते समय इस पद्धतिका प्रयोक्ता उसके पूर्ववर्ती रूपोकी ओर ध्यान नहीं देता, साथ ही न वह उससे सबद्ध सघटना [Structure] वाली अन्य भाषा या भाषाओंसे उसकी तुलना ही करता है, जैसा कि ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक पद्धतिमे पाया जाता है। यही कारण है कि सोस्यूरने इस प्रकारके भाषाशास्त्रीय अध्ययनको भाषाशास्त्रका स्थित्यात्मक रूप [Static linguistics] कहा है। इसी पद्धतिको एकप्रणालिक भाषाशास्त्रीय पद्धति [Monosystemic or Synch-

ronic] भी कहा जाता है, क्योंकि इस ढगके विश्लेषणमे भाषाके निश्चित देश, तथा निश्चित कालवाले रूपका ही अध्ययन किया जाता है। दूसरे ढगके अध्ययनको द सोस्यूरने विकासशील भाषाशास्त्र [Evolutional Linguistics] माना है। इस गत्यात्मक अध्ययन-पद्धतिको बहु-प्रणालिक अध्ययन [Polysystemic or dichronic] भी कहा जाता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत किसी भाषाके अनेक कालोमे गतिशील रूपोका विश्लेषण किया जाता है। आंग्ल भाषाशास्त्री इन्हींको क्रमशः विवरणात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धति कहते है।

विवरणात्मक पद्धतिका ढग भी दो तरहका होता है, एक वह जब कि किसी भाषाका विवरणात्मक व्याकरण अन्य भाषामे लिखना है, तथा दूसरा वह जब कि उसी भाषामे उसी भाषाका शास्त्रीय विवरण प्रस्तुत करना होता है। विवरणात्मक पद्धतिका एक ढगका सकेत हमे हिन्दी आदि पर अंगरेजी-मे लिखी गई पुस्तकोमे मिल सकता है। उदाहरणके लिए, केलॉगकी 'हिन्दीग्रामर' इसी ढगकी विवरणात्मक शैलीमे लिखी गई है। दूसरे प्रकारके विवरणात्मक अध्ययनका सबसे ज्वलन्त उदाहरण पाणिनिका व्याकरण लिया जा सकता है। विवरणात्मक अध्ययनके निर्णयोको प्रस्तुत करनेके लिए अध्येताको एक विशेष प्रकारकी वैज्ञानिक भाषाका प्रयोग करना पड़ता है। वह उसी भाषाका प्रयोग अपने सिद्धान्तोके लिए नहीं कर पाता। फलतः वह एक सूत्रात्मक भाषाका निर्माण करता है। इसी भाषाको भाषावैज्ञानिक "एकभाषीय अध्ययन" [Metalaguage study] के निर्णयोको सामने रखनेके लिए अपनाते है। पारिभाषिक भाषाका प्रयोग करते हुए वे भाषा-की विवरणात्मक विशेषताओको सक्ष्मातिसूक्ष्म सूत्रो [Formulae] के रूपमे रखते है, तथा उनके द्वारा एक ही भाषाके ध्वन्यात्मक परिवर्तनो, पदरचनात्मक विशेषताओको उपन्यस्त करते है।

विवरणात्मक पद्धतिका प्रयोक्ता कभी-कभी वैभाषिक रूपोंका भी इसी तरह अध्ययन करता है। वह स्त्रियो, बच्चो आदिकी विभाषा तथा अलग

अलग फिरकोंके द्वारा बोली जानेवाली "स्लैंग" का भी अध्ययन करता है। विवरणात्मक पद्धतिके अध्ययनका एक संकेत हमें ओत्तो येस्पर्सनके अध्ययन-में दिखाई पडता है। अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंमें, विशेषत. "लैंग्विज", "फिलोसोफी आव् ग्रामर" तथा "मैनकाइन्ड, नेशन एण्ड इण्डिविडुअल" में उसने विवरणात्मक अध्ययनके सिद्धान्तोंको रखते हुए इस अध्ययनकी निश्चित दिशा दी है। किन्तु आज विवरणात्मक पद्धतिसे अध्ययन करनेकी कई दिशाएँ देखी जाती हैं। अमेरिकाके भाषाशास्त्रियोंका विवरणात्मक अध्ययन कुछ यान्त्रिक प्रकारका देखा जाता है। इसका आभास हमें ब्लूम-फील्ड की "भाषा" [Language] शीर्षक पुस्तकसे मिल सकता है। अमे-रिकन भाषाशास्त्री भाषाशास्त्रको एक स्वतन्त्र विज्ञान मानकर चलते हैं, तथा अपने अध्ययनमें मनोविज्ञान आदिसे कोई सहायता लेना ठीक नहीं समझते। जिस प्रकार मनोविज्ञानकी एक शाखा, व्यवहारवादी मनोविज्ञान [Behaviouristic psychology], में यान्त्रिकता पाई जाती है, वैसी ही यान्त्रिकता इस पद्धतिमें भी पाई जाती है। इसी विशेषताके आधारपर यह प्रणाली यान्त्रिक [Machinistic] कहलाती है। अमेरिकन प्रणालीमें प्रमुख दोष यह है कि ये भाषाको प्रमुखतः उच्चरित रूपकी दृष्टिसे ही देखते हैं, साथ ही इनमेंसे कई भाषाशास्त्री तो उच्चारण मात्रको ही अध्ययनका विषय बनाते देखे जाते हैं। उच्चारण तथा अर्थ, शब्द एव अर्थके अभिन्न सबन्धको न मानकर ये अर्थकी आत्मा-को गौण समझते जान पडते हैं, तथा शब्दके कलेवरपर ज्यादा जोर देखे जाते हैं। साथ ही शब्दका विश्लेषण करते समय वे ध्वनियोंके श्रोतृगत संस्कारपर ध्यान देते नहीं दिखाई देते। वस्तुत. भाषाका अध्ययन वक्ता तथा श्रोता दोनोंकी दृष्टिसे करनेकी जरूरत है, तथा इस दृष्टिसे शब्दों तथा उनके अर्थोंका श्रोतृगत संस्कार एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

जिस प्रकार दर्शनकी विधिवादी [Positivistic] पद्धति आत्मा तथा शरीरको अभिन्न मानकर विषयी तथा विषयके तादात्म्यकी ओर बढती है,

तथा उसी दृष्टिसे भौतिक पदार्थोंका विश्लेषण करती है, ठीक उसी तरह सोस्यूर भी भाषाशास्त्रके क्षेत्रमें कुछ विधिवादी ढंग अपनाता है। वैसे यान्त्रिक तथा भौतिकवादी पद्धतिके भाषाशास्त्री उसकी पद्धतिको "आदर्शवादी" [Idealistic] पद्धति मानते हैं। सोस्यूरके मतानुसार भाषाशास्त्रको वैयक्तिक भाषा [Parole] का अध्ययन अपना प्रमुख लक्ष्य न बनाकर, समस्त एकभाषाभाषी समाजकी वैयक्तिक भाषाओंके अंतस्में अनुस्यूत भाषा [La langue] का अध्ययन करना होगा। वैयक्तिक भाषाका मनोवैज्ञानिक तथा भौतिक दोनों ढगका रूप है, किंतु सामाजिक भाषाका केवल "मनोवैज्ञानिक" रूप होता है। यही कारण है, भाषाका विश्लेषण करते समय द सोस्यूरने भाषाके प्रमुख आधार प्रतीक [La sign] तथा प्रतीत्य [La signifie'] माने है, तथा उनका श्रोतृगत रूप वासना या सस्कारनिष्ठ माना है। ध्वनियोंको सुननेसे श्रोताके मानसपर अन्तश्चित्र प्रतिबिंबित हो जाता है, जिसे सोस्यूरने "इमाज आकूस्तीक" कहा है। जब श्रोता पुनः वही ध्वनि या ध्वनिसमूह सुनता है, तो वह अन्तश्चित्र उसे अर्थ प्रत्यायनमें सहायता वितरित करता है। चूँकि सोस्यूर भी एक तथाकथित "आदर्श" भाषाका—एकभाषाभाषी समाजके अनेक व्यक्तियोंकी भाषाके आदर्शरूपका अध्ययन करता है, अतः उसे भी सूत्रपद्धतिवाली पारिभाषिक भाषाका प्रयोग करना अभीष्ट है।

२—ऐतिहासिक पद्धति

ऐतिहासिक पद्धति किसी भी भाषाके गत्यात्मक रूपोंका अध्ययन करती है। इसके अन्तर्गत एक ही भाषाके पुरातन रूपोंसे आज तकके रूपोंकी प्रवहमान गतिका अध्ययन किया जाता है। उदाहरणके लिए आजकी हिन्दी [खडी बोली]का अध्ययनकर्ता उसके पुराने रूपोंका भी अध्ययन करता है, तथा अपभ्रंश कालसे आजतक, बल्कि और अधिक विस्तृत क्षेत्र चुना जाय, तो सस्कृत कालसे आजकी हिन्दी तक ऐतिहासिक क्रमके आधारपर किस तरहका

३—तुलनात्मक पद्धति

तुलनात्मक पद्धतिके अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों पद्धतियोंका व्यवहार करते हुए ऐतिहासिक दृष्टिसे या वर्णनात्मक दृष्टिसे परस्पर सम्बद्ध दो या अधिक भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। यही नहीं, विभिन्न प्रकृतिकी भाषाओंका भी तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। वैसे तुलनात्मक पद्धतिका प्रयोग अधिकतर एक ही भाषासे निकली हुई भाषाओंकी ध्वनियों, पदरचना, शब्द-कोष तथा वाक्य-रचनाकी समानताओं तथा असमानताओंके अध्ययनके लिए किया जाता है, जैसे ब्रजभाषा तथा खड़ी बोलीका तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, या मैथिली और बंगालीका। इसी तरह संस्कृत, ग्रीक और लैटिनका भी तुलनात्मक अध्ययन उदाहरणके रूपमें लिया जा सकता है।

तुलनात्मक पद्धतिके अध्ययनने ही वस्तुतः भाषाशास्त्रको १९ वीं शती में जन्म दिया है। ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृतकी अत्यधिक समानताओंने ही भारत-यूरोपीय परिवारके तुलनात्मक व्याकरण [Comparative philology] को जन्म दिया था। इस प्रकारके तुलनात्मक पद्धतिमें कुछ भी दोष रहे हों, किन्तु इसका महत्त्व निषिद्ध नहीं किया जा सकता। आजके भाषा-वैज्ञानिकोंके मतानुसार जब हम अनेक भाषाओंकी तुलना करते समय उनकी समानताओंके आधार पर उनके परस्पर सम्बद्ध होनेकी बात कहते हैं, तथा उनके परस्पर सम्बन्ध पर जोर देते हैं, तो हम एक

वैज्ञानिक भ्रान्तिको जन्म देते है। इन नव्य भाषाशास्त्रियोंके मतानुसार संबंध [Relation] भाषाओमे न होकर भाषाओंकी संघटना [System] मे पाया जाता है। इसलिए "संबंध भाषाओका नहीं, उनकी संघटनाका है" [Relationship is not of languages, but of systems] यह कहना ज्यादा ठीक होगा। साथ ही, किन्हीं दो भाषाओमे परस्पर सम्बन्ध है या नहीं, इसकी अपेक्षा अधिक संबंध है, अथवा कम संबंध है, इस बातको मानना अधिक संगत है। उदाहरणके लिए खडी बोली [हिंदी] तथा राजस्थानीकी संघटनामे परस्पर इतना घनिष्ठ संबंध है, कि हम यह कह बैठते है दोनो एक दूसरेसे घनिष्ठ संबंध रखती है। इसी तरह राजस्थानी तथा गुजरातीकी संघटना परस्पर अधिक संबद्ध है, जब कि राजस्थानी तथा पंजाबीकी संघटना कम संबद्ध है, तथा राजस्थानी और बंगालीकी संघटना एक दूसरेसे बहुत कम संबद्ध है। अतः भाषाविज्ञानमे तुलनात्मक पद्धतिका अध्ययन करते समय, इस बातको कभी नहीं भूलना होगा कि संबंध मुख्यतः भाषाओकी संघटनाका होता है।

तुलनात्मक अध्ययन दो या अधिक भाषाओको लेकर किया जा सकता है। इस तरह का अध्ययन कोरा विवरणात्मक भी हो सकता है। हिंदी तथा अंगरेजीकी संघटनाके यथास्थित रूपको लेकर तुलनात्मक दृष्टिसे लिखे गये व्याकरणमे इस तरहकी पद्धति पाई जा सकती है। किन्तु तुलनात्मक अध्ययनमे प्रायः ऐतिहासिक दृष्टिसे परस्पर संबद्ध भाषाओका तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। यह एक ही भाषाके परवर्ती रूपोके साथ तुलनात्मक दृष्टिसे किया गया हो, या अनेकोके साथ। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंशका तुलनात्मक अध्ययन एक ढंगका होगा, संस्कृत, ग्रीक तथा लैतिनका दूसरे ढंग का। ऐतिहासिक क्रमको ध्यानमे रखते हुए एक साथ कई भाषाओंकी विकसित दशाका भी तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। जहॉ तक भाषाओके आजके रूपका प्रश्न है, उनका कथ्य [Spoken] रूप ही अपनाना ठीक होगा। पुरातन रूपोके लिए प्राचीन साहित्यकी शरण लेनी पड़ती

है, यद्यपि पुरातन कथ्य रूपका पूरा पता उससे नहीं चलता और कभी कभी तो भ्रान्ति भी होनेकी संभावना होती है। हम एक उदाहरण ले ले, प्राकृत व्याकरण, प्राकृत साहित्य तथा अपभ्रंश साहित्यके अनुसार 'संस्कृत न परवर्ती काल मे ण [मूर्धन्य या प्रतिवेष्टित] हो गया था। आज जिन भाषाओंमे-सिन्धी, पंजाबी, गुजराती व राजस्थानीमे 'ण' ध्वनि पाई जाती है, वहाँ यह ध्वनि प्रायः स्वरमध्यगतरूपमे पाई जाती है, तथा राजस्थानी कथ्य रूपकी साक्षी पर मै यह भी कह सकता हूँ कि जहाँ कहीं यह ध्वनि पदान्त [Final] पाई जाती है, वहाँ भी इसके बाद 'अ' (ə) श्रुति उच्चरित होती है। इन भाषाओंमे, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, ण ध्वनि पदादि [initial] रूपमे नहीं पाई जाती । प्रश्न होना संभव है, कि पदादि ण ध्वनि प्राकृत तथा अपभ्रंशमे कथ्य [Spoken] रूपमे पाई जाती थी, या नहीं? लिखित रूपमे चाहे वह पदादि ध्वनि ण ही रही हो, पर क्या उसका उच्चारण मूर्धन्य था? जहाँ आज ण ध्वनि पाई जाती है वहाँ पदादिमे यह ध्वनि नहीं पाई जाती, जब कि पदादिमे वर्त्स्य न पाया जाता है, जब कि प्राकृत और अपभ्रंशमे ण मिलता है। प्राकृतका एक देशज शब्द है **णवरं** [सं. केवल], इसका विकसित रूप राजस्थानीकी मेवाडी विभाषामे **नवरो** [बेकाम, आलसी, ठाला] है, जहाँ प्रथम ध्वनि मूर्धन्य न होकर वर्त्स्य है। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। मेरा ऐसा अनुमान है कि प्राकृत-अपभ्रंशमे संस्कृतका स्वर मध्यगत [Intervocalic] **न** तो ण हो गया था, किंतु पदादि **न** का उच्चारण वर्त्स्य ही था। लिपि तथा प्राकृत व्याकरणके नियमोंमे समानता लानेके लिए इसे भी **ण** ही लिखा जाने लगा हो, तथा इस प्रकार पदादि संस्कृत **न** भी **ण** के रूपमे विकसित माना जाने लगा हो। कुछ भी हो, हम केवल अनुमान भर कर सकते है, प्राचीन उच्चारणोंके बारेमे कुछ निश्चित मत देना, कभी-कभी खतरेमे खाली नहीं।

तो, अनेक भाषाओंके क्रमिक विकासका तुलनात्मक अध्ययन करते

समय हम कई तरहकी भाषाऍ पा सकते है। कई भाषाऍ आरभसे अबतक अविच्छिन्न रूपमे मिलती है, कई बीच तक आती है पर बादमे रुक जाती है या लुप्त हो जाती है, कई भाषाओका विकास सर्वथा नवीन है, तथा कई प्राचीन है किन्तु उनका साहित्य बहुत बादसे उपलब्ध होता है। तुलनात्मक अध्ययनमे हमे इन सबका समुचित प्रयोग करना पडता है। इसे हम एक रेखाचित्रसे स्पष्ट कर दे। हमे क, ख, ग, घ, ड, इन पॉच भाषाओका तुलनात्मक अध्ययन करना है, इन्हे हम क्रमशः हिंदी, राजस्थानी, गुजराती, भोजपुरी और बगला समझ ले। इसमे प्रथमका अखण्ड प्रवाह सस्कृतसे शौरसेनी, अपभ्रश होता हुआ आज तक माना जाता है; किन्तु मध्यकालीन साहित्य पर क, ख, ग तीनो भाषाओका समान अधिकार है, साथ ही ग का साहित्य, जहॉ तक उसकी भाषागत निजी विशेषताका प्रश्न है, १६ वीं शती से उपलब्ध है। भाषा घ तथा ड की परम्परा सर्वथा भिन्न है। एक मागधीसे प्रभावित कोसलीकी परवर्ती प्रकृति है, दूसरी मागधीकी प्रतिनिधि। साथ ही घ साहित्यशून्य-सी है, इसके लिखित पुरातन साहित्यका अभाव ही है, जबकि ड का प्राकृतकालीन साहित्य न होने पर भी अपभ्रश कालसे साहित्य उपलब्ध है और १४ वीं शतीसे निरतर साहित्यिक धारा बहती रही है।
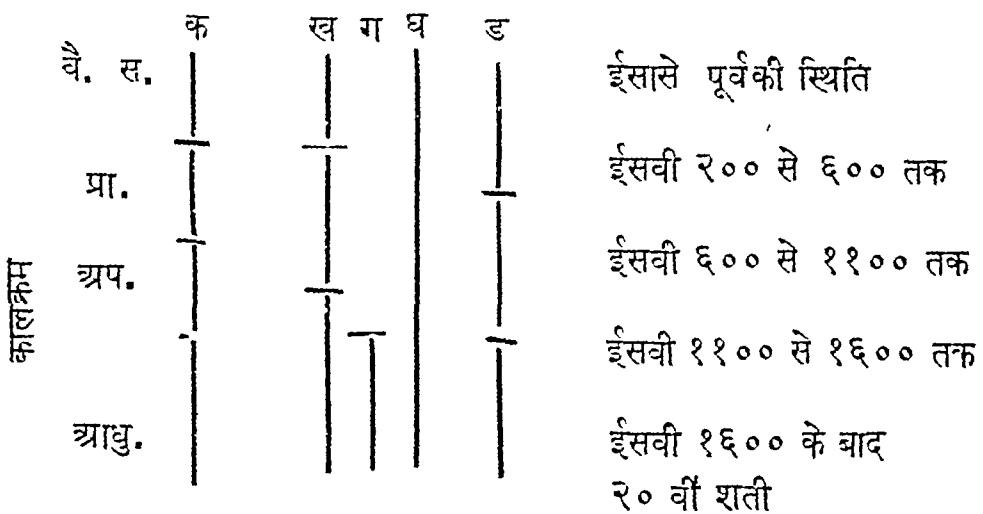
भाषाशास्त्रके तीन अंग है—(१) ध्वनिविज्ञान, (२) पदविज्ञान, तथा (३) अर्थविज्ञान। किसी भी भाषाका अध्ययन इन तीन अंगोंके आधारपर किया जाता है। कुछ विद्वानोंके मतानुसार अर्थविज्ञानकी दिशा स्वतन्त्र विज्ञानके रूपमें मानी जानी चाहिए। यही कारण है कि किसी भाषाके विश्लेषणमें अधिकतर भाषाशास्त्री ध्वनि तथा पदरचनाका ही विचार करते हैं, अर्थविज्ञानको छोड़ देते हैं। वाक्यरचना वैसे पदरचनाका ही अंग है, किन्तु कुछ विद्वान् इसे अलग तत्त्व मानते हैं।

१–ध्वनिविज्ञान

ध्वनिविज्ञानके अन्तर्गत तीन भाग माने जाते हैं:—(१) ध्वनियन्त्रोंका अध्ययन, (२) ध्वनियोंका अध्ययन (३) ध्वनियोंके परिवर्तन संबंधी नियमोंका अध्ययन। ध्वनियन्त्रोंका अध्ययन सामान्य भाषाशास्त्र [General linguistics] के अन्तर्गत होता है। ध्वनियोंके उच्चारणमें मुखके कौन कौन भाग व्यवहृत होते हैं, तथा उनकी किस किस दशामें कौन कौन ध्वनि उच्चरित होती है, इसका अध्ययन होता है। इसीके साथ ध्वनियोंके उच्चारणके समय किये गये बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयत्नों तथा ध्वनियोंके स्थान तथा करणका विवेचन होता है। नाद, श्वास, घोष, अघोष, महाप्राण तथा अल्पप्राण आदि ध्वनियोंका परस्पर भेद ध्वनियोंके उद्भावक यन्त्रोंकी तत्तत् स्थितिके कारण ही होता है। दूसरे भागके अन्तर्गत किसी निश्चित भाषाकी ध्वनियोंकी विवेचना की जाती है। किसी भाषाके अंतर्गत कितनी ध्वनियाँ पाई जाती हैं? उनमें स्वर तथा व्यञ्जन तथा अन्य अवान्तर भेदोंका विश्लेषणकर उनके स्थान तथा करणकी विवेचना की जाती है। जीवित भाषाओंमें ध्वनियोंकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रकृतिको उपन्यस्त करनेके लिए कृत्रिमतालु, कोयमोग्राफ आदि यान्त्रिक साधनोंका उपयोग किया जाता है। इसी अंगके अन्तर्गत व्यस्त ध्वनियों तथा उनके संयुक्त रूपोंका भी अध्ययन किया जाता है, तथा अनेक (दो या अधिक) ध्वनियाँ समस्त रूपमें

यहाँ हमने क, ख, आदि भाषा वाली रेखाको बीचमे – रेखासे काटा है, जो लिखित साहित्य किस कालका उपलब्ध होता है, इसका संकेत करती है। घ भाषाका लिखित साहित्य नहीं मिलता, इसलिए वह रेखा कहीं नहीं कटी है।

तुलनात्मक भाषाशास्त्रमें दो तरहकी सरणियाँ अपनाई जाती हैं। प्रथम सरणि प्राचीन [संस्कृत] भाषाओंसे नीचेकी ओर आती है। उदाहरणार्थ, हिंदीका अध्ययन करनेके लिए संस्कृतसे हिंदीकी ओर बढ़ना। दूसरी पद्धति यह है कि पहले हिंदीका विवरणात्मक दृष्टिसे वैज्ञानिक अध्ययन कर लें, तदनन्तर उसके ऐतिहासिक विकासके लिए संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंशके विकासका अध्ययन कर हिंदीकी प्रकृतिको तदनुरूप विवेचनाका विषय बनावे। आजके भाषावैज्ञानिक इस द्वितीय पद्धतिका उपयोग ही विशेष वैज्ञानिक मानते हैं। यह बात निश्चित है कि इस तरहकी प्रणालीका आश्रय हम आज बोली जाने वाली भाषाओंके अध्ययनके लिए ही ले सकते हैं। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंशके लिए तो हमें पहली पद्धतिका ही आश्रय लेना होगा। साथ ही दूसरी पद्धति जीवित भाषाके व्यवहृत तथा कथ्य रूपको प्रधानता देगी, प्रथम पद्धतिका एकमात्र आधार लिखित साहित्य होता है। लिखित साहित्यके आधार पर की गई भाषाशास्त्रीय गवेषणाको इसीलिए नव्यतम भाषाशास्त्री, 'लिंग्विस्टिक्स' कहना ठीक नहीं समझते। साथ ही वे 'लिंग्विस्टिक्स' तथा 'फाइलोलोजी' को परस्पर पर्यायवाची भी नहीं मानते। लिखित साहित्यके आधारपर भाषाओंके तुलनात्मक व्याकरण अथवा तुलनात्मक पदरचनाशास्त्रको वे 'फाइलोलोजी' कहते हैं। उच्चरित भाषाके आधार पर की गई गवेषणाको "लिंग्विस्टिक्स"। प्रस्तुत पुस्तिकामें अब तक अधिकतर विद्वानोंके द्वारा आदृत इस मतको ही माना गया है कि 'फाइलोलोजी' तथा 'लिंग्विस्टिक्स' को पर्यायवाची माननेमें कोई गलती नहीं। भाषा-शास्त्रियोंके बहुमतकी ऐसी ही धारणा है। संस्कृतका अध्ययन यहाँ पर प्रथम पद्धतिका आश्रय लेकर उपस्थित किया गया है।

भाषाशास्त्रके तीन अंग हैं—(१) ध्वनिविज्ञान, (२) पदविज्ञान, तथा (३) अर्थविज्ञान। किसी भी भाषाका अध्ययन इन तीन अंगोंके आधारपर किया जाता है। कुछ विद्वानोंके मतानुसार अर्थविज्ञानकी शिक्षा स्वतन्त्र विज्ञानके रूपमें मानी जानी चाहिए। यही कारण है कि किसी भाषाके विश्लेषणमें अधिकतर भाषाशास्त्री ध्वनि तथा पदरचनाका ही विचार करते हैं, अर्थविज्ञानको छोड़ देते हैं। वाक्यरचना वैसे पदरचनाका ही अंग है, किन्तु कुछ विद्वान् इसे अलग तत्त्व मानते हैं।

१—ध्वनिविज्ञान

ध्वनिविज्ञानके अन्तर्गत तीन भाग माने जाते हैं:—(१) ध्वनियन्त्रोंका अध्ययन, (२) ध्वनियोंका अध्ययन (३) ध्वनियोंके परिवर्तन सम्बन्धी नियमोंका अध्ययन। ध्वनियन्त्रोंका अध्ययन सामान्य भाषाशास्त्र [General linguistics] के अन्तर्गत होता है। ध्वनियोंके उच्चारणमें मुखके कौन कौन भाग व्यवहृत होते हैं, तथा उनकी किस किस दशामें कौन कौन ध्वनि उच्चरित होती है, इसका अध्ययन होता है। इसीके साथ ध्वनियोंके उच्चारणके समय किये गये बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयत्नों तथा ध्वनियोंके स्थान तथा करणका विवेचन होता है। नाद, श्वास, घोष, अघोष, महाप्राण तथा अल्पप्राण आदि ध्वनियोंका परस्पर भेद ध्वनियोंके उद्भावक यन्त्रोंकी तत्तत् स्थितिके कारण ही होता है। दूसरे भागके अन्तर्गत किसी निश्चित भाषाकी ध्वनियोंकी विवेचना की जाती है। किसी भाषाके अन्तर्गत कितनी ध्वनियाँ पाई जाती हैं? उनमें स्वर तथा व्यञ्जन तथा अन्य अवान्तर भेदोंका विश्लेषणकर उनके स्थान तथा करणकी विवेचना की जाती है। जीवित भाषाओंमें ध्वनियोंकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रकृतिको उपन्यस्त करनेके लिए कृत्रिमतालु, कायमोग्राफ आदि यान्त्रिक साधनोंका उपयोग किया जाता है। इसी अंगके अन्तर्गत व्यस्त ध्वनियों तथा उनके संयुक्त रूपोंका भी अध्ययन किया जाता है, तथा अनेक (दो या अधिक) ध्वनियाँ समस्त रूपमें

एक दूसरी ध्वनिको कैसे विकृत कर देती है, इसका अध्ययनकर तत्तत् भाषाके सम्बधमें नियमोंकी अवतारणा की जाती है।

ध्वनिविज्ञानका तीसरा अग ऐतिहासिक दृष्टिसे किसी भाषाकी ध्वनियोंका अध्ययन तथा उसके अनुकूल नियम निबद्ध करना है। इसीके अन्तर्गत हम ध्वनियोंके अनेक प्रकारके परिवर्तनकी मोमासा करते हैं। वर्णागम, वर्णलोप, वर्णविकार, वर्णविपर्यय, समीकरण, विषमीकरण जैसे रूपोंका अध्ययन किया जाता है। सस्कृतसे प्राकृतमें, या सस्कृतसे हिंदीमें कौन कौन ध्वनियोका किस किस प्रकारका परिवर्तन हुआ, यह देखकर उसके आधार पर निश्चित ध्वनिनियमोंकी अवतारणा की जा सकती है। वैसे भाषाशास्त्रके ध्वनिनियम अन्य वैज्ञानिक नियमोंकी भॉति नितान्त अपवादरहित नहीं होते, यह बात ध्यान देनेकी है।

२–पदरचना

पदरचनाके अन्तर्गत किसी भी भाषाकी पदसघटनाका अध्ययन किया जाता है। इस विभागके अन्तर्गत भाषाके व्याकरणका अध्ययन होता है, पर इतना होनेपर भी परपरागत व्याकरणकी शैलीमें, तथा इसमे महान् अतर होता है। परपरागत व्याकरण, किसी भी भाषामें कौन कौन रूप पाये जाते हैं, अमुक शब्दके एकवचन, द्विवचन या बहुवचनके रूप कैसे होते हैं, तथा अमुक धातुके अमुक लकारके रूप कैसे होते हैं, यहीं तक सीमित रहता है। भाषाशास्त्रका पदविज्ञान प्रमुख महत्त्व इस ओर देता है कि अमुक भाषामें इस तरहके रूप क्यो निष्पन्न होते हैं। यही कारण है, कई ऐसी बाते जिन्हे वैयाकरण अधिक उपादेय समझता है, उसके लिए उपेक्षित होती हैं, तथा कई ऐसी बाते जिन्हे वैयाकरण उपेक्षित समझता है, उसके लिए महत्त्वपूर्ण होती हैं। यही पद्धतिभेद व्याकरण तथा पदरचनाशास्त्रके अध्ययनको भिन्न बना देता है। इस पुस्तिकामें सस्कृत भाषाका अध्ययन इसी दृष्टिसे है। अतः यहॉ सस्कृतकी पदरचनापर भाषाशास्त्रीय ढगसे ही सकेत मिलेगा। सस्कृत व्याकरणकी दृष्टिसे न लिखी जानेके कारण इस पुस्तिकामें

शब्दों या धातुओंके रूपोंकी पूरी उद्धरणी न मिलेगी, वह कहीं व्याकरण ग्रन्थसे देखी जा सकती है। संस्कृत पदरचनामें संस्कृतके सुप्, तिङ्, कृदन्त, तथा तद्धित प्रत्यय, उनके अनेक रूप कहाँसे आये हैं, किस प्रकार इनके समान या समानान्तर रूप ग्रीक, लैतिन तथा अवेस्तामें पाये जाते हैं, इसीका विशद विवेचन पुस्तिकाके आगामी पृष्ठोंमें मिलेगा। अतः संस्कृत व्याकरण-की पद्धतिपर ग्रंथकी रचना अपेक्षित न थी।

प्रस्तुत ग्रन्थमें प्रा० भा० यू० के कल्पित रूपकी विशेषताओंका संकेत करते हुए, उस आदि-स्रोतकी प्रकृति उपन्यस्त की गई है, जो संस्कृत तथा अन्य भारत यूरोपीय भाषाओंकी एकसूत्रता है। तदनन्तर भाषाशास्त्रीय दृष्टिके आधार पर ही अवेस्ता तथा ऋग्वेदकी भाषाओंकी तुलना की गई है। अभी हाल हीमें डॉ. सी. कुन्हन राजाने अवेस्ता तथा ऋग्वेदकी तुलना करते हुए उनकी संस्कृतिको समान माननेकी प्रचलित भ्रान्तिका उल्लेख किया है, तथा ऐसी भ्रान्तिको अहितकर बताया है। पर जहाँ तक इन दोनोंके शुद्ध भाषाशास्त्रीय तुलनात्मक अध्ययनका प्रश्न है, वे इसका विरोध नहीं करते। इस पुस्तकमें अवेस्ता तथा ऋग्वेदकी तुलना भाषाको दृश्यबिन्दु बनाकर ही की गई है, संस्कृतिको नहीं, तथा संस्कृतकी समानता वाली बातें, जिन्हें डॉ. कुन्हन राजा ने भ्रान्त कहा है, यहाँ न आने पाई हैं। वैदिक संस्कृत तथा अवेस्ताकी सभ्यता निःसंदेह भिन्न थी, किन्तु उनकी भाषा एक दूसरेके बड़ी नजदीक है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इसी संबंध में डॉ. राजाने ऋग्वेदकी तिथिके प्रश्नको फिरसे उठाया है। ऋग्वेदकी तिथिके विषयमें अनेक मत होनेके कारण निश्चित मत अभी तक स्थिर न हो सका है। यही कारण है, मैंने यहाँ तुलनात्मक भाषाशास्त्रियोंके द्वारा आदृत मतको ही लिया है। यह मत मेरा अपना तो है नहीं, और न इस मतका संतोषपूर्ण खण्डन ही हो सकता है।

संस्कृतकी भागीरथीके आदिस्रोतसे लेकर आज तक बहते हुए अखण्ड प्रवाहकी रूपरेखा प्रस्तुत करना ही यहाँ लक्ष्य रहा है। उसका विशाल

1. शब्द तथा अर्थके संबंधका यह विचार भाषाशास्त्रमें इतना अधिक नहीं पाया जाता, जितना दर्शन, न्याय तथा मनोविज्ञानके ग्रन्थोंमें। भारतमें इसका विचार दर्शन, व्याकरण तथा साहित्यशास्त्रमें हुआ है। इस विषयका विशेष विवेचन लेखकने अपने पी-एच. डी. के लिए स्वीकृत प्रबंध "शब्दशक्ति विवेचन" में किया है, जो नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हुआ है। इसमें पाश्चात्योंके एतत्संबंधी विचारोंका भी विवेचन किया गया है।

आधारपर उसने अर्थपरिवर्तनके प्रकारोंका उल्लेख करते हुए, अर्थ-विस्तार, अर्थसंकोच, अर्थविपर्यय, अर्थादेश, अर्थापदेश आदिका संकेत किया है।

४—शब्द-भाण्डार

कुछ विद्वानोंके मतानुसार भाषाशास्त्रका एक और अंग है, शब्द-भाण्डार। पर अधिकतर भाषाशास्त्री तुलनात्मक भाषाशास्त्रमें इसको भी विशेष महत्त्व नहीं देते। वैसे शब्द-भाण्डारका वैज्ञानिक अध्ययन किसी भाषाकी अपनी संघटना जाननेमें बड़ा काम देता है। यही नहीं, किस भाषामें कितने विजातीय तत्त्व हैं, इसका संकेत भी प्रमुखतः शब्द-भाण्डारसे ही लगता है। संस्कृतमें ही कई मुण्डा तथा द्राविड शब्द पाये जाते हैं। विद्वानोंने इसका अध्ययनकर उन शब्दोंकी तालिका भी उपन्यस्त की है। संस्कृतके अध्ययनमें अंतिम परिच्छेदमें इन शब्दोंका परिचय दिया गया है। प्रत्येक भाषामें कई कारणोंसे, जिनमें प्रमुख कारण ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक होते हैं, नये शब्द स्थान पाते जाते हैं। जब वे आम बोल-चालकी भाषाके अंग बन जाते हैं, तो भाषावैज्ञानिकके अध्ययनके विषय बन जाते हैं। यहाँ यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि किसी भाषाके कोश-भाण्डारका अध्ययन भाषाशास्त्री उस रूपमें नहीं करता, जिस रूपमें कोषकार [Lexicographer] उसका अध्ययन करता है।

[आ]

भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाओंका संक्षिप्त विवरण

समस्त विश्वकी भाषाओंको कई परिवारोंमें विभक्त किया जाता है। एक परिवारकी सभी भाषाएँ एक दूसरेसे इतिहास तथा पदरचना दोनों दृष्टियोंसे घनिष्ठतम सम्बन्ध रखती है। विश्वकी इन भाषाओंमें अपनी अपनी विशेषताएँ पाई जाती हैं। उदाहरणके लिए चीनी भाषा एकाक्षर भाषा है, तथा उसमें सभी शब्द अर्थतत्त्वके ही बोधक है, सम्बन्धतत्त्वके बोधनके लिए वहाँ शब्दका

वाक्यगत स्थान ही साधन बनता है। चीनी ही नहीं, अन्य कई भाषाएँ तिब्बती, स्यामी, बर्मी आदि भी इसी परिवारकी भाषाएँ है। इन भाषाओं-को परिवारकी दृष्टिसे एकाक्षर परिवारकी, तथा पदरचनाकी दृष्टिसे अयोगात्मक या व्यासप्रधान भाषाएँ [Isolating languages] कहा जाता है। दूसरे ढगकी भाषाएँ द्राविड़ परिवारकी हैं, जो भारतके दक्षिण भागमे बोली जाती है, ये भाषाएँ पदरचनाकी दृष्टिसे प्रत्ययप्रधान या अश्लिष्ट भाषाएँ [Agglutinating languages] होती है। इन भाषाओंमे अर्थतत्त्व या शब्द तथा प्रत्यय (संबन्धतत्त्व) मिलाकर किसी भावकी प्रतिपत्ति कराते है। इस प्रकार इन भाषाओंमे पद = शब्द + प्रत्यय। किन्तु शब्द [अर्थ-तत्त्व] तथा प्रत्यय [सम्बन्धतत्त्व] पदमे स्पष्टतः भिन्न भिन्न परिलक्षित होते है। तीसरी कोटिकी भाषाएँ प्रश्लिष्ट कोटिकी होती है। इन भाषाओंमे शब्द एक दूसरेसे इतने श्लिष्ट हो जाते है कि कभी पूरा वाक्य ही समासान्त पद हो जाता है। इन भाषाओंमे समासान्तपद [या वाक्य] = शब्द + शब्द + शब्द + ··· ·····। इन भाषाओंको इसी विशेषताके कारण समासप्रधान भाषाएँ भी कहा जाता है। अमेरिकाके आदि निवासियो [रेडइण्डियन्स] की भाषाएँ इसी कोटिकी है।

इनके अतिरिक्त सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ग विभक्तिप्रधान [Inflexional] भाषाओका है। इन भाषाओंमे अर्थतत्त्वके साथ विभक्ति रूप सम्बन्धतत्त्वको जोडकर 'पद'की निष्पत्ति की जाती है। यह विभक्ति किन्हीं किन्हीं भाषाओंमे आभ्यन्तर होती है, किन्हींमे बाह्य। जिनमे यह आभ्यन्तर होती हैं, वे अन्तर्विभक्तिप्रधान भाषाएँ होती हैं, जैसे सेमेटिक-हेमेटिक परिवारकी भाषाएँ। अरबीमे अन्तर्विभक्तिके कारण अर्थतत्त्वके अंदरके स्वरोका परिवर्तन करनेसे अलग-अलग सम्बन्धतत्त्वोका भावबोधन करा दिया जाता है। बहिर्विभक्ति-प्रधान भाषाओंमे विभक्तियाँ अर्थतत्त्व (शब्द) के बादमे जुडती है, तब सुबन्त तथा तिङन्त पदोकी निष्पत्ति होती है। विभक्तिप्रधान भाषाओंमे अर्थतत्त्व तथा सम्बन्धतत्त्व एक दूसरेके साथ इतने घुलमिल जाते है कि अलग

दिखाई नहीं देते, साथ ही विभक्तिके कारण अर्थतत्त्वमें भी (कभी कभी) विकार हो जाता है। भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाएँ इसी द्वितीयकोटिकी विभक्तिप्रधान भाषाएँ हैं।

अगले परिच्छेदमें हमने इसको स्पष्ट किया है कि भारतयूरोपीय परिवारकी कल्पना क्यों की गई है, तथा इस परिवारमें कौन-कौन सी समानताएँ पाई जाती हैं, जो इन्हें एक ही परिवारके अन्तर्गत रखती हैं। यहाँ हम केवल इस परिवारके वर्गों तथा उन वर्गोंकी प्रमुख भाषाओंका संकेत दे देना ठीक समझते हैं। भारतयूरोपीय परिवारको कई नाम दिये जाते हैं। पहले इसे भारत-जर्मनी नाम दिया गया था, कुछ लोगोंने इसे 'आर्य'-परिवार भी कहा था किन्तु ये नाम संकुचित हैं। आजकल इसे भारत-यूरोपीय [Indo-European] परिवार ही कहा जाता है। हिंदीमें इसका संक्षिप्त रूप भारोपीय भी चलता है, पर मैं भारत-यूरोपीय शब्दका प्रयोग करना ही विशेष ठीक समझता हूँ। इस परिवारकी भाषाएँ विश्वमें सबसे अधिक संख्याके द्वारा बोली जाती हैं, तथा भौगोलिक विस्तारकी दृष्टिसे इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। इसके साथ ही प्राचीनतम उपलब्ध साहित्यकी दृष्टिसे इस परिवारका अत्यधिक महत्त्व है। वैसे इससे भी पुरानी भाषाएँ थीं, जिनके पास साहित्य रहा होगा, पर वे या तो स्वयं लुप्त हो गई हैं, या उनका साहित्य लुप्त हो गया है। संस्कृतकी वैदिक निधि इसीलिए सबसे पुराना साहित्य है, जो इस परिवारकी भाषावैज्ञानिक महत्ताका अन्यतम प्रतिष्ठापक है। इसके साथ ही आज भी विश्वमें इस परिवारकी भाषाओंका अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है, तथा वे सभ्य जातियोंकी भाषाएँ मानी जाती हैं। अंगरेजी, फ्रेंच, रूसी, स्पेनिश तथा हिंदी आज अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुकी है। अँगरेजी तो जैसे आज भी समस्त विश्वकी उप-भाषा सी बनी हुई है। मध्यएशियामें ठीक यही स्थान फ्रेंचने, दक्षिणी अमेरिकामें स्पेनिशने तथा उत्तरी एशियामें रूसीने प्राप्त कर रक्खा है। इस दृष्टिसे हिन्दी पिछड़ी कही जा सकती है। किन्तु हिन्दीकी सांस्कृतिक परम्परा उसके विस्तार तथा

विकासमें निश्चय ही योग देगी, तथा वह दिन दूर नहीं, जब हिन्दी अन्तर्राष्ट्रीय विश्वमें अपना समुचित स्थान प्राप्त कर सकेगी।

भारत-यूरोपीय परिवारकी भाषाओंको निजी निजी विशेषताओंके आधारपर दस शाखाओंमें विभक्त किया गया है। इनमेंसे दो वर्गोंको छोडकर बाकी अन्य शाखाओंकी भाषाएँ आज भी बोली जाती हैं। इनमेंसे कई वर्गोंकी भाषाएँ पुनः उपशाखाओंमें विभक्त की जाती हैं। सर्वप्रथम इन समस्त भाषाओंको दो वर्गोंमें बाँटा जाता है :—सतम् वर्ग तथा केन्तुम् वर्ग। भारतयूरोपीय परिवारमें कतिपय शाखाओंकी भाषाएँ ऐसी हैं, जिनमें उन स्थानपर 'क' पाया जाता है, जहाँ संस्कृतमें 'श' तथा अन्य कई योरोपीय भाषाओंमें 'स' पाया जाता है। प्रा० भा० यू० तालव्य क्य, ग्य आदि ध्वनियाँ भारत-ईरानी शाखा, अल्बेनियन, बाल्तोस्लाविक आदिमें सोष्म स [श], ज, ज़ का रूप ले लेती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रा० भा० यू० में दो तरहकी विभाषाएँ रही होंगी तथा इस विभाषाके बोलनेवाले आस-पास रहते थे, तथा इनके ही वंशजोंकी भाषाएँ भारत, ईरान, आर्मीनिया, रूस आदि स्थानोंपर बोली जाती हैं। किन्तु इस वर्गके दूरकी विभाषाओंमें इन ध्वनियोंका विकास नहीं हुआ और वहाँ वे कण्ठ्य रूपमें स्पर्श ही बनी रही है। उदाहरणके लिए लैतिनमें 'सौ' के लिए प्रयुक्त 'केन्तुम्' [Centum] शब्दमें 'क' ध्वनि पाई जाती है, जबकि संस्कृत तथा अवेस्तामें यह क्रमशः सोष्म 'श' तथा 'स' हो गई है, तथा वहाँ इसका 'शतम्' तथा 'सतम्' रूप देखा जाता है। इन दोनों वर्गोंकी भाषाएँ निम्न हैं :—

१. **सतम् वर्ग**—भारत-ईरानी शाखा, अल्बेनियन शाखा, आर्मेनियन शाखा, हित्ताइत, बाल्तोस्लाविक शाखा।

२. **केन्तुम् वर्ग**—ग्रीक शाखा, इतालिक शाखा, केल्तिक शाखा, जर्मनिक या ट्यूटोनिक शाखा, तोखारी।

हम इन्हींका संक्षिप्त विवरण यहाँ देंगे।

१. **भारत-ईरानी शाखा**—इन शाखामें दो उपशाखाएँ हैं—

भारतीय आर्य शाखा, तथा ईरानी शाखा। वैसे एक तीसरी शाखाकी भी कल्पना की जाती है,—दरदशाखा।

भारतीय आर्य शाखाकी प्राचीनतम भाषा संस्कृत है, जिसके प्राचीन साहित्यके रूपमें वैदिक मन्त्र उपलब्ध है, जो इस परिवारकी प्राचीनतम साहित्यिक निधि है। इस शाखाका साहित्य ईसासे लगभग डेढ़-दो हजार वर्ष पुराना प्राप्त होता है। भारतीय आर्यशाखाकी परवर्ती भाषाएँ प्राकृत तथा अपभ्रंशकी स्थितिसे गुजरती हुई आजकी भारतीय आर्य भाषाओंके रूपमें विकसित हुई है, जिनका विस्तृत उल्लेख इस पुस्तिकाके अंतिम परिच्छेदमें देखा जा सकता है।

ईरानी उपशाखाके अन्तर्गत प्राचीनतम भाषा अवेस्तामें उपलब्ध होती है। अवेस्तामें वैदिक मन्त्रोंकी तरह ही अनेक कालकी भाषा है, तथा इनमें प्राचीनतम भाषा ईसासे लगभग ८०० वर्ष पूर्वकी कही जा सकती है। प्राचीन ईरानीको दो भागोंमें विभक्त किया जाता है :—एक उसका प्राचीनतम रूप जो अवेस्तामें उपलब्ध होता है, दूसरा उसके बादका रूप जो अकेमेनिद राजाओंके क्यूनिफोर्म शिलालेखोंमें प्राप्त होते है। इनमेंसे दारिउस प्रथमके शिलालेख ५२१ ई० पू० के माने जाते है। ईरानी शाखाकी परवर्ती भाषा पहलवी है। इसके भी सोग्दी, साका, पार्थियन आदि वैभाषिक भेद पाये जाते है। यह स्थिति ई० पू० तीसरी सदीसे ईसाकी दसवीं सदी तक मानी जा सकती है। पहलवीकी अवेस्ताकी टीकाएँ तथा स्वतन्त्र साहित्यिक कृतियाँ उपलब्ध होती है। आजकी भाषाओंमें इस वर्गमें आधुनिक फारसी, कुर्दिश, ओसेतिक, पश्तो तथा बलूची मुख्य हैं। इनमें साहित्यिक दृष्टिसे आधुनिक फारसीका प्रमुख स्थान है तथा उसका प्राचीनतम साहित्य ग्यारहवीं सदी तक जाता है, जिसमें फिरदौसीका शाहनामा प्रसिद्ध है।

२. अल्बेनियन शाखा—अल्बेनियन भाषाका प्राचीनतम साहित्य ईसाकी चौदहवीं शताब्दीका मिलता है। यही कारण है कि अल्बेनियन के प्राचीनकालिक तथा मध्यकालिक रूपोंका कुछ भी पता नहीं चलता।

३. आर्मेनियन शाखा—आर्मेनियन शाखाका साहित्य भी उतना पुराना नहीं मिलता, जितना अन्य शाखाओंका। फिर भी अल्बेनियन शाखाकी अपेक्षा इसका साहित्य अधिक पुराना मिलता है। अल्बेनियन भाषाका साहित्य ईसाकी पाँचवीं सदीसे निरंतर उपलब्ध होता है। यही कारण है कि अल्बेनियन भाषाकी अपेक्षा आर्मेनियन भाषाकी मध्यकालीन स्थितिके विषयमें हमलोग बहुत अधिक जान सकते हैं। इधर कुछ दिनोंसे भाषाशास्त्रियोंका अल्बेनियन तथा आर्मेनियन भाषाओंकी ओर ध्यान आकृष्ट हुआ है। वैसे इन भाषाओंकी ओर सबसे पहले फ्रेंच विद्वान् मेये का ध्यान आकृष्ट हुआ था, तथा उसने इन भाषाओंका वैज्ञानिक अध्ययन किया था।

४. हित्ताइत—सतम् वर्गकी एक भाषा हित्ताइत है, जिसके ईंटोंके लेख तुर्कीके बोगाजकुई स्थानपर प्राप्त हुए हैं। बोगाजकुई हित्ताइत साम्राज्यकी राजधानी थी, तथा यह साम्राज्य ईसासे १४ वीं शताब्दी पूर्वतक था। इस भाषाके विषयमें विद्वानोंकी यह मान्यता है कि यह आ० भा० यू० भाषाकी बेटी न होकर बहिन थी, तथा इसमें कई ऐसी विशेषताएँ पाई जाती हैं, जो यह सिद्ध करती है कि इन दोनोंकी माँके रूपमें एक आदिम-भारत-हित्ताइत [भारत-हित्ती] भाषाकी कल्पना की जानी चाहिए। स्टर्टेवन्टने इस आदिम भारत-हित्ताइत भाषाके कल्पित रूपोंका अध्ययन किया है। हित्ताइत भाषाके आधारपर आ० भारत-हित्ताइत भाषामें चार कण्ठनालिक ध्वनियोंकी विवेचना की गई है, जिसका संकेत हम अगले परिच्छेदमें देंगे।

५. बाल्तो-स्लाविक—बाल्तो-स्लाविक या बाल्तो-स्लावोनिक सतम् वर्गकी पाँचवीं शाखा है। इसके अन्तर्गत भारत-ईरानी शाखाकी तरह ही युगल उपशाखाओंका अस्तित्व है। एक उपशाखा बाल्तिक है, दूसरी स्लावोनिक। बाल्तिक उपशाखाकी प्राचीनतम प्रकृतिका पता नहीं लगता, किन्तु मध्यकालमें इसकी तीन विशेषताएँ रही हैं:—प्राचीन लिथुआनियन, प्राचीन लेतिश, तथा प्रशियन। प्राचीन प्रशियनमें

साहित्य उपलब्ध होता है, तथा यह भाषा १७ वीं शताब्दी तक प्रचलित थी, किन्तु बादमे सम्भवतः जर्मनके प्रभावसे इसका लोप हो गया। लिथुआनियन तथा लेतिश आज भी बोली जाती है। भाषाशास्त्रोके लिए इनमे लिथुआनियन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भारतयूरोपीय वर्गकी आजकी भाषाओमे लिथुआनियनने प्राचीन प्रकृतिको अत्यधिक सुरक्षित रक्खा है। इस दृष्टिसे इसे 'आर्ष' प्रकृतिकी भाषा कहा जा सकता है। इसमे आज भी द्विवचनके चिह्न सुरक्षित रक्खे हैं, तथा विभक्तियोका अत्यधिक प्रयोग पाया जाता है। लिथुआनियनमे आज भी छः विभक्तियाँ पाई जाती है। ध्वनियोकी दृष्टिसे भी लिथुआनियनने आ० भारतयूरोपीय ध्वनियोको भी अन्य भारतयूरोपीय भाषाओकी अपेक्षा अधिक सुरक्षित रक्खा है, उदाहरणके लिए हम निम्न शब्दोको ले लेः—

लिथुआ० एस्ति [Esti] , ग्रीक एस्ति [Esti], सस्कृत अस्ति
,, एइमि [Eimi] , ,, एइमि [Eimi] ,, एमि
,, उग्निस् [Ugnis] , लैतिन इग्निस् [Ignis] ,, अग्निः

स्लावोनिक उपशाखाको पुनः तीन भागोमे विभक्त किया जाता हैः—दक्षिणी स्लावोनिक, पश्चिमी स्लावोनिक तथा पूर्वी स्लावोनिक। स्लावोनिक उपशाखाकी भाषाएँ बल्गेरिया, जेकोस्लेवाकिया, पोलैन्ड, यूगोस्लाविया, यूक्रेन तथा रूसमे बोली जाती है। इन तीन भागोमे से मध्यकालीन प्रकृति प्राचीन चर्च स्लावोनिक या "प्राचीन बल्गेरियन" का विशेष महत्त्व है। प्रा० च० स्ला० दक्षिणी स्लावोनिकका मध्यकालीन रूप है। इसमे ईसाकी नवीं शतीसे लेकर १२ वीं शती तकका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण साहित्य उपलब्ध होता है। बाल्तोस्लाविक शाखाकी मध्यकालीन प्रकृतिके उदाहरण उपन्यस्त करनेके लिए भाषाशास्त्री इसी साहित्यका आश्रय लेते हैं। इस उपशाखाकी आधुनिक भाषाएँ बल्गेरियन, सर्बो-क्रोट, तथा स्लोवेन है। पश्चिमी उपशाखाकी मध्यकालीन भाषा 'पोलेबियन' थी, किन्तु इसका साहित्य उपलब्ध नहीं होता। इस शाखाकी आधुनिक भाषाएँ—जेक,

स्लोवाक, पोलिश तथा सोर्बियन है। सोर्बियन पूर्वी जर्मनीमें लगभग दस लाख आदमियोंके द्वारा बोली जाती है, तथा इस शाखाकी सबसे बड़ी भाषा है। पूर्वी स्लावोनिककी मध्यकालीन प्रकृतिका पता नहीं चलता। इसकी आधुनिक भाषाएँ [बडी] रूसी, सफेद रूसी, यूक्रेनियन [या छोटी रूसी] है। रूसी रूस देशकी राष्ट्रिय भाषा है। सफेद रूसी पोलैंडके कुछ भागमें बोली जाती है, तथा छोटी रूसी यूक्रेनमें। सोवियटकी स्थापना होनेके बाद रूसकी अन्य सभी भाषाएँ जो अब तक गिरा पडी अवस्थामें थीं, साहित्यिक दृष्टिसे समृद्ध होती जा रही हैं।

६. **ग्रीक शाखा**—वैदिक संस्कृतके बाद इस परिवारकी भाषाओंका प्राचीनतम साहित्य ग्रीकका उपलब्ध होता है। ईसासे लगभग ८५० वर्ष पूर्वके होमर-साहित्यका होना इस भाषाके महत्त्वको बढ़ा देता है। साथ ही तबसे इसका साहित्य अक्षुण्ण रूप में प्राप्त होता है। संस्कृत, लैतिन या आ० भा० यू० भाषाका विद्यार्थी ग्रीक भाषाकी अवहेलना नहीं कर सकता। जिस प्रकार भारत यूरोपीय परिवारके अध्येताके लिए सस्कृतका अध्ययन नितान्त आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार प्राचीन ग्रीकका भी। ग्रीक शाखाको पूर्वी ग्रीक तथा पश्चिमी ग्रीक दो उपशाखाओंमें विभक्त किया जाता है। पूर्वी ग्रीकमें कई विभाषाएँ रही है, पर प्रमुख एतिक या आयोनिक विभाषा है, जिसका साहित्य उपलब्ध होता है। होमरकी रचनाएँ आयोनिक ग्रीकमें ही है। इसी भाषाकी मध्यकालीन प्रकृति 'कोइन' या 'हेलेनिस्टिक' ग्रीकके नामसे प्रसिद्ध है, तथा इसीसे आधुनिक ग्रीकका विकास हुआ है।

पश्चिमी ग्रीकमें कई विभाषाएँ रही होंगी। इस उपशाखाकी प्रमुख विभाषा 'दोरिक' है। दोरिक से ही 'टसकोनियन बोलियों' का विकास हुआ है। ग्रीकका साहित्य अत्यधिक समृद्ध है तथा यूरोपमें लैतिनकी तरह ही ग्रीक भी सभ्य तथा विद्वान् समाजकी भाषा रही है। आ० भा० यू० की स्वर सपत्तिको प्राचीन ग्रीकने अत्यधिक सुरक्षित रक्खा है। अगले परिच्छेदोंमें जब हम ग्रीकके उदाहरण देंगे तथा उसकी ध्वन्यात्मकता तथा पद-

रचनाका संकेत देंगे, तो हमारा तात्पर्य प्राचीन "क्लैसिकल" ग्रीकसे ही है, आधुनिक ग्रीक से नहीं।

७. **इतालिक**—यूरोपके पश्चिमी भागकी आधुनिक भाषाओंमें इतालिक शाखा तथा ट्यूटोनिक [जर्मन] शाखाकी भाषाओंका ही अधिक विस्तार पाया जाता है। इतालिक शाखाकी प्रमुख भाषा लैतिन रही है, जो यूरोपमें ग्रीकके समान ही आदृत रही है, अपितु मध्यकालमें तो ग्रीकसे भी अधिक सम्मानित रही है। प्रा० भा० यू० के अध्येताके लिए लैतिनका महत्त्व भी संस्कृत व ग्रीकके समान ही है। लैतिनने संस्कृत व ग्रीककी तरह प्रा० भा० यू० पदरचना [Morphology] को सुरक्षित रक्खा है। इतालिक शाखाको दो उपशाखाओंमें विभक्त किया जाता है:— [१] लैतिन-फालिस्कन, [२] ओस्कन-उम्ब्रियन। इनमें द्वितीय उपशाखाके प्राचीन रूप शिलालेखोंमें मिलते हैं, किन्तु बादमें ये विभाषाएँ लुप्त हो गई हैं। प्रथम उपशाखामें दो विभाषाएँ थीं, लैतिन तथा फालिस्कन। लैतिनका साहित्य ईसासे पहलेका प्राप्त होता है। लैतिनकी परवर्ती स्थिति "वल्गर लैतिन" [भ्रष्ट लैतिन] के नामसे उसी तरह विख्यात है, जैसे पतञ्जलिने अपाणिनीय प्रयोगों को "अपभ्रंश" कहा था। वस्तुतः "वल्गर लैतिन" साहित्यिक "क्लैसिकल" लैतिनकी प्राकृत थी। इसी से फ्रेंच, स्पेनिश, पोर्चुगीज, प्रोवाँसाल, इतालियन, तथा रूमानियन भाषाओंका विकास हुआ है।

८. **केल्तिक**—केल्तिक शाखामें कुछ ऐसी विशेषताएँ पाई जाती है जो लैतिन [इतेलिक शाखा] में भी उपलब्ध होती है। इसीलिए कुछ विद्वानोंने इतालिक व केल्तिकको एक ही शाखाकी दो उपशाखाएँ माना था। इतालिक तथा केल्तिक दोनोंमें ही दो तरहके भाषावर्ग पाये जाते है, एक वर्गमें प्रा० भा० यू० 'क' परिवर्तित नहीं होता तथा 'क' ही बना रहता है, तथा दूसरे में वह 'प' के रूपमें परिवर्तित हो जाता है। इतालिक तथा केल्तिक शाखाओंकी दूसरी समानता यह है कि इन शाखाओंमें कर्मवाच्य रूपोंमें 'र्' का प्रयोग पाया

जाता है। उदाहरणके लिए आयरिश 'बेरी' [Beri] का अर्थ 'ले जाना' [सं० भरति] है। इसके कर्मवाच्य रूपमें बेरी-र् [Beri-r] [वह ले जाया जाता है], बेर्ती-र् [Berti-r] [वि ले जाये जाते हैं], रूप बनते है। इसी प्रकार लैतिनमें भी कर्मवाच्य रूपमें 'र्' पाया जाता है। वैसे 'र्' का प्रयोग तोखारिश, हित्ताइत तथा आर्मीनियनमें भी पाया जाता है।

केल्तिक शाखामें तीन उपशाखाएँ हैं—[१] गेलिक या गोइदेलिक [२] ब्रितेनिक, [३] गॉलिश। इनमें अंतिम शाखाकी भाषाके कुछ शिलालेख प्राप्त होते हैं। इनमें कुछ स्थानों व व्यक्तियोंके नाम तथा लैतिनसे गृहीत शब्दोंका प्राचुर्य है गॉलिश ईसाकी छठी शतीके लगभग लुप्त हो गई थी। गेलिक उपशाखाकी आधुनिक भाषाएँ आयरिश, स्कॉट, गेलिक, तथा मांक्स है। ब्रितेनिक उपशाखाकी आधुनिक भाषाओंमें वेल्श तथा ब्रेतन है। ब्रेतन फ्रांसके ब्रितेनी प्रदेशमें बोली जाती है। साहित्यिक दृष्टिसे इनमें आयरिशका साहित्य ईसाकी पाँचवीं शतीसे उपलब्ध होता है, तथा वेल्शका ईसाकी नवीं शतीसे। बाकी भाषाएँ साहित्यिक दृष्टिसे समृद्ध नहीं है।

९. **जर्मन या ट्यूटोनिक शाखा**—जर्मन या ट्यूटोनिक शाखाकी भाषाएँ जर्मनी, स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क, आइसलैंड, हालैण्ड तथा इंगलैण्डमें बोली जाती हैं। जर्मन शाखाको तीन उपशाखाओंमें विभक्त किया जाता है—[१] पूर्वी जर्मन, [२] उत्तरी जर्मन तथा [३] पश्चिमी जर्मन। पूर्वी जर्मन शाखाकी कोई भी जीवित भाषा विद्यमान नहीं है। प्राचीन साहित्यिक दृष्टिसे इसके अंतर्गत गॉथिक भाषाके लिखित साहित्यका महत्त्व है, जो ईसाकी चौथी शताब्दीके बादसे प्राप्त होता है। भाषाशास्त्रीके लिए भारतयूरोपीय परिवारके तुलनात्मक अध्ययनमें जर्मन-शाखाकी विशेषता जाननेके लिए गॉथिक ही प्रमाणस्वरूप है। अन्य उपशाखाओंका इतना प्राचीन रूप उपलब्ध नहीं। उत्तरी जर्मनका प्राचीन रूप र्‌यूनिक शिलालेखों [Runic Inscription] में उपलब्ध होता है। उसका परवर्ती साहित्यिक रूप प्राचीन नोर्स या प्राचीन आइसलैंडिक भाषाके

रूपमें मिलता है। इस उपशाखाकी आधुनिक भाषाएँ स्वीडिश, डेनिश, नोर्वेजियन तथा आइसलैंडिक है।

पश्चिमी जर्मन उपशाखाका साहित्य तथा प्रचारकी दृष्टिसे बड़ा महत्त्व है। इस परिवारकी जर्मन भाषा तथा अँगरेजीने साहित्यिक समृद्धिके कारण अन्तर्राष्ट्रिय ख्याति प्राप्त कर ली है। पश्चिमी जर्मनको दो भागोंमें विभक्त किया जाता है, [१] हाई जर्मन, [२] लो जर्मन। हाई जर्मनके अंतर्गत प्राचीन हाई जर्मन तथा आधुनिक जर्मन, डच तथा फ्लैमिश [बेलजियमकी भाषा] आती है। दूसरी कोटिके अंतर्गत आंग्ल-फ्रीजियन भाषा-युगल आता है, जिसमें साहित्यिक दृष्टिसे प्राचीन अँगरेजी या एंग्लो-सैक्सन भाषा भी महत्त्वपूर्ण है। अंगरेजी तथा फ्रीजियन इस उपवर्गकी आधुनिक भाषाएँ है।

जेकब ग्रिमने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'जर्मन भाषाके व्याकरण' [Duetsche Grammar] में हाई जर्मन तथा लो जर्मनके ध्वनिपरिवर्तनकी क्लैसिकल कालकी भाषा—ग्रीक तथा लैतिनसे तुलना करते हुए एक नियमको जन्म दिया था, जो भाषाविज्ञानमे "ग्रिमनियम" के नामसे विख्यात है। ग्रिम-नियमका संबंध भारतीय आर्य भाषाओंसे किंचिन्मात्र भी नहीं है, न संस्कृत-से ही। इसका महत्त्व इस दृष्टिसे है कि प्रा० भा० यू० ध्वनियाँ गॉथिक तथा परवर्ती जर्मन भाषाओंमें किस रूपमें परिवर्तित हुई है। वैसे ग्रिमके नियमका वर्नरवाला उपनियम एक दृष्टिसे थोडा बहुत संस्कृतके लिए उप-योगी कहा जा सकता है, क्योंकि उसके कारण प्रा० भा० यू० स्वर [accent] का अनुमान लगाया जा सकता है।

१०. **तोखारी**—१९०४ मे चीनी तुर्किस्तानमे कुछ हस्तलेख मिले थे, जो भारत-यूरोपीय परिवारकी किसी भाषामें थे। ये हस्तलेख ईसाकी छठी शतीके लगभगसे प्राप्त होते है। इस भाषाको 'तुषार' या 'तुखार' जातिके नामपर तोखारी, तोखारिक, तोखारेग, तोखारियन, तोखारिश कई नामोंसे पुकारा जाता है। यह भाषा यद्यपि भौगोलिक दृष्टिसे 'सतम्'

वर्गकी भाषाओंके द्वारा घिरी है, तथापि केन्तुम् वर्गकी है। इसमें "सौ" के लिए "कान्त" [Kant] शब्द पाया जाता है। तोखारी भाषासे अन्य उदाहरण ये दिये जा सकते हैं :—

पातर	सं०	पितृ
मातर	सं०	मातृ
ओक्त	सं०	अष्ट

भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाकी मूल प्रकृति जाननेके लिए संस्कृत, ग्रीक तथा लैतिनका अत्यधिक महत्त्व है। इन तीनोंने प्रा० भारतयूरोपीय भाषाकी पदरचनात्मक विशेषताओंको अधिकाधिक रूपमें सुरक्षित रक्खा है। ध्वनियोंकी दृष्टिसे संस्कृत प्रा० भा० यू० की प्रकृतिको अधिक सुरक्षित रख सकी है, यद्यपि प्रा० भा० यू० स्वरध्वनियाँ संस्कृतमें अत्यधिक संकुचित हो गई हैं। संस्कृतने पाँच प्रकारकी प्रा० भा० यू० स्पर्श ध्वनियोंको आज भी किसी न किसी रूपमें सुरक्षित रक्खा है, जब कि ग्रीक व लैतिनमें वे तीन प्रकारकी कवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग वाली ध्वनियोंमें ही समाहित हो गई हैं। इसी प्रकार संस्कृतने प्रा० भा० यू० अघोष महाप्राण तथा सघोष महाप्राण दोनों प्राण ध्वनियोंको सुरक्षित रक्खा है। इसी प्रकार ग्रीक तथा लैतिनमें शब्द रूपोंकी विभक्तियाँ भी कम हो गई हैं, जब कि संस्कृतने प्रा० भा० यू० की आठों विभक्तियोंको अक्षुण्ण बनाये रखा है। यही नहीं, वैदिक संस्कृतने प्रा० भा० यू० स्वर [Accent] को भी अधिकांश तक सुरक्षित रक्खा है। इन सब कारणोंसे प्रा० भा० यू० के अध्येता ही नहीं, अपितु भा० यू० परिवारकी किसी भी शाखाके प्राचीनतम रूपके अध्येताके लिए, चाहे वह ग्रीक हो, या लैतिन या गॉथिक या प्राचीन चर्च स्लॉविक या प्राचीन फ़ारसी, संस्कृतकी आवश्यक प्रकृतिका ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। भारतीय आर्य भाषाके विद्यार्थीके लिए तो संस्कृत मूल उत्सभूमि है, इस उद्गम स्रोतकी प्रकृतिको जाने बिना उसके लिए एक पैर भी आगे बढ़ना कठिन होगा। इतना ही नहीं, भाषाशास्त्रके सामान्य नियमोंके ज्ञानके लिए भी

सस्कृतका थोड़ा बहुत परिचय आवश्यक हो जाता है। १८ वीं शतीके अत-से लेकर आज तक भाषाशास्त्रके विकासका इतिहास सस्कृतके अध्ययनसे अनुस्यूत रहा है, तथा भाषाशास्त्रके इतिहासको समझनेके लिए सस्कृतका ज्ञान आवश्यक हो जाता है। जब हम भाषाशास्त्र तथा सस्कृत भाषाके घनिष्ठ सम्बन्धकी बात करते है, तो हमारा अर्थ यह है कि भाषाशास्त्रको जन्म देनेमें प्रमुख हाथ सस्कृतका ही रहा है। एकमात्र संस्कृतके परिचयने ही यूरोपमें भाषाविज्ञानको जन्म दिया यह कहना अतिशयोक्ति न होगा, चाहे ओत्तो येस्पर्सन इसे अतिशयोक्ति माने। फिर भी येस्पर्सन सस्कृतके महत्त्वका तथा भाषाविज्ञानमें उसकी प्रबल प्रेरणाका निषेध नहीं करते।[1]

तो भाषाशास्त्रके जन्ममें निःसदेह सस्कृतका प्रमुख हाथ रहा है। जब हम भाषाशास्त्रके जन्मकी बात करते है, तो हमारा तात्पर्य १९ वीं शतीके आरभमें यूरोपमें विकसित तुलनात्मक व्याकरण [Comparative Grammar, Philology] की प्रणालीसे है। जैसा कि यूरोपमें सस्कृतके परिचयके सम्बन्धमें विख्यात है, यूरोपीय विद्वानोने इसे पाकर, जैसे भाषा सम्बन्धी पुराने यूरोपीय विचारोंमें एक आमूलचूल परिवर्तन कर दिया। पुराने यूरोपीय विद्वान् समस्त विश्वकी भाषाओंको [यूरोप तथा एशियाकी भाषाओंको] हिब्रूसे उत्पन्न मानते थे, तथा कुछ विद्वानोंने हिब्रूको आधार मानकर यूरोपीय भाषाओंका अध्ययन भी उपस्थित किया था, जिसमें वे असफल ही हुए थे। जबसे यूरोपीय विद्वानोंको सस्कृतका पता लगा, तबसे वे इस भ्रान्त धारणाको छोडकर भाषाशास्त्रकी वैज्ञानिक दिशाकी ओर बढने लगे।

यूरोपीय जगत्को सस्कृतका परिचय देनेका श्रेय सर विलियम जॉन्सको है। वैसे सर जॉन्सके पूर्व भी कोर्दो [Coeurdoux] नामक फ्रेंच पादरी ने सन् १७६७ में फ्रेंच इन्स्टिट्यूटके पास भारतसे एक लेख भेजा था, जिसमें

---

1 Otto Jespersen Language P 33

उसने संस्कृत तथा लैतिनकी समानताओंकी ओर ध्यान आकृष्ट किया था। उसने संस्कृत अस् धातुके वर्तमानके रूपोंको उदाहृत करते हुए लैतिनके रूपोंसे इनकी तुलना की थी। किन्तु कोर्दोंको संस्कृतके परिचय देनेका श्रेय न मिल सका, उसका लेख भी लगभग चालीस वर्ष बाद प्रकाशित हुआ तथा उससे पहले ही अनेक विद्वानोंने इस समानताकी ओर यूरोपीय जगत्का ध्यान आकृष्ट करा दिया था। सर जॉन्सने सन् १७९६ में संस्कृतके विषयमें जो शब्द कहे थे, वे आज भी तुलनात्मक भाषाशास्त्रके उदयके बीज माने जाते हैं:—

"संस्कृत भाषाकी पदरचना अत्यधिक अद्भुत है चाहे उसका मूल उद्गम कुछ भी रहा हो। यह भाषा ग्रीकसे भी अधिक पूर्ण, लैतिनसे अधिक समृद्ध तथा दोनोंसे अधिक परिष्कृत है, इतना होते हुए भी यह उन दोनोंसे क्रियाओंके मूलरूपों [धातुओं] तथा व्याकरणके रूपोंकी दृष्टिसे घनिष्ठतया सम्बद्ध है। यह आकस्मिक नहीं हो सकता। यह सम्बन्ध इतना दृढ है कि कोई भी भाषाशास्त्री उन तीनोंका अध्ययन यह माने बिना नहीं करेगा कि वे सब किसी एक ही स्रोतसे उत्पन्न हुई है, जो अब नहीं पाया जाता। ऐसे ही कारणके आधार पर—यद्यपि यह कारण इतना दृढ़ नहीं है—यह भी कहा जा सकता है कि गॉथिक तथा केल्तिक भी, संस्कृतकी समान-स्रोत है, तथा प्राचीन फारसीको भी इसी परिवारसे जोड़ा जा सकता है।"

१९ वीं शतीके आरभमें भारत-यूरोपीय तुलनात्मक व्याकरणको अग्रेसर करनेवाली सर्वप्रथम पुस्तक श्लेगेलकी 'उबेर दी स्प्राख उन्द वीशेन दर इन्देर" [भारतकी भाषा तथा ज्ञान-संपत्ति पर] १८०८ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तकके अंतर्गत श्लेगेलका प्रमुख ध्येय संस्कृत साहित्यिक सपत्तिकी ओर सकेत करना था, किन्तु संस्कृत भाषा पर भी उसने अपने विचार प्रकट किये है। यह दूसरी बात है कि कई भाषाशास्त्रीय अनुमानोंमें वह भ्रात दिशाका आश्रय लेता है, उदाहरणके लिए फारसी

तथा जर्मनको अत्यधिक घनिष्ठ माननेकी उसकी धारणा भ्रांत है। सस्कृतको ही आधार बनाकर श्लेगेलने समस्त विश्वकी भाषाओंको दो भागोंमे विभक्त किया था, [१] सस्कृतसे सम्बद्ध भाषाएँ, तथा [२] अन्य भाषाएँ।

श्लेगेलके बाद यद्यपि रास्क तथा ग्रिमने भारत यूरोपीय परिवारकी यूरोपीय भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन किया, किन्तु सस्कृतकी परपराका उत्थान करने वाला फ्रॅंज बॉप था। उसने १८१६ मे अपने महत्त्वपूर्ण निबन्ध "सस्कृत भाषाकी पदरचना तथा ग्रीक, लैतिन, फारसी और जर्मन भाषाकी पदरचनाके साथ उसकी तुलना पर" [उबेर देश कौंजुगाशन्स-सिस्तैम देर सस्कृत स्प्राख इन वर्ग्लैखुग मित येनेम देर ग्रीसिस्खे न, लेति-निस्खे न, पेरिशिस्खे न, उन्द जेर्मानिस्खेन स्प्राख] को प्रकाशित कराया, जो आज भी भारत-यूरोपीय पदरचनाशास्त्र [Philology] का दीपस्तम्भ माना जाता है।

सस्कृतकी दृष्टिसे बॉपकी परम्पराको बढानेवाला श्लेखर था। प्राचीन भारत यूरोपीय भाषाके काल्पनिक रूपकी अवतारणा करनेका श्रेय श्लेखरको ही दिया जा सकता है। श्लेखरने तो इस भाषामें "एक भेड़ और घोड़ेकी कहानी" भी लिखी थी, जिससे एक वाक्य इस पुस्तकके सप्तम अध्यायमे उद्धृत किया गया है। काल्पनिक प्रा० भा० यू० के पुनर्निर्माण [Reconstruction]के अतिरिक्त श्लेखरका दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य पदरचनाकी दृष्टिसे भाषाओंका आकृतिमूलक वर्गीकरण है। श्लेखरने ही सर्वप्रथम तीन तरह की भाषाएँ मानी हैं:—

१. व्यास प्रधान भाषाएँ [Isolating languages]
२. प्रत्यय प्रधान भाषाएँ [Agglutinating languages]
३. विभक्तिप्रधान भाषाएँ [Inflexional languages]

श्लेखरके परवर्ती कालमें, जिसे नव्य वैयाकरणों [न्यू ग्रैमेरियन्स] का काल कहा जाता है, भारतयूरोपीय तुलनात्मक व्याकरणका अत्यधिक अध्ययन होने लगा। ब्रुगमान, मैक्समूलर, ह्विटनी, सोस्यूर आदि कई

विद्वानोंने प्रा० भा० यू० के कई अपवादरूपोको वैज्ञानिक सिद्ध किया। प्रा० भा० यू० के परवर्ती अध्येताओमे ए. मेये, वाकेरनागेल, ज्यूल ब्लॉख तथा स्टॅटेंवेट प्रमुख हैं। मेये ने ही सर्वप्रथम यह घोषणा की कि प्रा० भा० यू० कल्पित रूपोको वस्तुतः किसी बोली जानेवाली प्राचीन भाषाका रूप मानना भ्रात है, तथा वे केवल सूत्र रूप है, जो ग्रीक, लैतिन, सस्कृत आदि भाषाओके परस्पर सम्बन्धके सकेत या प्रतीक है। वाकेरनागेलने 'अल्तिन्दिश्के ग्रामतीक' नामसे सस्कृत भाषाका तुलनात्मक व्याकरण उपस्थित किया, जिसे कोई भी सस्कृत भाषाका अध्येता अपनी गवेषणा करते समय नहीं छोड़ सकता। प्रस्तुत, पुस्तिकाके लिखनेमे वाकेरनागेलका यह महार्घ ग्रन्थ सदा पथप्रदर्शक रहा है। इसके अतिरिक्त ज्यूल ब्लॉखकी "लॉदो आर्यां" [L' Indo Aryen] भी संस्कृतके तुलनात्मक अध्ययनमे नया कदम है। वाकेरनागेलका ग्रन्थ जहॉ सस्कृतका तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करता है, वहॉ ब्लॉखका ग्रन्थ वैदिक सस्कृत तथा अवेस्तासे लेकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ तक बड़ा सुदर तथा महत्त्वपूर्ण परिचयात्मक अध्ययन है। इन तीनो ग्रन्थोको बीसवीं शतीके महत्त्वपूर्ण भाषाशास्त्रीय ग्रन्थ कहना अनुचित न होगा। भारतीय आर्य भाषाओंके अध्ययनके लिए डॉ० चाटुर्ज्याका विश्व प्रसिद्ध ग्रन्थ "बगाली भाषाका उद्भव व विकास" एक दीपस्तम्भ है, जिसने अनेको विद्वानोको निश्चित दिशा प्रदान की है।

यहॉ हमारा लक्ष्य भाषाशास्त्रीय गवेषणाओकी उद्धरणी देना न होकर भाषाशास्त्रके विकासमे सस्कृतके योगका सकेत भर करना था। सस्कृतके भाषाशास्त्रीय महत्त्वका सबसे बडा प्रमाण तो यही है कि यूरोपके विश्व-विद्यालयोमे भाषाशास्त्रीय अध्ययनमे प्रवृत्त गवेषकके लिए कमसे कम सस्कृतका सामान्य परिचय तो आवश्यक हो ही जाता है। इस पुस्तकमे सस्कृतके सामान्य परिचयको ही लक्ष्य बनाया गया है। सस्कृत भाषाका सर्वांगीण [भाषा-शास्त्रीय] अध्ययन तो इतनेसे क्षेत्रमे संभव नहीं।

संस्कृत भाषा–उत्पत्ति [आदिम भारतयूरोपीय]

संस्कृत भाषा भारत-यूरोपीय अथवा भारत-जर्मनीय परिवारकी प्रमुख भाषाओंमें है। इस परिवारको आर्य-परिवारके नामसे भी अभिहित किया जाता है। किन्तु यह नाम प्रायः समस्त परिवारके लिए प्रयुक्त न किया जाकर, इस परिवारकी एक विशेष शाखा, भारतेरानी [हिन्द-ईरानी], के लिए प्रयुक्त होता है। यह परिवार आठ या अधिक [दस] शाखाओंमें विभाजित है। इनमेंसे प्रत्येक शाखा पुनः उपशाखाओंमें विभाजित है, यह हम आमुखके अन्तर्गत देख चुके हैं। ये शाखाएँ हैं :—[१] भारतेरानी शाखा, जिसके अन्तर्गत वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत तथा इससे उद्भूत हिंदी, बंगाली, गुजराती, मराठी आदि आर्य भारतीय भाषाएँ तथा प्राचीन ईरानी भाषा, जिसका रूप हमें पारसियोंकी धर्मपुस्तक अवेस्तामें मिलता है, तथा उससे उत्पन्न नव्य फारसी, पश्तो आदि है, [२] बाल्तो-स्लाविक शाखा, जिसके अंतर्गत प्राचीन रूसी, पोलिश, बोहेमियन, लिथुआनियन आदि भाषाएँ हैं, [३] आर्मेनियन शाखा, [४] अल्बेनियन शाखा[1], [५] ग्रीक शाखा, इसके अन्तर्गत प्राचीन यूनानकी प्रसिद्ध साहित्यिक भाषा ग्रीक तथा उससे उत्पन्न आजकी ग्रीक है, [६] इतेलियन शाखा, जिसमें प्राचीन ओस्कन तथा उम्ब्रियन भाषाएँ, लैतिन तथा आजकी रोमांस भाषाएँ-फ्रेंच, इतेलियन, स्पेनिश आदि हैं, [७] केल्तिक शाखा, जिसका प्रचार एक समय सारे पाश्चात्य यूरोपमें था, किन्तु आज इससे उद्भूत आयरिश

---

१. आर्मेनियन तथा अल्बेनियन दो भिन्न शाखाएँ हैं, जो एशिया-माइनरमें पाई जाती हैं।

तथा वेल्शके बोलनेवाले बहुत थोडे हैं[1], [८] जर्मनीय शाखा, जिसमें अँगरेजी, डच, जर्मन, स्केण्डिनेवियन आदि भाषाएँ है। अन्वेषकोने कुछ ऐसी भी भारतयूरोपीय भाषाओंका पता लगाया है, जो एक समय बोली जाती थीं, किन्तु आज सर्वथा लुप्त हो गई हैं। इन भाषाओंमें कुछ ऐसी निजी विशेषताएँ है, जिनके कारण इन्हे भिन्न शाखाएँ स्वीकार किया गया है। ये तोखारी तथा हित्ताइत वर्ग है, जिन्हे हम भारतयूरोपीय परिवारकी नवीं तथा दसवीं शाखा मान सकते है।

इन समस्त शाखाओंमें कुछ ऐसी निकट समानताएँ है, जिनके कारण इन्हे एक परिवारमे सम्मिलित किया गया है। उदाहरणके लिए सस्कृत 'पितृ' [पितर्] शब्दको ले लीजिये। यह शब्द ग्रीक शब्द **'पतेर'** [pater], लैतिन **'पतेर'** [pater], जर्मन **'वातेर'** [vater] तथा अँगरेजी **'फ़ादर'** [father] से मिलता है। इन सभी शब्दोंमे एक सी पदान्तता पाई जाती है। ग्रीक तथा लैतिनमें तो व्यञ्जन ध्वनियाँ भी सस्कृतके समान ही है। जर्मन तथा अँगरेजीमे व्यञ्जन ध्वनियाँ परिवर्तित हो गई है, किन्तु ये परिवर्तन ध्वनि-नियमोके आधार पर हुए है। सस्कृतकी अघोष अल्पप्राण ध्वनि, अँगरेजीमें महाप्राण तथा जर्मनमे सघोष अल्पप्राण पाई जाती है।[2] यद्यपि ये भाषाएँ अपनी अपनी निजी विशेषताओंसे युक्त है, फिर भी इन सब समानान्तर रूपोमे हम एक समान सूत्रकी कल्पना कर सकते है, जिसे हम "*प्अतेर [*pəter] रूप देते हैं। यह तुलनात्मक रूप भारत-यूरोपीय परिवारकी काल्पनिक आदिम भाषा [Ursprach] का माना गया है। आदिम भारत-यूरोणीय जैसी भाषा थी भी या नहीं, इस पर हम आगे

---

१. फ्रांसके ब्रितेनी प्रदेशकी ब्रेतन [Breton] भी इसी शाखाकी भाषा है।

२. भाषाशास्त्रमें यह नियम "ग्रिमके नियम" (Grimm's Law) के नामसे प्रसिद्ध है।

प्रकाश डालेंगे। सस्कृतसे एक दूसरे और उदाहरणको ले लीजिये। सस्कृत 'भरामि' के समानान्तर ग्रीक **'फेरो'** [phero], लैतिन **'फेरो'** [fe10], अँगरेजी **'बीयर'** [bear], प्राचीन चर्च स्लावोनिक **'बेरन'** [beran] को देखिये। इन सभीका अर्थ "मैं ले जाता हूँ" है। इन सभोमें हम समान सूत्र "***भेर्**–" [*bhe1–] की कल्पना कर सकते हैं। विश्वके अन्य भापा-परिवारोमें यह समानता नहीं मिलती।

इस परिवारकी भापाओका विशेप अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इनमें व्याकरणात्मक सबधोको विभक्तियोके द्वारा व्यक्त किया जाता है। एक पदमें प्राय तीन तत्त्व होते हैं, मूल रूप [शब्द या धातु], प्रत्यय, तथा विभक्तिचिह्न। उदाहरणके लिए सस्कृत पद "गच्छता" को हम क्रमशः "**गम्**" [*गच्छ्], "**शतृङ्**" [**अत् < *अन्त**] तथा "**टा**" [**आ**] मे विभक्त कर सकते हैं। इसी तरह सस्कृत के "**दातरि**" तथा ग्रीक "**दोत्रि**" [dot11] मे क्रमशः "**दा**", "**तर्**" [**तृ**] तथा "**इ**" [**ङि**] एव '**दो**' [do], "**तोर**" [tor], तथा '**इ**' [1] इन तीन तत्त्वोको मान सकते हैं। तुर्की तथा द्रविड-परिवारकी प्रत्यय-प्रधान भाषाओं की भाँति यहाँ इन तीन तत्त्वोमें से किसी भी तत्त्वको अलग नहीं किया जा सकता। प्रत्यय प्रधान भाषाओमें प्रत्यय अपना निश्चित रूप तथा अर्थ रखते है, किन्तु यह बात भारत-यूरोपीय भापाओके विपयमें नहीं। यद्यपि क्रियासे बने नाम-शब्दोमें [कृदन्त] प्रत्यय किसी विशेप भावका बोध अवश्य कराते हैं, जैसे ऊपर का "**तर्**" [**तोर्**] प्रत्यय, तथापि यहाँ भी वह "**दातर्**" [**दातृ**] या ग्रीक "**दोतार्**" का अविभाज्य अग ही है। नव्य भारोपीय भापाओमे, अधिकतर भाषाओमे, ये विभक्तियाँ न्यून होती गई हैं। सस्कृतमे जहाँ आठ विभक्तियाँ हैं, वहाँ हिंदी व नव्य भारतीय भाषाओमे दो ही विभक्तियाँ हैं, जिन्हे क्रमशः अविकारी तथा विकारी कह सकते है। ठीक यही बात क्रियाओंके विपयमें कही जा सकती है। सस्कृतके दस [अथवा ग्यारह, यदि लेट्को भी माना जाय तो] लकार आज सकु-

चित होकर किसी भाषामे तीन तथा किसीमे चार रह गये है। ठीक यही बात यूरोपमे ग्रीक तथा लैतिनकी छः विभक्तियोके विषयमे कही जा सकती है, जो फ्रेंच, अँगरेजी आदिमे केवल एक ही विभक्तिके रूपमे देखी जाती है।

उपर्युक्त इन सभी शाखाओंमे व्याकरणात्मक सबध विभक्तियो से व्यक्त किये जाते थे, जिनके रूप प्रायः एक-से होते थे। आदिम भारोपीय भाषामे आठ विभक्तियाँ थीं। इनमेसे कई भाषावर्गोंमे अधिकतर छः ही विभक्तियाँ पाई जाती है। इन भाषाओंके विभक्तिरूपोकी समानताके लिए "वृक" शब्दके द्वितीया बहुवचनको ले लीजिये। स० 'वृकान्', ग्रीक 'लुकोउस' [प्राचीनरूप –लुकोन्स] [lukous→luk-ons] गोथिक 'वुल्फोन्स' [wulf-ons][1], लैतिन 'लुपोस' [lup-os], ये सब समान सूत्र '*व्लृक्' [*wl̥k–] की ओर सकेत करेगे, जिसमे द्वितीया बहुवचनका विभक्ति चिह्न '*ओन्स' [–*ons] लगा हुआ है। पूरा प्राचीन रूप *व्लृकोन्स [*wl̥k-ons] होगा। इस समस्त परिवारकी भाषाओंमे "अ-कारान्त", "आ-कारान्त", अन्य स्वरान्त तथा व्यञ्जनान्त [हलन्त] शब्द पाये जाते है। इन भाषाओंके तिङन्त [क्रिया] रूप भी इसी प्रकार समानान्तर है। क्रियाओंके सबधमे इस परिवारमे एक ऐसी विशेषता है, जो अन्य भाषा-परिवारोमे नहीं। यह विशेषता सस्कृत तथा ग्रीक दोनोमे स्पष्ट है। कई गणोमे तथा प्रायः परोक्षभूते लिट्मे, हम देखते है, कि धातुमे द्वित्व हो जाता है। सस्कृत √ धा–दधाति, दधौ, सस्कृत √ मन्–मम्नाते, √ दा–ददौ। इन्हीं के समानान्तर ग्रीकरूप 'तेथेतइ' [tethetai],[2] 'मेमोन' [memona], 'देदोतइ' [dedotai] को देखिये।

---

१. मिलाइये, अँगरेजी 'वुल्फ' [wolf]. २. ग्रीकमें सघोष महाप्राण ध्वनियां नही हैं। संस्कृतकी सघोष महाप्राण ध्वनि वहाँ अघोष महाप्राण हो जाती है।

भारत यूरोपीय परिवारकी दूसरी प्रमुख विशेषता "अपश्रुति" है, जो अधिकतर जर्मन पारिभाषिक सज्ञा "अब्लाउत" [Ablaut] के रूपमे प्रसिद्ध है। एक ही मूल रूप, कई भाषाओ मे कभी एक स्वरसे युक्त तथा कभी दूसरे स्वरसे युक्त पाया जाता है। इस प्रकारकी अपश्रुतिको "गुणात्मक अपश्रुति" कहते हैं। कभी कभी मूल रूप विभिन्न मात्रावाले [शून्य, ह्रस्व तथा दीर्घ रूप] एक ही स्वर से युक्त रूपो मे पाया जाता है, जिसे "मात्रिक अपश्रुति" कहा जाता है। जैसा कि हम आगे बतायेंगे, सस्कृतमे गुणात्मक अपश्रुति नहीं पाई जाती। सस्कृतसे मात्रिक अपश्रुतिके ये उदाहरण दिये जा सकते हैः—**भारः, भरामि, भृतिः; अश्रौषीत्, श्रोता [श्रोतृ], श्रुतम्** जिनमे एक ही स्वरका क्रमशः दीर्घ, साधारण [ह्रस्व] तथा शून्य रूप पाया जाता है। इन्हींको सस्कृत व्याकरणकी परिभाषामे वृद्धिरूप, गुणरूप, तथा मूल रूप कह सकते हैं। जैसा कि हम आगे बतायेंगे सस्कृत व्याकरणका गुणरूप ही तुलनात्मक भाषाशास्त्रीका मूल स्वर है, तथा उनका मूल रूप तुलनात्मक भाषाशास्त्रीका शून्य रूप [स्वराभावरूप] है। और अधिक स्पष्टीकरणके लिए, हम यह कह सकते है कि प्रथम त्रिवर्गके उदाहरणोमे मूल रूप "**भर्**" [***भर्**] है, जिसमे सस्कृत स्वर "अ" [**आ० भा० यू० *ए**] है। यहीं '**अ**' दीर्घ रूपमे '**भारः**' मे पाया जाता है, '**भृतिः**' मे यह '**अ**' लुप्त हो गया है, अर्थात् इस स्वरका शून्य रूप [zero-vowel] वहाँ पाया जाता है।

इन भाषाओं की इस प्रकारकी समानताएँ इस परिणामकी ओर ले जाती हैं कि ये भाषाएँ किसी एक ही प्राचीन भाषासे उत्पन्न हुई है। यद्यपि इस प्रकारकी कोई भी भाषा विद्यमान नहीं, जिसे इन सब भारोपीय भाषाओकी जननी कहा जा सके, तथापि भारोपीय परिवारकी विद्यमान विभिन्न प्राचीन भाषाओके पारस्परिक सबधके आधारपर इस भाषाकी कल्पना की गई है। कल्पित रूप होनेके कारण इस भाषाके शब्दोंको तारकचिह्नित [Star-formed] रूप मे लिखा जाता है। इस आदिम भाषाके कल्पित रूपने कई विद्वानोंमे यह धारणा उत्पन्न कर दी थी कि ऐसी

भाषा अवश्य रही होगी, जो ग्रीक, लैतिन, वैदिक सस्कृत आदि की जननी थी, किन्तु इस भाषाकी वास्तविक सत्ता मानना निर्भ्रान्त नहीं। यही कारण है कि कई विद्वान् तो आदिम भारोपीय भाषाके अस्तित्वपर ज़ोर देनेवाले पुराने खेवेके जर्मन भाषाशास्त्रियोंको, जो अभिनव वैयाकरण [Neo-grammarians] के नाम से भी प्रसिद्ध है, शुद्ध भाषाशास्त्री न मानकर केवल "तुलनात्मक पदरचनाविद्" मानते है। फिर भी एक दृष्टि से इन कल्पित रूपोका महत्त्व तुलनात्मक भाषाशास्त्रमें अवश्य है। ये रूप एक प्रकारसे सूत्ररूप [Formulae] है, जो विभिन्न सबद्ध भाषाओंके समान रूपोका सकेत करते है, चाहे वे सब रूप इसी सूत्र रूपसे उद्भूत न हुए हो। ग्रीक तथा सस्कृतमें पाई जानेवाली विशेषताएँ इनमें आरभसे ही हैं। यदि दोनो भाषाभाषी जातियोका उद्भव एक ही स्थानपर मान भी लिया जाय, तो ये दो विभाषाएँ थीं, जिनमें अपनी अपनी निजी विशेषताएँ पाई जाती थीं। प्रसिद्ध फ्रेंच भाषाशास्त्री मेये [Meillet] ने इसीलिए इन तारकचिह्नित भारतयूरोपीय रूपोको सूत्र रूप माना है। कुछ विद्वानोके मतानुसार आदिम भारतयूरोपीय रूप भाषाओंके विकासमें बादकी सीढी है। स्टर्टेवन्टके मतानुसार बोगाजकुईके लेखोमें अन्विष्ट हित्ताइत भाषा आदिम भारतयूरोपीयकी पुत्री न होकर भगिनी है, और इस प्रकार वह प्राचीन भारत-हित्ताइत भाषाकी कल्पना करता है, जो काल्पनिक भारोपीय तथा हित्ताइत दोनोकी जननी रही होगी।[1]

प्रसिद्ध रूसी भाषाशास्त्री मारके मतानुसार भारत-यूरोपीय परिवार अलगसे परिवार न होकर काकेशियन भाषाओंसे सबद्ध है। इनके तुलनात्मक आधार पर उसने अपनी अलगसे सिद्धान्तसरणि स्थापित की थी। यह काल्पनिक भाषा-परिवार "जफेतिक" के नामसे प्रसिद्ध है। मारके मतानुसार

---

१. देखिये Sturtevant · Indo-Hittite Laryngeals. Ch I. साथ ही Sturtevant Indo-Hittite ['Language' 1926 Vol II. P 30]

ये लोग परिचित थे, क्योंकि इनके लिए इस परिवारकी प्रायः सभी भाषाओंमें एकसे शब्द पाये जाते है। यथा,

१. स० अविः—ग्रीक ओइस् [ouis], रूसी ओउका कोरोना [ouka Korona] प्रा० भा० यू० *ओविस् [*owis]

२. स० अश्वः—ग्रीक हप्पोस् [heppos], लिथुआनियन अश्व, [as̆va] प्रा० भा० यू० *एक्वोस् [*ekʷos.]

३. स० श्वा (श्वन्)–ग्रीक कुओन् [kuon], लिथु० शुओ [s̆uo] प्रा० भा० यू० *कुनोस् [*kunos].

४. स० गौः—ग्रीक बोउस् [bous], लै० बोस [bos], फ्रेंच बीफ [bœuf], रूसी गोव्याद्दिना [govyadina]; प्रा० भा० यू० *ग्वोवूस् [*gʷou̯s][1]

इन शब्दोके अतिरिक्त कई अन्य वस्तुएँ भी समान नामसे अभिहित की जाती है, जैसे धूम, शहद [मधु], रुधिर, मांस आदि। माता, पिता, भ्राता, भगिनी, दुहिता, देवर, जामाता, पति, श्वशुर, श्वश्रू आदिके नाम भी इनमेसे कई भाषाओंमें समान है। जैसाकि हम आगे देखेंगे, विभिन्न क्रियाओ तथा उपसर्गोंके रूप भी एक ही प्रकारके पाये जाते है।

भारत यूरोपीय भाषाओका अध्ययन करने पर ऐसा पता चलता है कि ये भाषाएँ दो वर्गोंमें बाँटी जा सकती है, जो भिन्न भिन्न आर्योंकी विभाषाएँ रही होगी। इसके पूर्व कि हम इन दो वर्गोंको ले, हमे यह देखना है कि तुलनात्मक भाषाशास्त्रके आधार पर आदिम भारत योरोपीय भाषाका काल्पनिक रूप कैसा माना जाता है।

---

१. भाषाशास्त्रियो के मतानुसार *ग्वोवूस् शुद्ध भा० यू० न होकर सुमेरी [अनार्य] भाषाके "गू" शब्दसे लिया गया है, जिसका अर्थ गाय है।

किसी भी भाषाके अध्ययनको तीन अंगोमे विभाजित किया जा सकता है, प्रथम उसकी ध्वनियोका अध्ययन, दूसरे उसकी पदरचनाका, तीसरे वाक्य-रचनाका। इसके अतिरिक्त एक चौथा भाषाशास्त्रीय तत्त्व और है जिसके अन्तर्गत भाषाके शब्द-कोष तथा अर्थ-प्रक्रिया पर विचार किया जाता है, जो 'अर्थ-विज्ञान' कहलाता है। आदिम भारतयूरोपीय भाषाकी वाक्यरचनाके बारेमे कुछ कहा नहीं जा सकता। शब्दकोष का विचार हम कल्पित रूपोके अन्तर्गत कर ही लेते हैं।

आदिम भारत यूरोपीय ध्वनियाँ:—भारत यूरोपीय परिवारकी विभिन्न शाखाओंके अध्ययनसे भाषाशास्त्रियोंने कल्पना की है कि आदिम भा० यू० भाषामे शुद्ध स्वर सात थे:—अ, आ, ए, ए, ओ, ओ, तथा 'अ' [ə]। अ, ए तथा ओ ह्रस्व स्वर थे, एव अ एक प्रकारका दुर्बल स्वर था। आ, ए, ओ क्रमशः ह्रस्व अ, ए, ओ के दीर्घ रूप थे। जैसा कि हम आगे देखेगे सस्कृतमे भा० यू० स्वर सकुचित हो गये है। ग्रीकमे ये स्वर इसी रूपमे पाये जाते है, हॉ दुर्बल स्वर वहॉ नहीं पाया जाता। ग्रीकमे ह्रस्व अ, ए, ओ तथा दीर्घ आ, ए, ओ दोनों प्रकारके वर्गके सम्पूर्ण छः स्वर हैं किन्तु सस्कृतमे आकर अ तथा उसका दीर्घ रूप आ ही शुद्ध भारोपीय स्वरके रूपमे पाये है। सस्कृतमे आकर आदिम भा० यू० ह्रस्व ए, ओ ने अ का रूप तथा दीर्घ ए, ओ ने आ का रूप धारण कर लिया है। उदाहरण के लिए देखिये :—

सस्कृत भरामि, ग्रीक फेरो [pheɪo] प्रा० भा० यू० *भेर् [*bheɪ]
स० अष्ट, ग्रीक ओक्तो [octo] प्रा०भा०यू० *ओक्तो [*octo]
स० अधात्, ग्रीक ए-थे-के [ethēke] प्रा०भा०यू० *ए-धे- [*e-dhē]
स० ज्ञातः, ग्रीक ग्नोतोस् (gnōtos) प्रा०भा०यू० ग्नतोस् [*gn-tos]

सस्कृत ए, ओ तथा ऐ, औ शुद्ध भारोपीय स्वर न होकर ध्वनियुग्मोसे जनित है इसे हम आगे बतायेंगे। दुर्बल स्वर अ (ə),—जिसे 'श्वा'

(Schwa) कहा जाता है—की कल्पना इसलिए आ०भा०यू०मे की गई है कि जहाँ ग्रीक तथा अन्य भारोपीय भाषाओमे अ स्वर पाया जाता है, वहाँ कई समानान्तर शब्दोंमे भारतेरानी शाखामे इ हो जाता है। यदि आ० भा०यू०मे अ ही माना जाय, तो भारतेरानी शाखामे अ अवश्य होना चाहिए था। उदाहरणके लिए ग्रीक शब्द "**पतेर्** [pater] का समानान्तर सस्कृत शब्द **पितृ** [**पितर्**] है, यह हम देख चुके है। यदि मूल भा० यू० भाषामे अ स्वर होता, तो सस्कृतमे ***पतृ** [**पतर्**] रूप होना चाहिए था, वह नहीं पाया जाता। अतः स्पष्ट है कि इस शब्दमे मूल भा० यू० स्वर अ [a] नहीं था। इसीलिए उसे अ [ə] माना गया है। इस शब्दका भा० यू० मूलरूप ***प्अतेर** [pəter] रहा होगा।

इन शुद्ध स्वरोके अतिरिक्त उस भाषामे छः अन्तःस्थोकी कल्पना की गई है। अन्तःस्थ वे ध्वनियाँ है, जो वस्तुतः व्यञ्जन होते हुए भी कभी कभी स्वरका भी काम करती है। हम देखते है कि स्वर अक्षर [सिलेबिल] की सघटनामे प्रमुख कार्य करते है। इन्हे व्यञ्जनकी आवश्यकता नहीं होती, किंतु इनकी सहायताके विना व्यञ्जनका उच्चारण स्वतन्त्र अक्षरके रूपमे नहीं किया जा सकता। अन्तःस्थ वे अपवादपूर्ण व्यञ्जन है, जो कभी कभी अक्षर सघटना [Syllabic function] मे स्वरका कार्य करते है। आदिम भा०यू० भाषामे **य्**, **व्**, **र्**, **ल्**, **न्**, **म्**, ये छः अन्तःस्थ माने गये है। इन्हींका अक्षर सघटनाकारी स्वर रूप **इ**, **उ**, **ऋ**, **ऌ**, **(अ-) न्**, **(अ-) म्** पाया जाता है। मात्राकी दृष्टिसे इनके रूप ह्रस्व, दीर्घ तथा शून्य तीनो प्रकारके पाये जाते है। व्यञ्जन रूप तथा स्वर रूपके अतिरिक्त ये अन्तःस्थ एक ऐसा भी रूप रखते थे जो स्वर तथा समान व्यञ्जनका युग्म था, इसे हम **इय्**, **उव्**, **ऋर्**, **ऌल्**, **(अ-) नन्**, **(अ-) मम्** मानते है। ये अन्तःस्थ शुद्ध स्वरोके साथ युक्त होकर आ०भा०यू० ध्वनियुग्मोके रूपमे भी पाये जाते थे, यथा अय्, एय्, ओय्, आय्, एय्, ओय् आदि। इसी तरह व्, र्, ल्, न्, म् वाले रूप भी पाये जाते होगे। ह्रस्व मूल स्वरवाले ध्वनियुग्म संस्कृतमे

आकर ए, ओ तथा दीर्घ मूल स्वर वाले ध्वनियुग्म ऐ, औ हो गये हैं। उदाहरणके लिए देखिये:—

स० वेद, ग्रीो० [वो] आइद [(ϝ) oida], गॉ० वइत, जर्मन वेइस
प्रा०भा०यू० *वोय्द [*Woyda]

स० रोचते, ग्री० लेउकोस् (leukos), प्रा०भा०यू० लेवक् [*lewk-etay]

स०अरैक्षम्ग्री०,एलेइप्स[eleipsa,]प्रा०भा०यू०*लेय्क्व [*leyk^{w}-sm̥]

स० द्यौः, ग्रीक जेउस् [प्राचीन रूप, जेउस्] [zeus < zēus]

अगरेजी ट्यूस [Tues, Tues-day] प्रा०भा०यू० *द्येव्स्[*dyēw-s]

स० नौः, ग्रीक नाउस् [nāus], लैटिन नाविस् [nāvis], अँगरेजी
नेवी [navy], प्रा०भा०यू० *नाव्स् [*nāw-s].

व्यञ्जनोकी दृष्टिसे सबसे बड़ी विशेषता, जिसकी कल्पना प्रा०भा०यू० में की गई है, तीन प्रकारकी कवर्ग ध्वनियोका अस्तित्व है। यह तो सभी विभाषाओ मे देखा जाता है कि परवर्ती स्वरसे युक्त कण्ठ्य[1] [कोमल-तालु-जन्य velar] ध्वनि प्रायः उस स्वरसे प्रभावित हो जाती है। उदाहरणके लिए 'क' अक्षर की 'क्' 'ध्वनि कि तथा कु अक्षरकी क् ध्वनि से कुछ भिन्न-सी है। 'इ'के योगसे वह कुछ तालव्य सी तथा उ के योगमें कुछ कण्ठोष्ठ्य सी पाई जाती है। इनका उच्चारण करते समय जिह्वा तत्तत् दशामे अन्तमुखके तत्तत् भागका स्पर्श करती है। 'क'-वर्गकी

---

१. शुद्ध ध्वनिशास्त्री दृष्टिसे 'क' वर्गको कण्ठ्य मानना ठीक नहीं, इसके उच्चारणमें जीभका स्पर्श कोमलतालुसे होता है, अत इसे कोमल-तालुजन्य कहना वैज्ञानिक है। पर कण्ठ्य चल पडनेके कारण हमने दोनों का प्रयोग किया है।

शुद्ध, तालव्य तथा कण्ठोष्ठ्य ध्वनियोंको हम क् [k] क्य् [k̑] क्व् [kʷ] से व्यक्त कर सकते हैं। सुविधाकी दृष्टिसे हम इस क्रमको न लेकर क्य्, क्, क्व् क्रमको लेंगे। जब हम आ०भा०यू०के अन्तर्गत तीन कवर्गोंको मानते हैं, तो हमारा तात्पर्य यह है कि किसी वर्गके साथ किसी भी स्वरका उच्चारण वहाँ पाया जा सकता था। तालव्य 'क्य्' पश्चस्वर (उ, ओ···) से युक्त, तथा कण्ठोष्ठ्य 'क्व्' अग्रस्वर [इ, ए···] से युक्त भी पाया जा सकता था। यद्यपि भा०यू० परिवारकी किसी भी भाषामें ये तीन प्रकारकी कवर्ग ध्वनियाँ नहीं पाई जातीं, तथापि इस परिवारकी भाषाओं मे दो वर्गोंकी स्थितिके कारण यह कल्पना की गई है। शुद्ध कण्ठ्य ध्वनियाँ जहाँ एक वर्गमें तालव्योंमें समाहित हो गई हैं, वहाँ दूसरे वर्गमें कण्ठोष्ठ्य में। भा०यू० तालव्य ध्वनियाँ [क्य् आदि] इन दोनों वर्गोंमें भिन्न रूपसे विकसित हुई हैं। एक वर्गमें ये कण्ठ्य रही हैं, किन्तु द्वितीय वर्गमें ये ऊष्म बन गई हैं। उदाहरणके लिए आ० भा० यू० *क्यम्तोम् [k̑m̥tom] एक वर्गके अन्तर्गत ग्रीक, [हे] क्तोन् [he-kton], लैतिन, केन्तुम् [centum], तोखारी, कंत [kant] के रूप में विकसित हुआ है, जब कि दूसरे वर्गमें संस्कृत, शतम्, अवेस्ता, सतअम् [satəm], प्रा० चर्च स्लॉवोनिक, सूतो (suto), रूसी, स्तो (sto) के रूपमें। इसी आधार पर प्रथम वर्गको हम केन्तुम् वर्ग तथा द्वितीयको शतम् [सतम्] वर्ग कहते हैं। यह नाम "सौ" के लिए विभिन्न भाषाओंमें प्रयुक्त शब्दोंके आधार पर बनाया गया है। जहाँ तक शुद्ध कोमलतालुजन्य [कण्ठ्य] ध्वनियोंका प्रश्न है, जब तक उसका प्रतिरूप शब्द दोनों वर्गोंमें नहीं मिल जाता है, हम उस शब्दका आ०भा०यू० रूप क्या था इसकी कल्पना नहीं कर सकते। उदाहरणके लिए संस्कृत 'कृष्णः' का समानान्तर 'सतं' वर्गकी प्रा० चर्च स्लॉवोनिकमें श्रिनु [s̆rinu] रूप मिलता है, किन्तु केन्तुम् वर्ग का कोई समानान्तर रूप न मिलनेसे हम नहीं बता सकते 'कि 'कृष्ण'

शब्द मूल भा० यू० है या नहीं, साथ ही इसकी पदादिध्वनि, यदि मूल भा० यू० है, तो शुद्ध कण्ठ्य थी या कण्ठोष्ठ्य। यदि दोनों भाषाओंमे समानान्तर शब्द मिल जाते हैं, तथा वह दोनो वर्गोंमे 'क' ही है, तो हम बता सकते हैं कि इसका मूल रूप शुद्ध कण्ठ्य रहा होगा। उदाहरणके लिए स० क्रविः [क्रविस्], ग्रीक, क्रअस् [kreas], लै० क्रुओर् [kruor] के आधार पर हम *क्रेवूअस् [*krewə-s] की कल्पना कर सकते हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे, संस्कृतमे आ० भा० यू० शुद्ध 'क' तथा कण्ठोष्ठ्य 'क्व्' दोनों का विकास एक सा रहा है। ये दोनो ही ए, ए, इ, ई, य् [स अ, आ, इ, ई, य्] के पूर्व 'च' तथा अ आ, ओ, ओ [सं अ, आ] के पूर्व 'क' रूप मे विकसित हुए है। सतम् वर्गमे शुद्ध कण्ठ्य 'क' ही रहा है, तथा आ० भा० यू० कण्ठोष्ठ्य लैतिन तथा जर्मन शाखामे 'क्व' ही बना रहा है, जो ओठो को गोलाकार बनाकर उच्चरित किया जाता है। अँगरेजीकी 'क्वीन' [Queen,] क्विक [Quick] आदिमे यही 'क्व' ध्वनि है, पर वहाँ यह सदा 'उ' स्वर के साथ पाई जाती है। लैतिन तथा जर्मन समानान्तर शब्दोकी संस्कृत आदि सतम् वर्गकी भाषाओंके शब्दोसे तुलना करने पर हम आ० भा० यू० ध्वनिकी प्रकृति बता सकते हैं। ग्रीकमे यह कण्ठोष्ठ्य 'क' अग्रस्वरके पूर्व 'त' तथा पश्च स्वरके पूर्व 'प' हो गया है। उदाहरण के लिए—

स० कः,क्व, चित्, ग्रीक, तो–थेन (सं कस्मात्) [tothen,] ग्रीक, तिस् [tis], लै० क्वो, क्वि [quo, qui], अँगरेज़ी, हू [who] व्हाट [what], →प्रा० भा० यू० *क्वो–, *क्वि– [* $k^{w}o$ –, *$k^{w}i$]।

ध्यान दीजिये संस्कृतका 'क' अँगरेजी 'व्ह' हो गया है। [ग्रिम–नियमके अनुसार क्लैसिकल अघोष् अल्पप्राण 'क' लोजर्मन [अगरेजी आदि] मे महाप्राण [ह] बन जाता है।]

आदिम भारत यूरोपीय भाषामे इन तीन प्रकारके कण्ठ्यवर्गोंके अतिरिक्त

दो और वर्ग थे–दन्त्य तथा ओष्ठ्य। प्रत्येक वर्गमे दो प्रकारकी ध्वनियाँ थीं, एक अघोष [यथा क, त, प], दूसरी सघोष [ग, द, ब]। इनके महाप्राण रूप भी पाये जाते थे। किन्तु महाप्राण रूप केवल सघोष ध्वनियोंके ही पाये जाते थे या दोनोंके, इस विषयमें विद्वानोंमे मतभेद है। अधिकतर विद्वान् आ० भा० यू० मे अघोष अल्पप्राण, सघोष अल्पप्राण तथा सघोष महाप्राण ये तीन ही ध्वनिरूप मानते है। प्रो० प्रोकोस्च तथा हरमन कॉलिजने एक नई सिद्धान्तसरणि प्रकट की है, उनके मतानुसार आ० भा० यू० मे सघोष महाप्राण ध्वनियाँ सर्वथा नहीं थीं किन्तु अघोष महाप्राण अवश्य थीं[1]। हित्ताइतकी खोजने इन महाप्राण ध्वनियोकी समस्या को थोडा बहुत सुलझा दिया है। इसीके आधार पर स्टर्टेवन्टने आ० भा० यू० मे दोनो प्रकारको महाप्राण ध्वनियाँ मानी है, जो वस्तुतः अल्पप्राण ध्वनियो का, प्राचीन भारत-हित्ताइत भाषामे पायी जानेवाली अघोष कण्ठनालिक [Non voiced laryngeals]—[’, x] तथा सघोष कण्ठनालिक [Voiced-laryngeals] (;, ४) के सम्पर्कसे जनित विकसित रूप है।[2] अतः आ०भा० यू० भाषामे चार प्रकारकी ध्वनियाँ प्रत्येक वर्गमे रही होगी।

	अघोष अल्पप्रा०	अ०महा०	स०अल्प०	स० महा०
कण्ठ्य	क [k]	ख [kh]	ग [g]	घ [gh]
तालव्य	क्य [k̂]	ख्य [k̂h]	ग्य [ĝ]	घ्य [ĝh]
कण्ठोष्ठ्य	क्व [kʷ]	ख्व [khʷ]	ग्व [gʷ]	घ्व [ghʷ]
दन्त्य	त [t]	थ [th]	द [d]	ध [dh]
ओष्ठ्य	प [p]	फ [ph]	ब [b]	भ [bh]

१. Language. (American linguistic Journal) 1926, Vol II. P. 178.

२. Sturtevant : Indo–Hittite Laryngeals. ch. V. pp. 66 and following.

आदिम भारत यूरोपीय भाषाकी दोनों प्रकारकी महाप्राण ध्वनियोंको संस्कृतने अक्षुण्ण बनाये रक्खा है। ग्रीकमे जाकर महाप्राण सघोष ध्वनियाँ केवल अघोष महाप्राण ख, थ, फ, [kh, th, ph] रह गई हैं। ईरानी, जर्मन तथा बाल्तोस्लाविकमे सघोष महाप्राण ध्वनियाँ, सघोष अल्पप्राण ग, द, ब हो गई हैं। लैतिन तथा केल्तिकमे इनमेसे कुछ सोष्म रूप हो गई है। जैसा कि हम अगले परिच्छेदमे देखेंगे आ०भा०यू० ख थ फ ध्वनियाँ ईरानीमे भी सोष्म ख़, थ़, फ़ हो गई है। आ०भा०यू०मे एक ही पदमे एक साथ दो महाप्राण ध्वनियाँ पाई जाती थीं, किन्तु ग्रीक तथा संस्कृत आदिमे आकर प्रथम ध्वनिकी प्राणता लुप्त हो जाती है।[1] संस्कृतसे दधार, बभूव, बुभोज, चखाद, जघान, आदि कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ ग्रीकमे आ० भा० यू० की प्रायः सभी स्वर ध्वनियाँ विद्यमान हैं, वहाँ व्यञ्जन ध्वनियोंकी दृष्टिसे संस्कृत, आ० भा० यू० भाषाका सच्चा प्रतिनिधित्व करती है।

इन ध्वनियोंके अतिरिक्त आ० भा० यू०मे एक सोष्म ध्वनि स भी थी। यह ध्वनि उस भाषामे परिस्थित्यनुकूल अघोष तथा सघोष [ज़] दोनों रूपोमे पाई जाती थी। ग, द, ब आदि सघोष ध्वनियोके पूर्व होने पर यह सघोष ज के रूपमे उच्चरित होती थी। ज़ का यह रूप अवेस्तामे मिलता है, जब कि अघोष स ध्वनि वहाँ ह हो गई। संस्कृतमे स का अघोष रूप ही पाया जाता है। ग्रीकमे पदादि ध्वनि स, ह हो गई है, किन्तु पदमध्य या पदान्तमे वह 'स' ही रही है। लैतिनमे पदमध्य स ध्वनि 'रेफ' [र] हो गई है। इस सिद्धान्तके विभिन्नभाषीय उदाहरण यथावसर संस्कृत ध्वनियोका विवेचन करते समय दिये जायँगे। आ० भा० यू०मे दो प्रकारकी शुद्ध प्राणध्वनि —एक अघोष 'ह' ध्वनि तथा दूसरी सघोष 'ह' ध्वनि—रही होगी। स्वय

---

१. यही सिद्धान्त "ग्रासमानके उपनियम" [Grasmann's Corollary] के नामसे भाषाशास्त्रमें प्रसिद्ध है।

संस्कृतमें ही दोनो प्रकारकी प्राणध्वनि मिलती है—अघोष शुद्ध प्राणध्वनि "विसर्ग" [:] के रूपमें, सघोष प्राणध्वनि ह के रूपमें।

हिन्द-हित्ताइत ध्वनियाँ :—स्टर्टेवन्ट तथा और भी दूसरे विद्वान् आ० भा० यू० भाषाके पहले भी आदिम भारत-हित्ताइत या आदिम हिन्द-हित्ताइत [Proto Indo-hittite] भाषाकी कल्पना करते है। ईसा पूर्व १४ वी शताब्दीके हित्ताइत साम्राज्यके इष्टिकालेख जो तुर्कीके बोगाज-कुई स्थानसे प्राप्त हुए है, एक और आर्य भाषाका सकेत करते है, जिसे हित्ताइत नाम दिया गया है। यह भाषा, कल्पित आ० भा० यू० की बहिन मानी जाती है, और इस तरह एक द्वितारकचिह्नित [Double-starred] भाषाकी कल्पना करनी पडती है। यहाँ सक्षेपमे इस कल्पित हिन्द हित्ता-इत भाषाकी ध्वनियोका सकेत कर देना अनावश्यक न होगा।

स्वर :—ऍ [è], ए [ē], ऑ [ò], ओ [ō], तथा ɐ [अ] [यह स्वर हीन [unaccented] ऍ [è] का रूप था]।

[विद्वानोके मतानुसार इन पाँचों स्वरध्वनियोका मूल ऍ [è] ध्वनि ही थी, सब उसीसे विकसित हुए थे।]

अन्तःस्थ—य [y], व [w], र [r], ल [l], न [n], म [m]

कण्ठनालीय ध्वनि— , , , x, ४.

[प्राणध्वनि—अघोष ह [h̯ h̯] तथा सघोष ह [h̯]–ये दोनो अलग से ध्वनियाँ न होकर क्रमशः x तथा ४ के रूप थी।]

स्पर्शव्यञ्जन—क [k], त [t], प [p], ग [g], द [d], ब [b], घ [gh], ध [dh] , भ [bh]

सोष्म—स [s] .

इन ध्वनियोमें चार कण्ठनालीय ध्वनियोका विशेष महत्त्व है। इनमे द्वितीय तृतीय अघोष कण्ठनालीय ध्वनियाँ है, इतर दो सघोष कण्ठनालीय।

प्रथम दो का वास्तविक अस्तित्व नहीं है, केवल कल्पनाके आधारपर उनकी सत्ता सिद्ध है।

१. ,—कण्ठनालीय ध्वनिकी सत्ता निषेधात्मक है। कई स्थान पर आ० भा० हि० ए—अ के रूपमे परिवर्तित नहीं होते। इसके कारण स्वरूप वहाँ इस सघोष कण्ठनालीय ध्वनिका अनुमान किया गया है। जैसे—

हि० ऍप्प [epp–] [ले जाना], सं० आप्नोति, आ० भा० यू० *'एप्' [*ēp–]—आ० भा० हि०**'e' p [? ए ? प]

हि० ऍस [बैठना], सं० आस्ते, ग्रीक हेस्ताइ [hestaı], आ० भा० यू० *एस्* [ēs–], आ० भा० हि० **'e's [? ए ? स्]

२. , कण्ठनालीय ध्वनि भी निषेधात्मक है। यह ध्वनि भी लुप्त हो गई होगी। कई स्थलोमे हित्ताइत अ लैतिन, ग्रीक तथा केल्तिकमे अ ही पाया जाता है। इसके आधारपर स्विस भाषाशास्त्री फर्दिनॉद द सोस्यूर [Ferdınand de Saussure] ने यह अनुमान किया कि आदिम भाषा-मे कोई 'अ-रंजित' [a-coloured] कण्ठनालिक ध्वनि रही होगी। यह ध्वनि ऍ को अ बना देती होगी। जैसे, 'हित्ता० मेम–इ' [mema-ı] [कहना], संस्कृत. मन्यते [याद करना]।

३. x—यह ध्वनि अघोष थी तथा ऍ को अ के रूपमे परिवतित कर देती होगी। हित्ताइतमे इसका रूप h̯ [h̯] पाया जाता है जैसे हि० neh̯h̯ı [नेहि] [मैं ले जाता हू], भा० हि०** ne'ıxa. सं. नयामि

इस ध्वनिका पता कुरिलोवित्स ने चलाया था।

४. ४ यह सघोष कण्ठनालिक ध्वनि थी, इसका अस्तित्व हित्ताइतमें स्पष्ट है। हिताइतमे इसका h̯ रूप पाया जाता है। यह स्वय हित्ताइत भाषामे ऍ के बाद अव्यवहित रूपमे प्रयुक्त होती है। ४ इस प्रकार x का सघोष रूप है। यथा,

हि० मेहुर् [mehur] [समय], सं० मतिः, मिमाति, मात्रं, मितः; ग्रीक मेतिस् [metis] [बुद्धि] मेत्रोन् [metron] [माप] लै० मेतिओर [metior] [माप], गॉथिक मेल [mel) [समय], भा० हि०** मेर् [**mer–].

इन चार कण्ठनालिक ध्वनियोंके अन्वेषणका महत्त्व इसलिए है कि इसने एक ओर आ० भा० यू० भाषाकी स्वर-ध्वनियोंकी समस्याको, दूसरी ओर उसकी महाप्राण ध्वनियोंकी समस्याको सुलझाया है।

आदिम भारत यूरोपीय पद-रचना—भाषाशास्त्रके दूसरे तत्त्व पद-रचनाको लेते हुए हम देखते है कि संस्कृत आ० भा० यू० रूपोंका पूर्ण-रूपसे प्रतिनिधित्व करती है। आ० भा० यू० सुप् विभक्तियॉ प्रथम या तो किसी द्रव्य तथा क्रिया अथवा द्रव्य तथा द्रव्य [यथा षष्ठी, रामस्य पुत्रः, मे] के पारस्परिक संबंधको तथा दूसरे, द्रव्यके वचनको व्यक्त करती थीं। इस प्रकार ये विभक्तियॉ क्रमशः कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, संबंध, अधिकरण एवं सम्बोधन कारकको व्यक्त करती है, जिन्हें हम संस्कृतके ढंग पर चाहे तो प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी तथा संबोधन कह सकते है। वचनकी दृष्टिसे ये विभक्तियॉ एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचनमे विभक्त थीं। इस परिवारकी समस्त भाषाओंमें ये आठ विभक्तियॉ तथा तीन वचन केवल संस्कृत भाषामें ही उपलब्ध है। इसमें भी ध्यान देने पर पता चलेगा कि यद्यपि संस्कृतमें द्विवचन पाया जाता है, तथापि यहॉ आठों विभक्तियोंके द्विवचनमें तीन ही रूप पाये जाते है, यथा, रामौ [कर्त्ता, कर्म, संबोधन द्वि-व०], रामाभ्याम् [करण, सम्प्रदान, अपादान द्वि०] रामयोः [संबंध, अधिकरण द्वि०]। इससे स्पष्ट है कि संस्कृतमें भी द्विवचन विशेष संकुचित रूपमें पाया जाता है। अन्य भाषाओंमें प्राचीन ग्रीकमें यह पाया जाता है[1], किन्तु लैतिनमें लुप्त हो गया है। प्राचीन चर्च स्लावोनिक एवं लिथुआ-

१. देखिये परिशिष्ट अ में संस्कृत, ग्रीक व लैतिन शब्दोंके रूप।

नियनमें यह अवश्य पाया जाता है, किन्तु अत्यधिक संकुचित रूपमें। जर्मनीय वर्गकी प्राचीन भाषा गॉथिकमें द्विवचन केवल सर्वनामके रूपोंमे पाया जाता है। विभक्तियोंकी संख्या भी संस्कृतमें आठ है, ग्रीक तथा चर्च स्लावोनिकमें छः, गॉथिकमें केवल चार ही।

सुप् विभक्तियोंके चिह्नोंकी ओर आते हुए हम देखते हैं कि इन कई भाषाओंमें ये चिह्न एक-से हैं। उदाहरणके लिए प्रथमा विभक्ति एकवचनका चिह्न *'स्' [संस्कृत सुप्], द्वितीया एकवचनका *'म्' [सं०, अम्], तथा षष्ठी बहुवचनका *ओम् [जो संस्कृतमें ध्वनिनियमसे 'आम्' हो गया है, जैसे रामाणाम्में] ले लें। इनमें संस्कृत वृक शब्दके क्रमशः वृकः, वृकम्, तथा वृकाणाम् रूप होंगे, जिनके आ० भा० यू० रूप *व्लृकास् [wl̥kos], *व्लृकम् [wl̥km̥], तथा *व्लृकोम् [wl̥kom] रहे होंगे। इसी प्रकार संस्कृतके 'भ' व्यञ्जन ध्वनिवाले विभक्तिचिह्न भ्याम्, भिस्, भ्यस् भी आ० भा० यू० से ही जनित हैं। यह 'भ' संस्कृत, लैतिन तथा आर्मानियनमें पाया जाता है, किन्तु जर्मन तथा बाल्तो-स्लाविकमें यह 'म' हो गया है।

सं० भ्यस् [भ्य.], लैतिन, बुस् [bus], गॉथिक, म् [m] [सम्प्रदान बहुव०, [Dative plural], लिथुआ० मुस् [mus] आ० भा० यू०—*भ्यस् [*bhyas]। ग्रीकमें आकर यह *भ, फ हो गया है, किन्तु ग्रीकमें संस्कृत भिस्-भ्यस् के समानान्तर रूप केवल होमरकी भाषामें ही पाये जाते हैं, बादकी साहित्यिक ग्रीकमें नहीं। होमरमें हमें "नाउफि" [nauphi] रूप मिलता है, जो संस्कृतके नौभिः के समानान्तर है। इतना होते हुए भी एक ओर कुछ भाषाओंमें भ तथा दूसरी भाषाओंमें म पाये जानेसे यह भ-मकी समस्या पूरी नहीं सुलझती। यही कारण है कि करण, सम्प्रदान तथा अपादानमें कई विद्वानोंने आ० भा० यू० में *म-वाले तथा *भ-वाले दो

तरहके द्विवचन, बहुवचन रूप माने है।[1] इस प्रकारकी कल्पना की गई है कि इन दोनोंमें आ० भा० यू० –*म चिह्न सज्ञाओंमें (विशेषणोंमें भी) पाया जाता था, तथा–*भ चिह्न सर्वनामोंके रूपोंमें। किन्तु बादमें जाकर सादृश्यके आधारपर कुछ भाषाओंमें सभी रूप म– वाले हो गये, तो कुछमें सभी भ–वाले। संस्कृतके तृतीया, चतुर्थी तथा पञ्चमीके द्विवचन तथा बहुवचनमें यह 'भ' [–भ्याम्,–भिस्,–भ्यस्] है।

वेदमें प्रथमा विभक्तिके बहुवचनके रूप "–आसस्" से भी बनते हैं, यथा "देवासः"। मेयेके मतानुसार जिन शब्दोंके मूल रूपोंमें *ए, *आ स्वर पाये जाते थे, उनके प्रथमा बहुवचनको अन्य मूल रूपोंवाले शब्दोंके समान अक्षरसख्यावाले बनानेके लिए, वैदिकमें "आस्" को "आसस्" बना दिया गया था। उदाहरणके लिए संस्कृत द्व्यक्षर [disyllabic] शब्द "देव" के बहुवचन "देवाः" को, जो द्व्यक्षर है, "अहि" जैसे इकारान्त या "विष्णु" जैसे उकारान्त शब्दोंके प्रथमा बहुवचन अहयः या विष्णवः के सादृश्यके आधारपर त्र्यक्षर [Trisyllabic] शब्द बनाकर "देवासः" रूप दे दिया गया। इस मतने एक बातकी और पुष्टि की कि संस्कृतके कई इकारान्त तथा उकारान्त शब्द भी आ० भा० यू० जनित माने जा सकते है।

सुप् विभक्तियोंकी भाँति संस्कृतकी तिङ् विभक्तियाँ भी आ० भा० यू० भाषाकी तिङ् विभक्तियोंका रूप देनेमें पूर्णतः समर्थ है। इसके लिए पहले हमें यह समझ लेना होगा कि आ० भा० यू० क्रियाओंके रूपोंका साक्षात् सबध व्यापार-विशेषके कालसे न होकर उस व्यापार-विशेषके प्रकारसे था। भूतकालको द्योतित करनेवाले आ० भा० यू० *ए के सिवाय, जो ग्रीक, संस्कृत तथा अवेस्तामें पाया जाता है, अन्य कोई भी चिह्न ऐसा नहीं

१ Meillet Introduction et L'etude Comparative de Langues Indo europeennes pp. 259–60 also Wackernagel Altindische Grammatik Vol. 3 P. 13. § 4 [h].

है, जो आ० भा० यू० क्रिया रूपोको किसी काल विशेषसे सीमित करता हो। उदाहरणार्थ, संस्कृतके '[परोक्षभूते] लिट्'को ले लीजिये, जो परोक्षरूपमें अपूर्ण व्यापारके लिए प्रयुक्त होता है, वेदमें यह भूतकालके लिए प्रयुक्त न होकर क्रियाके प्रकार-विशेषका ही बोध कराता है, जैसे "**स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम**" इस ऋचर्धमें "**दाधार**" का अर्थ "**अधारयत्**" न होकर "**धारयति**" है। वैदिक संस्कृतकी भाँति इसके समानान्तर रूपोंका प्रयोग होमरकी ग्रीकमें कालसीमित न होकर प्रकार-बोधक ही है। किन्तु बादमें जाकर ये क्रियारूप वहाँ भी साहित्यिक [लौकिक] संस्कृतकी भाँति कालसीमित हो गये हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि आ० भा० यू० भाषा बोलनेवाले "वीरोस्" आर्य भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्के कालभेदसे पूर्णतः परिचित न थे। सभ्यताके विकासके कारण धीरे-धीरे वे इनके भेदसे परिचित हो गये, किन्तु इनके अभिव्यंजनके लिए वे उन्हीं क्रिया रूपोका प्रयोग करते थे, जिनका व्यापार मूलरूपमें भिन्न था। इस प्रकार हम देखते है कि मौलिक रूपमें आ० भा० यू० क्रियाओंकी पद्धति लौकिक संस्कृतकी क्रियापद्धतिसे सर्वथा भिन्न है, किन्तु यह भेद उनकी अर्थ-सम्बधिनी [सिमैंटिक] विशेषतासे सबद्ध है।

सर्वप्रथम हम आ० भा० यू० क्रिया रूपोको निर्देशात्मक [Indicative] हेत्वात्मक [संस्कृत हेतुहेतुमत्], [Conditional or subjunctive] विध्यात्मक [Optative] तथा आज्ञात्मक [Imperative] इन कोटियोंमें विभक्त कर सकते है। निर्देशात्मक कोटिमें दो काल माने जा सकते है—भूत तथा वर्तमान। भूतकालका द्योतक [पुरः सर्ग] *ऍ [सं० अ, ग्रीक ἐ [e]] क्रियाके मूल रूपके पहले जोड दिया जाता था। संस्कृत अदिशत् तथा ग्रीक ἔδειξε [एदेको] मे इसे देखा जा सकता है। वर्तमानके संस्कृत 'लट्' तथा [परोक्षभूते] लिट् दोनोंमें समानान्तर रूपोका प्रयोग किया जाता था। हेत्वात्मक तथा विध्यात्मकमें धातु तथा तिङ् विभक्तिके बीचमें *ए-,

*,-ओ, तथा -'*य् ए'-,*इ-को जोड़ दिया जाता था। आज्ञा रूपोके लिए कोई विशेष प्रकारका चिह्न नहीं था। कभी कभी कोरा धातु रूप ही आज्ञात्मक रूपमे प्रयुक्त होता था, इसका सकेत हम सस्कृत लोट्के मध्यम पुरुष एकवचनके रूप '**भर**', '**पठ**' आदिसे पा सकते है। आ० भा० यू० भाषामे सस्कृतकी भॉति कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य दो रूप रहे होगे। कर्तृ-वाच्य पुनः सस्कृतकी भॉति ही परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी इन दो रूपोमे पाया जाता होगा। ग्रीकमे भी परस्मैपदी [एक्टिव वॉयस], आत्मनेपदी [मिडिल वॉयस] तथा कर्मवाच्य [पेसिव वॉयस) ये तीन रूप पाये जाते है। इनमे परस्मै तथा आत्मने दोनो प्रकारके पदोके भिन्न प्रकारके तिङ् विभक्ति-चिह्न थे। उन्हींसे बादके विभक्ति चिह्न विकसित हुए है। ये विभक्तिचिह्न पुनः दो प्रकारके माने जा सकते है :—मुख्य तथा गौण। मुख्य चिह्नोका प्रयोग वर्तमान [निर्देशात्मक] तथा हेतुहेतुमत्के साथ होता था। जब कि गौण तिङ् विभक्तिचिह्न अपूर्ण भूत, लिट् [जो आ० भा० यू० मे वर्तमानमे प्रयुक्त होता था], तथा विध्यात्मक रूपोमे जोडे जाते थे। सस्कृतके कई तिङ् विभक्तिचिह्नोको हम आ० भा० यू० का ही विकसित रूप पाते है, यथा—

सं०-मि,-ए	आ० भा० यू०	*मि [mi],*अइ [ai] [सं० भरामि, ददे]
,,-सि,-से	,,	*सि [si], *सइ [sai] [सं० भरसि, दत्से]
,,-ति,-ते	,,	*ति [ti] *तइ [tai], अइ [ai] [भरति, दत्ते]
,,-मः,-महे	,,	*मेस् *मोस् [*mes,*mos], *मेधे [*medhe-] [भरामः, दद्महे]
,,-थ,-ध्वे	,,	*ते [te] * × [भरथ, दध्वे]
,,-अन्ति,-न्ते	,,	*एन्ति [-न्ति] *[enti,-nti] *न्तइ [*-ntai] [भरन्ति, भाषन्ते]

इसे और स्पष्ट करनेके लिए हम यहाँ नीचेके चतुरस्रमें आ० भा० यू०, ग्रीक व संस्कृतके वर्तमान निर्देशात्मक रूपोंको सोदाहरण स्पष्ट कर देते हैं—

तिङ् चिह्न, वर्तमान; कर्तृवाच्य, परस्मैपदी

आ० भा० यू० तिङ् चिह्न	संस्कृत रूप	ग्रीक रूप
*भेर् [bher-] एकवचन	भृ-[भर्]	फेरो [phero]-[ले जाना]
उ० पु०		
*मि [*mi], ओ [o]	भरामि	फेरो [phero]
म० पु०		
*सि [*si]	भरसि	फेरइस् [phereis]
अ० पु०		
*ति [*ti]	भरति	फेरइ [pherei]
बहुवचन		
उ० पु०		
*मेस्, मोस् [mes, mos]	भराम	फेरोमेस् [pheromes]
म० पु०		
*ते [te]	भरथ	फेरेते [pherete]
अ० पु०		
*एन्ति, ओन्ति,–न्ति [enti, onti,–nti]	भरन्ति	फेरो-न्ति [pheronti]

आदिम भारत-यूरोपीय भाषामे भविष्यत् सर्वथा नहीं था। इसकी व्यंजना निर्देशात्मक वर्तमानके द्वारा ही कराई जाती थी· जैसे "मैं जाऊँगा" के लिए "मैं जाता हूँ" का प्रयोग। कभी कभी हेतुहेतुमत्के द्वारा भी भविष्यत्की व्यंजना कराई जाती थी। इसके रूप होमरकी भाषामें पाये जाते है। भविष्यत्की व्यंजनामें एक तीसरे प्रकारका प्रयोग भी मिलता है, जहाँ धातु तथा वर्तमानके तिङ् चिह्नोंके बीच कभी कभी 'स्' जोड दिया जाता था। ग्रीक तथा संस्कृतके भविष्यत् रूप वर्तमानमे इसी 'स्' [स्य] को जोड कर बनाये जाते है। यथा सं० **भरामि-भरिष्यामि** [* **भरिस्यामि**], ग्रीक **फरो** [phe10, I bear] **फरसो** [phe1so I shall bear], जो प्राचीन भारतयूरोपीय रूप* **भेर्-स्-मि** [ओ] [*bhe1-s-m1 (-o)] की ओर संकेत करते हैं। लौकिक संस्कृतमें आकर ये चार विधियाँ [moods] तथा दो काल [tenses] ही तीन काल तथा दस लकारोंके रूपमें विकसित हो गये हैं।

भाषाशास्त्रियोंने तुलनात्मक अध्ययनके आधारपर इस काल्पनिक भाषा-की ध्वनियाँ, तथा पदरचनाका तो पता लगा लिया है, किन्तु वाक्यरचनाके आनुमानिक रूपकी पुनःसृष्टि [Reconstruction] करनेमें वे समर्थ नहीं हुए हैं। यह सफलता तभी हो सकती है जबकि इस परिवारकी विभिन्न भाषाओंकी वाक्यरचनाके तुलनात्मक अध्ययनके आधारपर तारक-चिह्नित शब्दोंसे निर्मित काल्पनिक वाक्योंकी रचना की जाय। वैसे कुछ विशेषताओं-का पता भाषाशास्त्रियोंने लगाया अवश्य है। ये विशेषताएँ ऋग्वेदके मंत्रोंकी पदरचनामें पाई जाती हैं। ऋग्वेदके मन्त्रोंमें प्रायः सर्वनाम-वाक्यमें द्वितीय स्थानपर प्रयुक्त होते थे, यद्यपि कभी कभी इस प्रकारका प्रयोग संदिग्धता भी पैदा कर सकता है। जैसे "ने न **मेऽग्निर्वैश्वानरो मुखान्निष्पद्याते**" जिसमें "**मे**" का अन्वय **अग्निः** के साथ होनेका संदेह होता है, यद्यपि उसका संबंध **मुखात्** से है। इसका अर्थ यों हैः—"अतः अग्नि वैश्वानर मेरे मुखसे बाहर न गिरे।" इस विशेषताका सन्तोषजनक कारण तो पता

नहीं, किन्तु जर्मन विद्वान् वाकेरनागेलके मतानुसार यह विशेषता ग्रीक तथा अन्य भा० यू० भाषाओंमें भी पाई जाती है। सभव है, यह आ० भा० यू० भाषाकी वाक्यरचनात्मक विशेषताओंमेंसे एक रही हो।

जहाँ तक इस परिवारकी भाषाओंके आदिम शब्दकोषका प्रश्न है, सभ्यता के उष:कालमें प्रयुक्त शब्द प्रायः इन सभी भाषाओंमें एक-से पाये जाते हैं। पिता, माता, भ्राता, भगिनी, दुहिता, जामाता, उदक, आपः, अग्नि, जनिता, दमा आदिके समानान्तर शब्द अन्य भा० यू० भाषाओंमें भी मिल जाते है। सबसे बड़ी विशेषता, जिसका अनुमान आ० भा० यू० भाषाकी सज्ञाओंके लिंगके विषयमें किया जा सकता है, यह है कि वहाँ पुल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुसकलिंगका विभाजन पुरुष, स्त्री या अचेतन पदार्थसे सबद्ध नहीं था, अपितु लिंग तत्तद्भावका बोधक था, जो किसी भी व्यक्ति या वस्तुकी किसी विशेषतासे सबद्ध था। हम देखते है कि सस्कृत 'दार' शब्द पुलिंग है, साथ ही बहुवचन भी, इसी तरह कलत्र तथा मित्र नपुसक है।

इस प्रकार हमने वैदिक सस्कृत तथा ग्रीक जैसी भारत यूरोपीय परिवारकी समस्त भाषाओंकी कल्पित जननीके भाषाशास्त्रीय रूपका सक्षिप्त अध्ययन किया। यद्यपि भाषाओंके पारस्परिक सबधको व्यक्त करनेके लिए माता, पुत्री, पौत्री, भगिनी, मातृष्वसा आदि औपचारिक शब्दोंका प्रयोग किया जाता है, तथापि शुद्ध भाषाशास्त्रीय अध्ययनकी दृष्टिसे इस प्रकारके औपचारिक शब्दोंसे बचना ही श्रेयस्कर है। वैसे हम स्वय भी परम्परागत रूपमें इस प्रकारकी औपचारिक पदावलीका प्रयोग इसी परिच्छेदमें कर चुके है। शास्त्रीय दृष्टिसे भाषाओंका जीवन 'विकासवाद' से अत्यधिक प्रभावित है। जिस प्रकार प्राणिशास्त्रके मतानुसार प्राणी [जन्तुविशेष] विकसित होकर विभिन्न स्थितियोंसे गुजरता है, ठीक उसी प्रकार भाषा भी उत्पन्न न होकर विकसित होती है। प्राकृत, वैदिक सस्कृतकी पुत्री न होकर वस्तुतः किन्हीं परिस्थितियोंके कारण उसका ही परिवर्तित या विकसित रूप है। कुछ विद्वान् इस 'विकास' को 'ह्रास' सज्ञा देते है। किन्तु भाषाका ह्रास

न होकर विकास ही होता है। इस विकासके नियामक तत्त्व भौगोलिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियाँ है, जो किसी भाषाकी ध्वनि, पदरचना, वाक्यरचना तथा शब्दकोषमे परिवर्तन करती है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह भाषा उस पूर्व रूपसे सर्वथा भिन्न है। वस्तुतः वह उसीका विकसित रूप है। भाषाके वास्तविक मूल तत्त्व उसमे भी ठीक उसी रूपमे विद्यमान हैं। हम यो कह सकते है कि भाषाके विकसित रूपोके संबधमे साख्य दर्शनका परिणामवाद या सत्कार्यवाद वाला सिद्धान्त मानना अनुचित नहीं होगा। प्राचीन सस्कृत विद्वान् भाषामे विकास न मानकर ह्रास मानते है। प्राकृत तथा अपभ्रशको वे सस्कृतका 'पतित' रूप मानते है। इसीलिए कान्यकुब्जेश्वर गोविदचंद्रके राजपण्डित दामोदर भट्टने अपने समयकी अपभ्रश [प्राचीन कोसली अवधी[1]] के द्वारा राजकुमारोको सस्कृत सिखानेके लिए बनाये गये ग्रन्थ "उक्तिव्यक्तिप्रकरणम्" मे लिखा है "हम थोड़े से परिवर्तनोसे ही अपभ्रश [देशभाषा] को संस्कृत बनाते है। यह [देशभाषा] ठीक उसी प्रकार सस्कृत बन जायगी जैसे कि पतित ब्राह्मणी प्रायश्चित्त करनेपर पुनः ब्राह्मणी बन जाती है।"[2]

पर फिर भी शुद्ध भाषा वैज्ञानिक दृष्टिसे किसी भाषाको भ्रष्ट, पतित या ह्रासोन्मुख कहना अवैज्ञानिक ही माना जायगा।

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीका मत है कि यह 'कोसली अवधी' न होकर प्राचीन भोजपुरी है। किन्तु डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्याने, जो इस ग्रंथके सम्पादक हैं, अपनी विस्तृत भूमिकामें इसे प्राचीन कोसली अवधी ही कहा है।

२. पतिता ब्राह्मणी कृतप्रायश्चित्ता ब्राह्मणीत्वमिति चेति।

—उक्तिव्यक्तिप्रकरणम् पृ० ३

यो यथा पुथ्र‌अम् तउरुन‌अम् हओम‌अम् वन्दएता मश्यो ।
[yo yaθa puθrəm taurunəm haoməm wandaeta maš́yo.]
फ्र आव्यो तनुव्यो हओमो वीसइते बएशजाइ ॥
[φra abyo tanubyo haomo wisaite baeš́azai]
इस गाथाको हम वैदिक संस्कृतमें इस प्रकार परिवर्तित कर सकते हैः—

यो यथा पुत्रं तरुणं सोमं वन्देत मर्त्यः ।
प्र आभ्यः तनुभ्यः सोमो विशते भेषजाय ॥

यहाँ हम देखते है कि दोनोमें वास्तविक भेद ध्वन्यात्मक ही है ।

ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे भारतेरानी [Indo-Iranian] शाखाकी इन दोनों भाषाओंमें प्राचीन भारत-यूरोपीय *ए, *ओ, *अ, का भेद नहीं रहा है । यहाँ आकर ये सभी अ तथा इनके दीर्घ रूप आ हो गये हैं । ग्रीक भाषामें इनका भेद बना रहा है । अतः यह स्पष्ट है कि यह परिवर्तन वैदिक आर्य तथा ईरानियोंके पूर्वजोंके द्वारा बोली जानेवाली प्राचीन भारत-ईरानी विभाषामें ही हो गया था । इस प्रकार ग्रीक एपि पेतेतइ [epi petetai] संस्कृतमें तथा अवेस्तामें क्रमशः [सं०] अपि पतति; [अवे०] अइपि अ-पत-त् [aipi a-pata-t] मिलेगा । प्रा० भा० यू० *अ इस शाखामें भी अ ही बना रहा है, यथा ग्रीक अक्मोन [akmon], सं० अश्मन्, अवे० अस्मन् । अ की इस प्रकारकी बहुलताके कारण पहले ऐसा सोचा जाता था कि संस्कृत तथा अवेस्ताने प्रा० भा० यू० रूपोंको अपरिवर्तित रूपमें सुरक्षित रक्खा है, तथा ग्रीकमें यही 'अ' बादमें जाकर त्रिरूप [अ, ए, ओ] हो गया है, किन्तु जैसा कि हम प्रा० भा० यू० के तीन कण्ठ्योंके विकासमें देखते हैं, इन त्रिरूप स्वरोंका बड़ा हाथ है । अतः उस मतको छोड़ देना पड़ा तथा प्रा० भा० यू० में तीनों ह्रस्व स्वरों—*अ, *ए, *ओ की सत्ता माननी पड़ी । जहाँ भी ग्रीक तथा लैतिनमें कण्ठ्य ध्वनिके

बाद 'ए' पाया जाता है, वहाँ 'सत' वर्गकी भाषाओंमें तालव्य रूप [श, छ आदि] मिलता है। यह तालव्यीभाव हिन्द-ईरानी शाखामें इ [य्] के पूर्व ही पाया जाता है, जैसे सं० ओजीयस्, किन्तु सं० उग्र, अवेस्ता ट्रओज़िश्त, किन्तु ट्रओग—[सं० द्राघिष्ठ][1]। अतः यह कल्पना की गई कि वास्तविक रूपमें तालव्यीभावकारी भारत-ईरानी अ, इ-रंजित [i-coloured] था, अर्थात् प्रा० भा० यू० रूपमें यह *ए था। इसी आधारपर यह मत स्थापित किया गया कि प्रा० भा० यू० स्वरोंको ग्रीकने सुरक्षित रक्खा है, जब कि संस्कृत तथा अवेस्तामें ये सभी स्वरध्वनियाँ नहीं पाई जातीं।

यद्यपि भारत-ईरानी अ प्रा० भा० यू० *ए, *ओ *अ तीनोंसे निकला है, तथापि इसका एक अपवाद पाया जाता है। प्रायः प्रा० भा० यू० *ए, ओ, *अ संस्कृत तथा अवेस्तामें अ हो जाते हैं, किन्तु वे ह्रस्व त्रिस्वर, जो ग्रीकमें इनके दीर्घ स्वर ए, ओ, आ के अपश्रुतिजनित रूप हैं, भारत-ईरानी वर्गमें अ न होकर इ होते हैं। उदाहरणार्थ, ग्रीक शब्द 'ए-त-थेन' [etethen] को लीजिये जो भूतकालका रूप है। यहाँ त में ह्रस्व ए दीर्घ ए का ही अपश्रुतिजनित रूप है, जो इसके वर्तमान कालके रूप **तिथेमि** में पाया जाता है। इसमें वास्तविक धातु थे [the] [*धे, *dhē] है। इसीके दुर्बल रूप में लैतिन में अ पाया जाता है, **यथा लैतिन फ़सिओ** [fasio]। किन्तु संस्कृतमें यह *धत [*हत] न होकर 'हित'[2] [√धा + क्त] होता है। अर्थात् ग्रीकमें जहाँ प्रा० भा० यू० दीर्घ *ए का ह्रस्व रूप ए [e] पाया जाता है, वहाँ संस्कृत [भारत ईरानी शाखा] में 'इ' हो गया है। एक दूसरा उदाहरण और लीजिये। प्रा० भा० यू०

---

१ यहाँ 'ओजीयस्, ट्रओजिश्त, या द्राघिष्ठकी 'ज' तथा 'घ' ध्वनियाँ कण्ठ्य 'ग' 'घ' का विकास है, उग्रमें वह 'ग' ही रही है, इ के कारण अन्यत्र 'ज' हो गई है, देखिये 'ग', 'ज' का विकास [अगले परिच्छेद में]।

२ दधातेर्हिः।

*दो [*do] धातु मे 'ओ' दीर्घ स्वर है, इसका वर्तमान रूप सबल स्थितिमे ग्रीकमे 'दिदोमि' [didomi] है। दुर्बलरूपमे ग्रीकमे यह भूतकालमे ए-दो-थेन् [edothen] हो जाता है, जो संस्कृतके 'अदाम्' के समानान्तर है। लैतिनमें यह दुर्बल रूपमे अ होता है, यथा दतुस् [datus]। किन्तु संस्कृतमे दुर्बल रूपमे इ पाया जाता है, जैसे सं० अदिथाः। इससे यह स्पष्ट है कि जहाॅ भारत-ईरानीमे 'इ' ध्वनि है, तथा अन्यत्र [ग्रीकके अतिरिक्त भाषाओंमे, क्योंकि ग्रीकमे तीनो ही स्वरोका दीर्घ रूप दुर्बलस्थितिमे ह्रस्व हो जाता है] अ ध्वनि है, वहाॅ वास्तविक [मूल] रूपमे इन तीनो दीर्घ स्वरोका वह दुर्बल रूप रहा होगा, जिसका कारण अपश्रुति [Ablaut] है। इन दुर्बल रूपोमे, वे धातु जिनमे स्वर ह्रस्व था, उस स्वरको सर्वथा खो देते थे; किन्तु दीर्घ स्वरवाले धातुओमे इनका अवशेष एक अत्यधिक दुर्बल स्वरके रूपमें अवश्य रह जाता था। यही दुर्बल स्वर भाषाशास्त्रमे 'श्वा [schwa] के नामसे प्रसिद्ध है, तथा इसके चिह्नके लिए रोमन उलटे ई [ə] का प्रयोग किया जाता है। हम इसके लिए देवनागरीमे अ का प्रयोग कर रहे है। यही अ भारत-ईरानीमे इ हो गया है, ग्रीकके अतिरिक्त अन्य भाषाओमे यह अ पाया जाता है, ग्रीकमे कभी तो यह भारत-ईरानी इ, अ रूपमे पाया जाता है, कभी नहीं पाया जाता[1], यथा सं० पिता, अवेस्ता [फारसी] पिता, ग्रीक पतेर [pater], सं० स्थितः, ग्रीक स्ततास् [statos], सं० हितः, ग्री० थतास् [thetos]।

भारत-ईरानी शाखाकी दूसरी विशेषता य् तथा व् अन्तःस्थ ध्वनियोका विशेष प्रकारका प्रयोग है जो अन्य भारोपीय भाषाओमे नहीं पाया जाता। वेद तथा अवेस्ता दोनोकी भाषासे ऐसा जान पड़ता है कि इ के पूर्व होनेपर य् ध्वनि तथा उ के पूर्व होनेपर व् ध्वनि लुप्त हो जातीं

---

१. Wackernagel. Altindische Grammatik Vol I. P. 16, § 15.

थी। उदाहरणके लिए संस्कृत **श्रेष्ठ** को लीजिये, अवेस्तामें इसके समानान्तर **स्रएश्त** [sraesˇta] शब्द मिलता है। यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है कि ऋग्वेदमें **श्रेष्ठ** शब्द प्रायः त्र्यक्षर [trisyllabic] माना गया है। अतः स्पष्ट है कि इसका मूल रूप '**श्रय्**' है। **श्रेष्ठ** तथा **श्रीर** में ठीक वही संबंध है, जो **शविष्ठ** तथा **शूर** में, एवं **दविष्ठ** तथा **दूर** में है। अतः यह मानना अनुचित न होगा कि **श्रेष्ठ** का वास्तविक संस्कृत रूप ***श्रयिष्ठ** अवश्य रहा होगा, तभी यह त्र्यक्षर माना जा सकता है। यह ***श्रयिष्ठ** सर्वप्रथम ***श्रइष्ठ** हुआ होगा, बादमें **श्रेष्ठ**। इसी प्रकार ऋग्वेदके '**रेवत्**' '**रयिवत्**' रूपोंको लिया जा सकता है जो दोनों ही रूपमें ऋग्वेदमें पाये जाते हैं। अवेस्ताका **रएवत्** [raevat] भारत-ईरानी प्राचीन रूप **रयिवत्** से ***रइवत्** के द्वारा विकसित हुआ है। इसी आधारपर संस्कृतमें वे धातुरूप जो प्रायः प्राचीन रूपमें यि वाले थे, पदादि में केवल इ ध्वनिसे युक्त पाये जाते हैं। यथा √**यज्** धातुके सन्नत रूप **इयक्षा** को ले लीजिये, जो ऋग्वेदमें पाया जाता है। लौकिक संस्कृतमें आकर सादृश्यके आधार पर इसमें फिरसे 'य्' जोड़ कर **यियक्षा** रूप बना दिया गया है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थोंमें 'य्' वाला रूप पाया जाता है, यथा √**यम्** से '**यियंस—**,' √**यभ्**' से '**यियप्स—**'। कुछ रूपोंमें लौकिक संस्कृतमें भी प्राचीन इ-वाला रूप ही बचा रह गया, जैसे '**यज्**' धातुके परोक्षभूते लिट्के रूप '**इयाज**' में। किन्तु इस संबंधमें व् ध्वनिके ऐसे विकासका उल्लेख नहीं किया जा सकता। अवेस्तामें इसके कोई उदाहरण नहीं मिलते, जहाँ उ के पूर्व होनेपर व् का इस प्रकारका लोप पाया जाता हो। साथ ही 'व्' 'उ' जैसी ध्वनियोंका संयोग प्राचीन भारत-यूरोपीयमें न्यून था। संस्कृतमें यदि कहीं भा० यू० व् का उ रूप पाया जाता है तो 'र्' [रेफ] के स्वरीभूत रूप [**ऋ**] के कारण। यथा सं० **उरा**, **ऊर्मि** को क्रमशः प्रा० भा० यू० ***वृरेन्** [wr̥ēn] [देखिये ग्रीक **वरेन** [waren] तथा ***वृम** [wr̥ma] [प्रा० हाई जर्मन **वल्म**

[walm] से विकसित माना जा सकता है। यह विशेषता केवल संस्कृतमे ही पाई जाती है। अवेस्तामे यह 'व' 'व' ही बना रहता है, सं० उरः, अवेस्ता वरो [waro], सं० ऊर्णा, अवे० वर्अन [warən] संस्कृत क्रियाके परोक्षभूते लिट्मे यह व पदादिमे उ हो जाता है, यथा संस्कृत √वच् तथा √वस् धातुसे क्रमशः उवाच एवं उवास रूप बनते है। किन्तु इनमे वास्तविक प्रथनाक्षर प्राचीन भारत यूरोपीय *व–था, *वु– नहीं था। अवेस्तामे यह व ही बना रहता है, तथा वहाँ ववश [wawas̆a] रूप पाया जाता है। इसीलिए अवेस्तामे संस्कृतके पदादि 'उ –वाले परोक्षभूत रूप जैसे रूप नहीं मिलते।

संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोंमे ही प्रा० भा० यू० *स् ध्वनि इ, उ, र् तथा कण्ठ्य ध्वनियोसे परे होनेपर परिवर्तित हो जाती है। इस स्थितिमे प्रा० भा० यू० *स् भारत-ईरानी वर्गमे श [s̆] हो जाता है। संस्कृतमे यह श बदल कर ष हो गया है, जब कि अवेस्ता मे श ही रहा है। यह परिवर्तन अ या आ ध्वनिसे परे होनेपर नहीं पाया जाता। उदाहरणके लिए संस्कृतके सप्तमी बहुवचनके सुप्प्रत्यय 'सु' को लीजिये, जिसका प्रा० भा० यू० रूप भी *सु [*su] है। यह इ, उ [साथ ही ए, ओ भी] से परे होनेपर संस्कृतमे षु हो जाता है कविषु, भानुषु। अवेस्ता मे यह शु [s̆u] होता है. अवे० बूमिशु [būmis̆u] [सं० भूमिषु], गोउरुशु [gouru s̆u] [सं० गुरुषु]। इसी प्रकार 'र' तथा कण्ठ्य ध्वनिके कारण भी यह संस्कृत मे 'ष' तथा अवेस्तामे 'श' हो जाता है।

सं० तृष्णा, अवे० तश्नों [tars̆no], गोथिक, थोर्स्यन् [þorsyan]

सं० उक्षित[1], अवे० उख़्शेइति [uxs̆eiti], ग्रीक अउखनो [aukhano]

---

1. सं० क्ष = क् + ष [कषसंयोगे क्षः]

संस्कृत तथा अवेस्ताकी यह विशेषता बाल्तोस्लाविक जैसी 'सत' वर्गकी अन्य भाषामें पाई जाती है। वहाँ भी ऐसी परिस्थितियोंमें 'स' 'श' हो जाता है। जहाँ प्रा० भा० यू० में 'श्वा' [अ (ə)] था, वहाँ भारते-रानीमें इ रूप के कारण *स् ध्वनि श हो जाती है, किन्तु यह विशेषता बाल्तोस्लाविकमें नहीं पाई जाती, क्योंकि वहाँ प्रा० भा० यू० 'श्वा' 'इ' न होकर लैतिनकी भाँति 'अ' होता है।

सं० क्रविष् [मास], अवे० ख्रविश्यन्त [xrawisyanta] [रक्त-पिपासु] ग्रीक क्रअस् [kreas] प्रा० स्ला० क्रुव्यस् [kruvas], प्रा० भा० यू० *क्रव्अस् [krewəs]

पदरचनाकी दृष्टिसे संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोकी सर्वप्रथम विशेषता यह है कि इनमें भारत यूरोपीय 'इ' तथा 'ए' स्वर जो क्रमशः वर्तमान तथा परोक्ष भूतके द्वित्व [reduplicated] रूपोंमें पाये जाते थे भिन्न भिन्न रूपमें नहीं है। यहाँ दोनों ही रूपोंमें 'इ' स्वर वाला ही द्वित्व रूप पाया जाता है, यथा—

सं० तिष्ठति, अवे० हिश्तअन्ति [hištənti], ग्रीक, हिस्तेमि [histemi]
सं० शिषक्ति, अवे० हिशख्ति [hišaxti].
सं० इयर्ति, अवे० [उज़्] यरात [(uz)-yarat]

इतना होनेपर भी प्रा० भा० यू० ए के भी अवशिष्ट चिह्न भारत—ईरानीमें पाये जाते हैं। सं० ददाति, अवे० ददइति [dadaiti] को लीजिये, ये वर्तमानके रूप हैं, अतः ध्यान रखिये प्रा० भा० यू० रूप *दिदोति [*didoti] होगा, *ददोति [*dedōti] नहीं। ग्रीकमें यह प्रा० भा० यू० 'इ' दिदोसि [didōsi] में स्पष्ट है। यद्यपि यहाँ प्रा० भा० यू० 'ए' नहीं था, तथापि उसीके मिथ्यासादृश्यके आधारपर यह प्रा० भा० यू० 'इ' संस्कृत व अवेस्तामें इन शब्दोंमें 'अ' हो गया है, जो भाषा-

शास्त्रीय दृष्टिसे अपवाद है। यह मिथ्या-सादृश्य किसी परोक्षभूतके रूपके ही आधारपर हुआ होगा, जैसे स० बभूव [प्रा० भा० यू० *भभूव *bhe-bhuwe] आदिके आधारपर। इसी प्रकार परोक्षभूतमे भी मिथ्या-सादृश्य या उपमानके आधारपर 'इ' पाया जाता है, जो भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे 'अ' होना चाहिए, यथा सं० दिदेश [प्रा० भा० यू० *ददेक्ये *dede-ke]। इस सादृश्यके आधारपर सर्वप्रथम उन धातुओंके वर्तमानमे, जिनमे 'इ' पाया जाता था, द्वित्व रूपमे 'इ' हो गया। यह 'इ' सस्कृत तथा अवेस्ता दोनोमे है। यह इ-ध्वनि वर्तमान रूपोके आधारपर परोक्षभूतके द्वित्वरूपोमे भी पाई जाने लगी, जैसे सं० √द्विप् से बने दिद्वेप तथा अवे० दिद्वएश [didwaesˇa] मे। धीरे धीरे यह 'इ' उन धातुओंके रूपोमे भी पाया जाने लगा, जहाँ वस्तुतः धातुके मूलरूपमे 'इ' नहीं था, यथा सस्कृत √वस् से विवस्वान्। इसी प्रकार अवेस्तामे भी दा [da] [सं०√धा, प्रा० भा० यू० *धो [*dhō] धातुके दिदार [didāra] ददार [dadāra] दोनों रूप पाये जाते है, जो संस्कृत 'दधार' [प्रा० वैदिक रूप दाधार] के समानान्तर है। इस 'इ' के उपमानके आधार पर सस्कृत 'उ' वाले धातुओमे 'उ' स्वरका भी द्वित्व पाया जाने लगा। सं० √दिश् से बने दिदेश के सादृश्यपर √जुष् से जुजोप बना, यद्यपि अवेस्तामे इसके द्वित्व रूपमे 'इ' ही पाया जाता है, जो अवेस्ता शब्द ज़िज़ुश्ते [zizusˇte] मे स्पष्ट है। किन्तु यह सादृश्यजनित 'उ' किन्हीं किन्हीं रूपोमे अवेस्तामे भी मिल जाता है, यथा संस्कृत, शुश्रूषति, अवेस्ता, सुस्रूश्अम्नो [susrūsˇəmno]। वर्तमानके सादृश्यके आधारपर यह 'उ' परोक्षभूतमे पाया जाने लगा तथा रुरोध, पुपोष जैसे रूप बने। सस्कृतमे दीर्घ ऊकारान्त धातुओमे केवल 'भू' तथा 'सू' इन धातुओके परोक्षभूतमे ही द्वित्व रूपमे प्रथम स्वर अ [*ए*e] पाया जाता है, जो क्रमशः बभूव तथा ससूव [दूसरा रूप सुषुवे भी है] से स्पष्ट है।

धातुके कर्मवाच्य रूपके सामान्यभूतमे संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोंमे इ पाया जाता है, जो अन्य किसी भारोपीय भाषामे नहीं पाया जाता, यथा सं० अवाचि [अवे० अवाशिं [awāsˇi] । संस्कृतमें इसका प्रयोग कर्मवाच्यमें अन्य पुरुषके चिह्नके रूपमे पाया जाता है । ठीक इसी रूपमे इसका प्रयोग अवेस्तामें होता है । किन्तु इस पदरचनात्मक विशेषताकी उत्पत्ति स्पष्ट नहीं है। फिर भी यह तो निश्चित है कि यह भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता है ।

इसी प्रकार इन दोनो भाषाओंके आज्ञात्मक [लोट्] रूपोंके अन्य पुरुष एकवचन तथा बहुवचनके रूपोंमे भी ऐसी ही समानता पाई जाती है, संस्कृत भरतु, भरन्तु, अवेस्ता बरतु [baratu], बर्अन्तु [barəntu] इसके अतिरिक्त उत्तम पुरुषके एक वचनमे भी दोनों मे आ, तथा आनि दोनों प्रकारके वैकल्पिक रूप पाये जाते है, संस्कृत, भवा, भवानि । लौकिक संस्कृतमें आकर भवा वाला रूप लुप्त हो गया है । यह आनि प्रा० भा० यू० विध्यात्मक [optative] तिङ् विभक्ति *आन से विकसित हुआ है । संस्कृतके आज्ञात्मक [imperative] रूपोंमे अत्यधिक पाये जानेवाले "–तात्' वाले रूप [यथा स० भवतात्, भरतात्] प्रा० भा० यू० मे तो रहे होंगे, किन्तु अवेस्तामें इनका सर्वथा अभाव है ।

सुप् विभक्तियोंकी दृष्टिसे भी संस्कृत तथा अवेस्तामें कई समानताएँ पाई जाती है । सर्वप्रथम हम षष्ठी बहुवचनकी विभक्ति-नाम् को लेते है, जो दोनोंमे पाई जाती है । प्रा० भा० यू० मे यह संबंधबोधक बहुवचन केवल *ओम् [ōm] था । यह हलन्त तथा अदन्त [अजन्त] दोनो प्रकारके शब्दोंमें प्रयुक्त होता था । यह *ओम् संस्कृतमे आकर आम् हो गया है । हलन्त शब्दोंमें तो संस्कृतमें यह आम् ही प्रयुक्त होता है , सं० गच्छताम् [गच्छत् + आम्], जगताम् , पथाम् । किन्तु अदन्त शब्दोंमे यह प्रायः नाम् हो गया है स० देवानाम् [देव + न + आम्], भानूनाम्,

हरीणाम्[1]। वेदमें केवल एक स्थानपर देवां जन्म मे अदन्त शब्दमें आम् का प्रयोग मिलता है, लौकिक संस्कृतमें यह देवानां जन्मके रूपमें प्रयुक्त होगा। नाम् सुप् विभक्तिचिह्न सर्वथा नया न होकर प्रा० भा० यू० विभक्ति चिह्न *नोम् से विकसित हुआ है। किन्तु यह प्रा० भा० यू० सुप् विभक्ति चिह्न केवल आ-कारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंमें ही था। संभव है, इकारान्त तथा उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंमें भी प्रयुक्त होता हो। इसके चिह्न पुरानी हाई जर्मनके स्त्रीलिंग रूपोंमें पाये जाते हैं (उदा०—पु० हा० ज० 'गेबोनो' (प्रातिपदिक गेबा)—' दानोंका) फिर भी यह बात ध्यान देनेकी है कि अ-कारान्त शब्दोंमें अवेस्ता तथा संस्कृतमें पाया जाने वाला [आ] नाम् [दे० देवानाम्] भारत-ईरानी विशेषता ही है। यह बात अवश्य है कि यह चिह्न अवेस्तामें केवल एक ही स्थानपर पाया जाता है सं० मर्त्यानाम्, अवे० मश्यानम् [mas̆yānam] बाकी सब स्थानों यह अनम् ही है। अकारान्त शब्दोंके षष्ठी बहुवचनान्त रूपोंके सादृश्य पर इकारान्त, उकारान्त शब्दोंमें भी 'नाम' पाया जाने लगा, सं० गिरीणाम्, अवे० गइरिनम् [gairinam], सं० वसूनाम्,अवे०वोहुनम् [wohunam]। कभी कभी संस्कृतमें तो यह 'नाम्' पाया जाता है, पर अवेस्तामें प्राचीन 'आम्' ही पाया जाता है, सं० सर्वानाम्, पशूनाम्; अवे० हशम् [has̆am] पश्वम् [pas̆wam]। संस्कृतमें अधिकतर अदन्त शब्दोंमें यह 'नाम्' पाया जाने लगा[2]।

स्त्रीलिंग शब्दोंके आकारान्त रूपोंमें संस्कृत तथा अवेस्तामें परस्पर बड़ी समानता है। इस प्रकारके शब्दोंके तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी तथा सम्बोधनके एकवचनके रूप एक से ही हैं। यह समानता अन्य भारत

---

1. ध्यान दीजिए, 'नाम्' के पहले का ह्रस्व अ, इ, उ दीर्घ हो जाता है। देव + नाम्, हरि + नाम्, भानु + नाम्के रूप देवानाम्, हरीणाम्, भानूनाम् होते हैं।

2. ऐकारान्त, ओकारान्त एवं औकारान्त शब्दोंके रूपोंमें 'नाम्' न होकर 'आम्' ही होता है, जैसे रायाम्, गवाम् आदि रूपोंमें।

यूरोपीय भाषाओंमें नहीं पाई जाती। तृतीया एकवचनमें प्रा० भा० यू० *आ का ही प्रयोग होता था, यथा स० सुकृत्या अवीरता में जहाँ ये तृतीयान्त हैं। [अ] का या प्रयोग सर्वनाम स्त्रीलिंगोंमें होता था, धीरे धीरे तया, यया, कया के सादृश्यपर यह संज्ञाओंमें भी प्रयुक्त होने लगा, सं० रसया, लतया। चतुर्थी, षष्ठी [पञ्चमी] तथा सप्तमीके एकवचनोंमें संस्कृतमें द्व्यक्षर [disyllabic] विभक्त्यन्त पाये जाते हैं। इन सभीमें आय् रूप समान पाया जाता है। इस प्रकार संस्कृतमें ये क्रमशः -आयै,-आया,-आयाम् [सं० लतायै, लतायाः, लतायाम्] हैं। अन्य भा० यू० भाषाओंमें इनके समानान्तर विभक्तिचिह्न द्व्यक्षर न होकर एकाक्षर हैं। वस्तुतः आ० भा० यू० में *आय् नहीं पाया जाता था और यह भारत-ईरानी वर्गमें ही आकर आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंमें प्रयुक्त होने लगा था। किन्तु अवेस्तामें संस्कृतके समानान्तर रूप देखे जा सकते हैं,-अयाइ, [ayāi], -अया, -अया [ayā] जिनमें 'अ' का ह्रस्व रूप तृतीया एकवचनके चिह्न 'अया' के सादृश्य पर माना जा सकता है। प्रा० भा० यू० में *आय् वाला रूप नहीं था, भारत-ईरानीमें आकर यह इकारान्त या -या अन्तवाले शब्दोंके सादृश्यके आधारपर चल पड़ा होगा। इस आधारपर आयै, आया, आयां को रुच्यै, रुच्याः, रुच्याम् या देव्यै, देव्याः देव्याम् जैसे रूपोंके आधार पर माना जा सकता है। प्रा० भा० यू० भाषामें चतुर्थी तथा सप्तमी दोनोंकी विभक्ति *-इ, थी, इस प्रकार आकारान्त शब्दोंमें दोनों विभक्तियोंमें *-आइ अन्त वाले रूप बनते थे। धीरे धीरे सप्तम्यन्तको चतुर्थ्यन्तसे भिन्न बतानेके लिए 'आइ' के बादमें भारत-ईरानीमें 'आ' जोड दिया गया इस प्रकार *आया रूप बना। संस्कृतमें आकर इसमें अम् जोड दिया गया [आयां = *आ + *इ + आ + अम्]। इसी 'आयाम्' के सादृश्य पर चतुर्थी तथा पञ्चमी-षष्ठीमें भी दोनों भाषाओंमें 'आकारान्त रूपोंमें 'आय्'का समावेश हो गया।[1]

---

१ Wackernagel Altindische Grammatik Vol iii P 43, §16 (e)

सबोधनके एकवचनमे सस्कृत तथा अवेस्ता दोनोमे ही आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोमे 'ए' पाया जाता है [सं० रसे, लते]। यह विशेषता अन्य भा० यू० भाषाओमे नहीं पाई जाती। अवेस्तामे इसके आ एव ए दोनो प्रकारके रूप मिलते हैं। **अवेस्ता, रज़िश्ते** [raziš́te] [**संस्कृत *रजिष्टे**], **अवेस्ता, पोउरुशिश्ता** [pouruš́iš́ta] [**संस्कृत *पुरुचिष्टे**][1]। सबोधनके इस -ए विभक्तिचिह्नका विकास अस्पष्ट है। अन्य भा० यू० भाषाओमे आकारान्त शब्दोका सबोधन एकवचन रूप अ से युक्त होता है। यथा ग्रीक भाषाके **नुम्फे** [numphe] [**प्रा० रूप नुम्फा**], [**मिलाइये; अँगरेज़ी** [nymph] जिसका अर्थ 'अप्सरा' है] सबोधनमे **नुम्फ** [numpha] रूप होता है।

सस्कृत तथा अवेस्तामे इकारान्त शब्दोके सप्तमी एकवचनमे 'औ' विभक्त्यन्त पाया जाता है, यथा **सं० कवौ, हरौ**। यह **औ** वस्तुतः ऊकारान्त शब्दोके **भानौ, गुरौ** आदि रूपोके सादृश्यपर पाया जाता है। मूल भारत-यूरोपीय विभक्तिचिन्ह *आइ था। वेदमे भी यह विभक्त्यन्त **अग्ना-यी** के रूपमे पाया जाता है। किन्तु इस उदाहरणके अतिरिक्त इकारान्तके सप्तम्यैकवचनान्त रूप उकारान्त शब्दोके औ के सादृश्यपर ही संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोमे पाये जाते है। अवेस्तामे यह **औ** न होकर **ऑ** [ā] हो गया है। सस्कृतमे तृतीया एकवचनके इकारान्त शब्दोंके रूपोमे प्रायः '[इ] या', **आ** तथा **'इना'** विभक्त्यन्त पाये जाते है, यथा **मत्या, जगता, कविना** मे। किन्तु कभी कभी इन रूपोमे केवल **ई** ही पाया जाता है, यथा **वैदिक स० अचित्ती** [**लौ० सं० अचित्या**]। यह विशेषता वैदिक संस्कृतमे ही पाई जाती है। अवेस्तामे तो **'हशा'** [haš́a] [**सं० सख्या**] को छोड कर बाकी सभी तृतीयैकवचनान्त रूपोमे यहाँ 'ई' पाया जाता है। इसी

---

१. संस्कृतमें रजिष्टे या पुरुचिष्टे जैसे पद नहीं मिलते, इसलिए ये पद तारकचिह्नित किये गये है। अवेस्ताके आधार पर यदि संस्कृतमें कोई रूप मिलता, तो ऐसा होता।

प्रकार उकारान्त शब्दोंके इस विभक्तिके रूपोंमें अवेस्तामें खथ्वा [xraθ-wa], [मि० सं० क्रत्वा जो संस्कृत क्रतु शब्दका तृतीया एकवचन है वैदिक संस्कृतमें यह क्रत्वा रूप मिलता है लौकिक संस्कृतमें यह रूप नहीं मिलता, वहाँ वह क्रतुना हो गया है।], को छोड कर प्रायः 'ऊ वाले रूप ही पाये जाते हैं यथा अवेस्ता मइन्यू [mainyu] [सं० मन्युना]।

यहाँ तक हमने संस्कृत तथा अवेस्ताकी समानताओंपर ध्यान दिया। अब थोडा उन ध्वन्यात्मक भेदों पर दृष्टिपात कर लें, जो संस्कृत तथा अवेस्तामें पाये जाते हैं। इन ध्वन्यात्मक विशेषताओंमें विशेष महत्त्व व्यञ्जनध्वनियोंके पारस्परिक भेदका है। अत यहाँ हम उन्हींका संक्षिप्त संकेत करेंगे।

समस्त भारत यूरोपीय भाषाओंमें केवल संस्कृत तथा तज्जन्य भारतीय भाषाओंने ही प्रा० भा० यू० स्पर्श ध्वनियोंके चारों रूपोंकी रक्षा की है। इनमें अघोष अल्पप्राण, अघोष महाप्राण, सघोष अल्पप्राण तथा सघोष महाप्राण चारों प्रकारके रूप पाये जाते हैं, जिनके उदाहरण क्रमशः क, ख, ग, घ है। अवेस्ता तथा फारसी वर्गकी भाषाओंमें यह बात नहीं पाई जाती, वहाँ महाप्राण रूपोंमें परिवर्तन हो गया है। अघोष महाप्राण ख, थ, फ वहाँ सोष्म ख़, थ, फ हो गये हैं। सघोष महाप्राण घ, ध, भका महाप्राणत्व वहाँ सर्वथा लुप्त हो गया है इनके स्थान पर ग, द, व रूप पाये जाते हैं।[1]. यथा,

संस्कृत	अवेस्ता
शफ	सफ [safa]
यथा	यथ़ा [yaθa]
सखा	हख [haxa]
भूमि	बूमि [bumi]

---

१ Bloch L' Indo-Aryen pp 50-51

धेनु	दएनु [daenu]
घर्म	गर्म [garm]
हन्ति	ज़इन्ति [zaınti]

सस्कृत पदादि स अवेस्तामें ह पाया जाता है। सस्कृत पदादि श अवेस्ता मे स होता है। सस्कृत ष अवेस्तामे श पाया जाता है। संस्कृत पदादि ह वहाँ ज़ हो जाता है।

संस्कृत	अवेस्ता
सप्त, सिन्धु	हप्त [hapta], हिन्दु [hındu]
शरत् [–द्]	सर्अद [sarəda]
जोष–जोष्ट	ज़ओश [zaoša]
हस्त	ज़स्त [zasta] [आ० फा० दस्त]

ये समस्त भाषाशास्त्रीय तथ्य इस बातकी पुष्टि करते है कि सस्कृत तथा अवेस्ता वस्तुतः भारत-यूरोपीय परिवारमे एक ऐसा युगल है, जिसे हम भारत-ईरानी वर्गके नामसे एक ही शाखा मान सकते है। इस सबधमे सबसे बडी बात ध्यानमें रखनेकी यह है कि सस्कृत या अवेस्ता शब्दसे हमारा तात्पर्य इन भाषाओके एक ही रूपसे नहीं है। जब हम सस्कृत या अवेस्ता शब्दका प्रयोग करते हैं, तो हमारा तात्पर्य उन समस्त विभाषाओ या बोलियोसे है जो सस्कृत या अवेस्ता कालमे भारत तथा ईरानके विभिन्न उपवर्गोंके द्वारा बोली जाती थीं। यह प्रयोग ठीक उसी तरहसे किया जा रहा है, जिस प्रकार केवल 'प्राकृत' शब्दसे हमारा तात्पर्य प्राकृतके एक रूपसे न होकर पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा मागधी सभी भेदोसे है, अथवा जिस प्रकार 'हिन्दी' शब्दके प्रयोगमे खडीबोली, ब्रज, बागडू, कन्नौजी, बुन्देली [यहाँ तक कि राजस्थानी, अवधी, भोजपुरी आदि भी] आदिका भी समावेश हो जाता है। वैदिक कालमें इस संस्कृत भाषाके बोलनेवाले भी कई वर्गोंमे विभक्त थे तथा इन विभिन्न वर्गोंमे कुछ निजी ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक विशेषताएँ

रही होगी, यद्यपि ये विशेषताएँ अत्यधिक नगण्य थीं। पर इन विशेष-ताओंका पता ऋग्वेदके मन्त्रभाग तथा अन्य वैदिक साहित्यमें प्रयुक्त वैकल्पिक रूपोंसे लगता है। याद रखिये, वेद किसी एक मानवकी कृति न होकर विभिन्न वर्गोंके आत्मगुरुओं [ऋषिवर्ग] की रचनाएँ हैं। यदि 'रचना' शब्द जरा बुरा लगे, तो हम कहेंगे कि ये मन्त्र विभिन्न वर्गोंके ऋषियोंके द्वारा प्रत्यक्ष किये गये हैं। अतः तत्तत् वर्गकी विभाषाकी ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक विशेषताएँ इनमें आ गई हैं। साथ ही ये मन्त्र भाग भौगोलिक प्रदेशमें रचे गये हैं, तो कई कुरुपाञ्चालमें, तो कई अन्तर्वेदमें। इसी तरह मन्त्रोंमें कालभेद भी पाया जाता है। ठीक यही बात अवेस्ताकी गाथाओंके विषयमें कही जा सकती है, जिनमें भी विभिन्न वर्गगत विशेषताएँ स्पष्ट हैं। अवेस्ताकी गाथाएँ एक ही कालकी नहीं हैं, ठीक उसी तरह जैसे वैदिक मन्त्र भी एक ही कालकी रचना नहीं हैं। इस सम्बन्धमें यह जान लेना आवश्यक है कि प्राचीनतम अवेस्ता भाषा प्राचीनतम संस्कृतसे भी अधिक 'आर्ष' [archaic] है। अवेस्ताकी प्राचीन गाथाओंमें वर्तमानकालके उत्तम पुरुष एकवचनमें आ [ā] तिङ् विभक्ति पाई जाती है, जो प्रा० भा० यू० वर्तमान उत्तमपुरुष ए० व० विभक्ति *ओ से विकसित है। जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रा० भा० यू० में वर्तमानके उत्तमपुरुष एकवचनके चिह्न *ओ तथा *मि दोनों थे। संस्कृतमें केवल मि ही पाया जाता है। ग्रीकमें ओ तथा मि दोनों पाये जाते हैं। अवेस्तामें भी [संस्कृतकी भाँति] बादकी गाथाओंमें केवल मि रूप ही पाया जाने लगा है।

सं० दधामि, अवेस्ता ददामि [dadāmi] ग्री० तिथेमि [tithemi]
सं० भरामि, अवे० बरमि [barāmi] ग्री० फेरो [fero]

इस 'आर्ष' प्रयोगके अतिरिक्त गाथाकी विभाषामें एक और ''आर्ष' [archaic] प्रयोग पाया जाता है, जो प्राचीनतम संस्कृतमें इतना अधिक नहीं पाया जाता। भारत-ईरानी वर्गमें 'सघोष महाप्राण+अघोष संयुक्त ध्वनियाँ सघोष+सघोष महाप्राण पाई जाती हैं। यह नियम जर्मन विद्वान्

बार्थोलोमेके नामपर "बार्थोलोमेका नियम" कहलाता है। बार्थोलोमेने अवेस्ताकी भाषापर महान् कार्य किया है। बार्थोलोमेके इस नियमके अनुसार गाथाकी विभाषामे अत्यधिक आर्ष प्रयोग पाये जाते है, जबकि सस्कृतमे आर्ष [प्राचीन] तथा बादके दोनो प्रकारके रूप नहीं पाये जाते है। आदिम भारतयूरोपीय भाषामे शब्दोके मूल रूपोमे आदि तथा अन्तकी ध्वनियाँ महाप्राण पाई जा सकती है, किन्तु सस्कृतमे दोनो स्थानोपर प्रायः महाप्राण ध्वनियाँ नहीं पाई जातीं।[1] ऐसी दशामे सस्कृतमे अन्तकी ध्वनिकी महाप्राणता प्रायः लुप्त हो जाती है। यह लोप अधिकतर 'स' ध्वनिके योगमे पाया जाता है। किन्तु इस विषयके सस्कृतमे कई अपवाद भी पाये जाते है। यथा सस्कृतके √दह् [*√घघ्य् *dhaghy-] के सामान्य भूतमे दक्ष-[*धक्ष नहीं] रूप पाया जाता है। इसी प्रकार सस्कृत √दुह् [प्रा० भा० यू० *√धुघ्य् [*dhughy-] के सामान्य भूतमे "दुक्ष-[धुक्ष-नहीं] रूप पाया जाता है। यह प्राणताका लोप एक प्रकारकी समस्या-सा है। इसीलिए पदपाठमे, ऐसी दशामे 'द' के स्थानपर 'ध' का प्रयोग पाया जाता है इसी प्रकार √भस् तथा √घस् से व्युत्पन्न "बप्स्-" तथा "जक्ष्-" भी ऐसी ही समस्या है, जिनमे महाप्राणता सर्वथा नहीं पाई जाती। इस बातसे स्पष्ट है कि महाप्राण तथा स के योगका पूर्ववर्ती महाप्राण ध्वनिपर वैसा ही प्रभाव पाया जाता है, जैसा कि केवल परवर्ती महाप्राणका। किन्तु यह नियम उस समय कार्यशील था जब स-ध्वनिके योगमे मूल रूपोके अन्तमे पाई जानेवाली सघोष महाप्राण ध्वनि अघोष अल्पप्राण [क्स, त्स, प्स] नहीं हुई थी। अतः यह मानना अनुचित न होगा कि "सघोष महाप्राण + स"[2] मे ऊष्मध्वनि भी सघोष हो

---

१. देखिये परिच्छेद ५.

२. ध्यान रखिये "स" [s] अघोष ध्वनि है, तथा इसका सघोष रूप "ज" [z] है।

गई थी, तथा बार्थोलोमेके मतानुसार ऊष्म तथा महाप्राणतामें वर्णविपर्यय [metathesis] भी हो गया था। यथा—

"घ् + स", "ध् + स", "भ् + स" ध्वनियाँ क्रमशः
"ग्ज़्ह", "द्ज़्ह", "ब्ज़्ह", [gzh, dzh, bzh]

हो गई थीं।[1] गाथाकी विभाषामें हमें ये "आर्ष" रूप स्पष्ट मिलते हैं, यथा,

अवे० दिब्ज़इद्याइ [diwzaidyāi] [ब्ज़ ∠ब्ज ∠ब्ज़्ह ∠भ् + स]

अवे० अओग्जा [aogzā] [ग्ज ∠ग्ज़्ह ∠घ् + स]

परवर्ती अवेस्तामें आकर अघोष ध्वनियोंके रूप अवश्य पाये जाते हैं, यथा—

अवे० हंगूअरूअफ्शाने [hangəɪəφšāne] [फ्श ∠भ् + स]
अवे० दख़्श [daxša] [ख़्श ∠घ् + स]

इसके अतिरिक्त अवेस्ताकी प्राचीनतम गाथाओंमें एक और भी आर्ष प्रयोग पाया जाता है। प्रा० भा० यू० की एक विशेषता यह भी थी कि नपुंसकके बहुवचन कर्ताके साथ एकवचन क्रियाका प्रयोग किया जाता था। वस्तुतः इसे स्त्रीलिंगके एकवचनके समकक्ष माना जाता है। नपुंसकलिंगके बहुवचनका वैकल्पिक 'आकारान्त' रूप ऋग्वेदमें भी पाया जाता है, यथा "भुवनानि विश्वा" जहाँ विश्वा वस्तुतः विश्वानि का वैकल्पिक रूप है। ग्रीकमें भी इसे एकवचन मानकर एकवचन क्रियाका प्रयोग पाया जाता है। अवेस्ताकी प्राचीनतम गाथाओंमें इसका आर्ष प्रयोग बहुत पाया जाता है, यद्यपि परवर्ती गाथाओंमें यह प्रयोग कम हो गया है। ऋग्वेदमें इस प्रकारके प्रयोग बहुत कम पाये जाते हैं।

इन सब विशेषताओंको देखनेसे ज्ञात होता है कि संस्कृत तथा अवेस्ता परस्पर कितनी अधिक निकट है तथा भाषाशास्त्र ही नहीं वैदिक साहित्यका विद्यार्थी भी अपने अध्ययनमें अवेस्ताको नहीं छोड सकता। अवेस्ताकी

---

१ Wackernagel Altindische Grammatik [Lautlehre] Vol I pp 271 and following § 236

गाथाओंके तुलनात्मक अध्ययनसे संस्कृत भाषाकी कई भाषावैज्ञानिक समस्याएँ, तथा वैदिक साहित्यके कई आर्ष प्रयोगोंकी गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं। इस प्रकारके तुलनात्मक अध्ययनने कई महत्त्वपूर्ण तथा मजेदार गवेषणाएँ की हैं। यही अध्ययन हमें बताता है कि संस्कृत धातु √ब्रू का प्राचीन भारत-ईरानी रूप म्रू था, जिसका म्रव् [mrau] रूप अवेस्तामें पाया जाता है। संस्कृत तथा अवेस्ता दोनों प्रा० भा० यू० की वे जुड़वाँ बेटियाँ हैं, जिनकी प्रकृति जाननेके लिए, एककी भी प्रकृति तथा आकृति जाननेके लिए, दूसरीकी प्रकृति व आकृतिकी जानकारी भाषावैज्ञानिकके लिए ज़रूरी हो जाती है।

संस्कृत ध्वनियाँ तथा स्वर

किसी भी भाषाकी ध्वनियोंको सर्वप्रथम दो प्रकारकी माना जा सकता है:—स्वर तथा व्यञ्जन। स्वरोंके उच्चारणमें वायु मुखसे इस प्रकार निकलता है कि मुखके अंतर्गत उसका अवरोध नहीं होता। ये ध्वनियाँ जिह्वा तथा ओठोंकी विभिन्न स्थितियोंके अनुसार विभिन्न रूपमें उच्चरित होती हैं। जिह्वाको उठाया जा सकता है, नीचा किया जा सकता है, आगे बढाया जा सकता है, पीछे हटाया जा सकता है तथा सामान्य अवस्थामें पडी रक्खा जा सकता है, ओठोंको गोलाकार बनाया जा सकता है, पीछे हटाया जा सकता है, अथवा अपनी सामान्य स्थितिमें रक्खा जा सकता है। कभी कभी स्वरके उच्चारणके समय नासिका-विवर भी खुला रक्खा जा सकता है, और इस दशामें सानुनासिक स्वरका उच्चारण होता है, यथा तॉश्चक्रे में, द्वितीय ध्वनि 'आ' का उच्चारण सानुनासिक [सानुस्वार] ही है। जिह्वाकी विभिन्न स्थितियोंके अनुसार हम इन स्वर ध्वनियोंको पश्च, अग्र तथा केंद्रीय इन तीन कोटियोंमें विभक्त कर देते है। जिह्वाकी इन स्थितियोंके आधारपर मानस्वरोंकी उच्चारण स्थितिको हम इस चतुर्भुजसे व्यक्त कर सकते हैं।
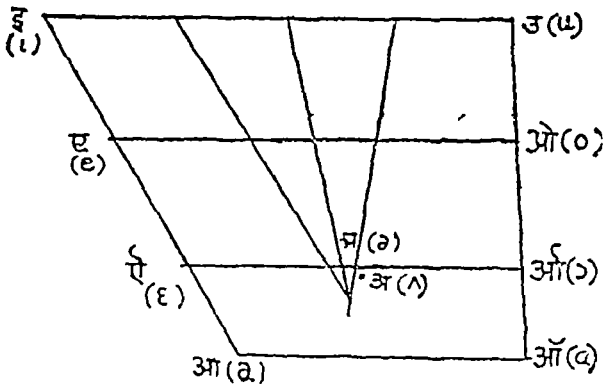
इस चतुर्भुज का इ आ रेखाके स्वर इ, ए, ऍ, आ अग्र स्वर हैं, इनके उच्चारणमें जिह्वा आगेकी तरफ बढती है। इ में जिह्वाकी स्थिति उच्चतम रहती है, आ में निम्नतम। इसी प्रकार पश्च ध्वनियोंमें जिह्वा पीछे सटी रहती है; वस्तुतः उसका पिछला भाग कोमल तालुकी ओर उठता है। केन्द्रीय स्वर 'अ' [ə] के समय जिह्वा सामान्य स्थितिमें पडी रहती है। केन्द्रीय स्वरकी पश्च-प्रकृति अ [ʌ] के समय ओठोंकी चंचलता भी पाई जाती है, जो 'अ' [ə] के उच्चारण में नहीं पाई जाती। ऍ, ऑ ध्वनियाँ विवृत है, इनके उच्चारण में मुख विवृत रहता है तथा जिह्वा आ या ऑ के उच्चारणकी अपेक्षा कुछ ऊपर उठी हुई रहती है। ए, ओ के उच्चारणमें जिह्वा और अधिक उठी रहती है, तथा मुख उतना विवृत नहीं रहता। स्वरोंका अक्षर संघटना [syllabic function] में प्रमुख हाथ होता है। कभी कभी दो स्वर भी एक साथ मिलकर अक्षरसंघटनाका कार्य करते हैं। इन्हें ध्वनि-युग्म [dipthong] कहा जाता है। संस्कृतकी ऐ [आइ], औ [आउ] ध्वनियाँ ध्वनियुग्म हैं।

प्राचीन भारतीय ध्वनिशास्त्रियोंने ध्वनियोंका वर्गीकरण प्रयत्न, स्थान तथा करणकी दृष्टिसे किया है। स्थान तथा करणको आधुनिक ध्वनि-विज्ञानकी परिभाषामें हम 'पॉइन्ट आव् आर्टिकुलेशन' या 'प्लेस आव् आर्टि-कुलेशन' तथा करणको 'आर्टिकुलेटर' कहते हैं। द्व्योष्ठ्य तथा दन्तोष्ठ्य ध्वनियोंको छोडकर प्रायः सभी ध्वनियोंमें करण जिह्वाका कोई न कोई भाग होता है, स्थान उसके द्वारा स्पृष्ट अन्तर्मुखका अंगविशेष। प्राचीन भारतीय आचार्योंने अ, आ को कण्ठ्य; इ, ई, ए, ऐ को तालव्य, तथा उ, ऊ, ओ, औ को ओष्ठ्य माना है। ऋ, ॠ, तथा ऌ को उन्होंने जिह्वामूलीय माना है।[1] कात्यायन प्रतिशाख्यके मतानुसार ऌ दन्त्य है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से ऋ, ॠ, ऌ वस्तुतः र्, ल् के अक्षर संघटनाकारी रूप हैं, स्वतन्त्र स्वर नहीं। ध्वनिशास्त्री अन्य स्वरोंका वर्गीकरण जिह्वाकी स्थितिके अनुसार करना विशेष ठीक समझता है।

व्यञ्जन ध्वनियोंको हम दो कोटियोंमे विभक्त करते हैं:—स्पर्श [stops], तथा निरन्तर [continuants]। स्पर्श ध्वनिके उच्चारणमे एक क्षणके लिए मुखके अंदर वायुका अवरोध हो जाता है, तदनन्तर ध्वनि मुक्तकी जाती है। यथा प के उच्चारणमे, ओठोंको एक दूसरेसे सटानेसे वायुका अवरोध होता है, ततः पश्चात् ओठोको खोलनेपर ध्वनि सुनाई देती है। निरन्तर व्यञ्जनोंमे स्पर्श ध्वनियोकी भाँति वायुका पूर्ण अवरोध नहीं हो पाता, फलत. इनका उच्चारण करते समय वायु मुखसे निकलता रहता है। श, स, ष आदि ध्वनियाँ निरन्तर हैं। भारतीय वैयाकरणोके मतानुसार क से म तककी ध्वनियाँ स्पर्श है—कादयो मान्ताः स्पर्शा.। किन्तु आधुनिक ध्वनिशास्त्री अनुनासिक ध्वनियोको 'निरन्तर' माननेके पक्षमे है। व्यञ्जनोका दूसरे ढगका भेद स्वरतन्त्रियो [vocal chords] के कम्पनके आधारपर किया जाता है। सघोष ध्वनियों, यथा ग, ज, ड, द, ब आदिके उच्चारणमे स्वर-तन्त्रियोंमे कम्पन होता है जो नाद या घोषको व्यक्त करता है, अघोषध्व-नियो, यथा क, च, ट, त, प आदिके, उच्चारणमे स्वरतन्त्रियोंमे कम्पन नहीं होता फलतः नाद उत्पन्न नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्राणताके आधार पर स्पर्श ध्वनियोको अल्पप्राण तथा महाप्राण रूपमे भी विभक्त किया जाता है। स्थानभेदकी दृष्टिसे इन व्यञ्जन ध्वनियोका वर्गीकरण यो किया जाता है:—

१. कवर्ग ध्वनियोको सस्कृत वैयाकरणोने कण्ठ्य कहा है। प्रातिशाख्योंमे इनका स्थान जिह्वामूल माना गया है।[१] कवर्गके उच्चारणमें जिह्वाका मूल

---

१ कण्ठ्योऽकार. प्रथमपञ्चमौ च······ऋकारल्कारावथ षष्ठ ऊष्मा, जिह्वामूलीयाः प्रथमश्चवर्गः [ऋक् प्रा० प्रथम पटल, १८], [ऋ. प्रा. प० १९–२०] साथ ही—अहविसर्जनीयाः कण्ठे [शुक्लयजु' प्रा० १ ७१], इचशेयास्तालौ [१'६६], उवोपोपद्मा ओष्ठे [१'७०], ऋत्वक्कौ जिह्वामूले [१'६५], लृलसिता दन्ते।

२. ऋ ऌ क्कौ जिह्वामूले [शु. य. प्रा.८१. ६५] "जिह्वामूलीयाः प्रथमश्च वर्गः [ऋक् प्रा १. १८]

कोमल तालु [velum] को छूता है। आधुनिक ध्वनिशास्त्री इन ध्वनियोंको कोमलतालुजन्य [velar] कहना अधिक संगत समझते है।

२. चवर्ग ध्वनियोको तालव्य माना जाता है।[1] इनके उच्चारणमे जिह्वा-मध्यके द्वारा कठोर तालुके दोनो छोरोका स्पर्श किया जाता है। सस्कृतकी ये ध्वनियाँ शुद्ध तालव्य ध्वनियाँ थीं, पर आजकी हमारी भाषाओंकी ये ध्वनियाँ सोष्म स्पर्श है इन्हे ध्वनिवैज्ञानिक शव्दावलीमे हम सोष्म स्पर्श [affricates] कहेगे। इस वातका सकेत डॉ० चाटुर्ज्याने अपनी 'वगाली फोनिटिक रीडर' मे किया है। व्रज, हिन्दी तथा अवधीकी च, छ, ज, झ ध्वनियाँ तालव्य न होकर सोष्म स्पर्श है।[2].

३. टवर्ग ध्वनियोको मूर्धन्य कहा जाता है।[3] किंतु मूर्धन्य नाम ठीक नहीं जान पड़ता। आधुनिक ध्वनिशास्त्री इस वर्गकी ध्वनियोके लिए 'रिट्रोफ्लेक्स' [retroflex] शव्दका प्रयोग करते है। इस वर्गकी ध्वनियोके उच्चारणमे जिह्वाका अग्र भाग उलट कर कठोर तालुके किसी भी अशको छूता है। जिह्वाके इस प्रतिवेष्टितत्वका सकेत प्रातिशाख्योमे भी मिलता है।[4] इसी

---

१. इचशेयास्तालौ [शु. य. प्रा. १. ६६], तालव्यावेकारचकारवर्गौ [ऋ. प्रा. १. १९]

२ Dr Saksena· Evolution of Awadhi P. 31

३. षटौ मूर्धनि [शु. य. प्रा. १. ६७], मूर्धन्यौ षकारटकारवर्गौ [ऋक् प्रा. १. १९]

४. जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धनि टवर्गे [तैत्तरीय प्रा. २. ३७]; मूर्धन्यानां जिह्वाग्रं प्रतिवेष्टितम् [अथर्वप्राति. १. २२], मूर्धन्यः प्रतिवेष्ट्याग्रम् [वाजसनेय प्रा. १. ७८] साथ ही देखिये—Daniel Johns An Outline Of English Phonetics P. 119

आधारपर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे इन ध्वनियोको "प्रतिवेष्टित" [Retroflex] कहना ठीक होगा।

४. ळ, ळ्ह ध्वनियाँ उत्क्षिप्त प्रतिवेष्टित [flapped retroflex] हैं। इनके उच्चारणमे जिह्वाका अग्र भाग उलट कर झटकेके साथ जैसे किसी चीजको फेंकता, वापस लौटता है। ये दोनो ध्वनियाँ वैदिक संस्कृतमे ही पाई जाती है। हिन्दी, की 'ड़' ध्वनि भी उत्क्षिप्त ही है। इसीका सानुनासिक उत्क्षिप्त प्रतिवेष्टित रूप हिंदी 'ण' ध्वनि है।

५ तवर्ग ध्वनियाँ दन्त्य है।[1] इनके उच्चारणमे जिह्वा ऊपरके दाँतोको अपने नुकीले भागसे छूती है।

६ पवर्ग ध्वनियाँ द्वयोष्ठ्य है। इनके उच्चारणमे स्थान तथा करण दोनों ही ओठ रहते है।

७. अनुनासिक [ङ, ञ, ण, न, म] ध्वनियाँ अपने वर्गके साथ ही साथ अनुनासिक भी है। इनके उच्चारणके समय वायुका कुछ अश नासिका विवरसे भी निःसृत होता है। 'न' का स्थान वैयाकरणोने दन्त ही माना है, किन्तु इसका वास्तविक स्थान वर्त्स [teeth-ridge] माना जाता है।

८ अन्त स्थ ध्वनियाँ [य, व]—संस्कृत वैयाकरण य, व, र, ल को अतःस्थ मानते है, किन्तु आजका ध्वनिशास्त्री र, ल को अतःस्थ नहीं मानता। य को प्रातिशाख्यो व शिक्षाओमे [देखिए फुटनोट[1], पूर्ववर्ती पृष्ठ] तालव्य माना गया है। आधुनिक ध्वनिशास्त्रियोमेसे कुछ य को तालव्य मानते हैं, कुछ वर्त्स्य। व द्वयोष्ठ्य ध्वनि है। इन्हींका अन्तरसघटनाकारी रूप 'इ', 'उ' माना जाता है।

९. र, ल. ध्वनियाँ द्रवित या [liquid] कहलाती है। प्रथम ध्वनि लुठित [rolled] है, द्वितीय पार्श्विक [lateral]। प्राचीन भारतीय वैयाकरणोंके मतानुसार प्रथम मूर्धन्य है, द्वितीय दन्त्य। र के उच्चारणमे

---

१. ऌलसिता दन्ते—[शु य प्रा १ ६९]

जीभकी नोक वर्त्सका स्पर्श एक ही क्षण दो तीन बार करती है। प्राचीन प्रतिशाख्योंमे इसका सकेत मिलता है। वे 'र' का स्थान दन्तमूल मानते हैः—रो दन्तमूले [शु. य. प्रा. १. ५८], रेफ वर्त्स्यमेके [ऋ. प्रा. १. २०]।

१०. श, ष, स ध्वनियाँ क्रमशः तालव्य, प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] तथा दन्त्य सोष्म ध्वनियाँ हैं। इनके उच्चारण करते समय जिह्वाके दोनो ओर कुछ भाग खुला रह जाता है, जिससे मुखकी वायु बाहर निकलकर 'स्-स्' जैसी ध्वनि उत्पन्न करती है। इसीलिए इन्हे सोष्म कहा जाता है।

११. ह, ह़ ध्वनियाँ क्रमशः सघोष तथा अघोष प्राण ध्वनि है। भारतीय विद्वानोंमेसे कुछने इन्हे कण्ठ्य [Glutteral] माना है, कुछने उरःस्य [pulmonic]। अघोष प्राणध्वनि [ह़] विसर्गके रूपमे सस्कृतमे पाई जाती है। आजकी भारतीय आर्य भाषाओमे राजस्थानी तथा गुजरातीकी कुछ बोलियोमे यह अघोष प्राणध्वनि पाई जाती है। महाप्राण ध्वनियोमे अघोष महाप्राण ध्वनियोमे अघोष प्राणध्वनि होती है, सघोष महाप्राण ध्वनियोमे सघोष प्राणध्वनि।[1] यथा,ख = क् + ह़; छ = च् + ह़; घ = ग् + ह, झ = ज् + ह।

१२. ᳵक, ᳶप, व्व सस्कृतमें तीन ध्वनियाँ और भी पाई जाती हैः— जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा दन्तोष्ठ्य [dentc–labial] 'व'। जिह्वा-

१. प्राणता [aspiration] के लिए प्रतिशाख्यों में 'ऊष्मा' शब्दका प्रयोग मिलता है, महाप्राणध्वनियोंको वहाँ 'सोष्म' ध्वनियाँ कहा जाता है। ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टिमें यह ठीक नहीं। उष्मा [friction] तथा प्राणता [aspiration] भिन्न भिन्न ध्वन्यात्मक तत्त्व हैं। महाप्राणके लिए 'सोष्म' शब्दके प्रयोगके लिए देखिये—"द्वितीयचतुर्थाः सोष्माणः" [शु. य. प्रा. १.५४], तथा वर्गे वर्गे च प्रथमावघोषौ, युग्मौ सोष्माणावनुनासिकोऽन्त्यः। [ऋ. प्रा. १. १२]

मूलीयᳲकका उच्चारण 'ख़' सा होता है, यथा अन्तᳲकरण [अन्त [ख़्] करण], उपध्मानीय दन्तोष्ठ्य ध्वनि है, इसके उच्चारणमें अधरोष्ठ ऊपरके दाँतोंका हलका सा स्पर्श करता है, इसका उच्चारण 'फ' सा होता है, यथा अन्तᳲपुर [अन्त [फ्] पुर]। दन्तोष्ठ्य 'व्ब' इसी 'फ' का सघोष रूप है। अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनिशास्त्रीय संकेतलिपिमें इनके लिए क्रमशः ɸ, β चिह्नोंका प्रयोग होता है। 'व्ब' का उच्चारण संस्कृतमें अलगसे ध्वनि [phoneme] न होकर द्वयोष्ठ्य 'व' का ही ध्वन्यग [allophone] माना जाना चाहिए। इसका उच्चारण भी केवल वैदिक संस्कृतमें पाया जाता है, जहाँ पदादि 'व' [w] को 'व्ब' [β] पढ़ने की प्रथा है। शिक्षाओंमें इसका संकेत मिलता है:—गुरुर्वकारो विज्ञेयः पदादौ पठितो भवेत् [माध्यन्दिनी शिक्षा २. ६]।

संस्कृत ध्वनियोंका यह वर्गीकरण निम्न मानचित्रसे जाना जा सकता है:—

स्थान	स्पर्श				निरन्तर			
	अल्पप्राण		महाप्राण				अनुनासिक	
	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष
कण्ठ्य या कोमलतालुजन्य	क	ग	ख	घ	ह्	ह		ङ
तालव्य	च	ज	छ	झ	श	य	.	ञ
प्रतिवेष्टित या मूर्धन्य	ट	ड	ठ	ढ	ष	.	.	ण
दन्त्य	त	द	थ	ध	स	ल	.	न
द्वयोष्ठ्य	प	ब	फ	भ		व	.	म
वर्त्स्य	..		.	.	.	र		[न]
दन्तोष्ठ्य	..	..			[फ] ᳲप	[व्ब]		

सस्कृतके अतर्गत अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ ऐकिक स्वर ध्वनियाँ, तथा ऐ, औ ध्वनियुग्म है। इनके अतिरिक्त 'र' तथा 'ल' के अक्षर सघटनाकारीरूप ऋ, ॠ, ऌ का भी ग्रहण सस्कृत स्वरोमे किया जा सकता है, जहाँ ये स्वरका कार्य करते है। सस्कृतमे पाँच अनुनासिक ध्वनियाँ है :— ङ, ञ, ण, न, म। पर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे संस्कृतमे तीन ही अनुनासिक ध्वनियाँ [nasal phonemes] मानी जा सकती है:—ण, न, म ; तथा ङ, ञ वस्तुतः न के ही ध्वन्यग [allophones] है। वाकेरनागेलने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "अल्तिन्दिश्के ग्रामातीक" [प्राचीन-भारतीयकी व्याकरण] मे 'ङ' को सस्कृतमे अलग ध्वनि माना है, किन्तु हम इस मतसे सतुष्ट नहीं।[1] ब्लॉखने अवश्य ही 'न', 'म' तथा 'ण' ये तीन अनुनासिक ध्वनियाँ सस्कृतमे मानी है।[2] कुछ विद्वानोके मतानुसार टवर्गीय स्पृष्ट ध्वनियों तथा 'ष' को सस्कृतकी अलगसे ध्वनि न मानकर तवर्ग तथा स का नतिभाव[3] [Prosody of retroflexion] मानना ठीक होगा, पर हम इस मतसे सहमत नहीं क्योकि सस्कृतकी टवर्ग ध्वनियाँ वस्तुतः दन्त्योका नतिभाव न होकर तालव्य ध्वनियोका विकास है।

संस्कृत स्वर-ध्वनियोंका विकास :—

सस्कृतकी स्वर-सपत्ति भारत-ईरानी स्वरोके अत्यधिक निकट है। इस भाषामे ह्रस्व तथा दीर्घ अ, इ, उ, ऋ [ऌ केवल एक ही सस्कृत धातु क्लृप् मे मिलता है, जिसका रूप अवेस्तामे 'कुअर्अप्' [kərəp] है], पाये जाते है। इसके अतिरिक्त एकाक्षरीभूत ध्वनियुग्म ए, ओ तथा ऐ, औ भी पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त ह्रस्व तथा दीर्घ अ, इ, उ

---

१ Wackernagel. Altındische Grammatık [Lautlehre] V. I p. 2 §2.

२ Bloch· L'Indo Aryen P 71

३. एषा नतिर्दन्त्यमूर्धन्यभावः [ऋक् प्रा० ५. ६१]; दन्त्यस्य मूर्धन्यापत्तिर्नतिः [वाजसनेयी प्रा० १. ४२]

के सानुनासिक रूप भी पाये जाते है, जिसे प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रन्थो मे "रक्त"[1] सज्ञा दी गई है ।

अ—सस्कृत अ का विकास प्रा० भा० यू० *अ, *ए, *ओ तथा अक्षरघटनाकारी स्वरीभूत अनुनासिक *न् *म् से हुआ है। उदाहरणार्थ,

स० अजति, अवेस्ता अजइति [azaiti], ग्रीक अगेइ [agei] ∠ *अगेइ [*agei]

,, अस्ति ,, अस्तिय् [astiy], ग्रीक एस्ति [esti] ∠ *एस्ति [*esti]

,, पतिः ,, पइतिश् [paitiš], ग्रीक पोसिस् [posis] ∠ *पोतिस् [*potis]

,, दश ,, दस [dasa], ग्रीक डेक [deka] ∠ *देक्म् [*dekm̥]

,, ततः[2] ,, . ग्रीक ततोस् [tatos] ∠ *त्न्तोस् [*tn̥tos]

आ—सस्कृत आ का विकास इन्हींके दीर्घरूपसे हुआ है। आदिम भा० यू० आ, ए, ओ तथा स्वरीभूत न्, म् के दीर्घरूपमे आ का विकास हुआ है। यथा,

सं० मातृ [मातर्] अवे० मातर् [mātar] ग्रीक मातेर् [mater] ∠ *मातेर् [*mātēr]

सं० मा ,, मा [ma] ग्रीक मे [me] ∠ *मे [me]

---

१. रक्तसंज्ञोऽनुनासिक. [ऋक् प्रा० १ १७]

२. तनु विस्तारे इति धातो· क्तप्रत्ययः ।

सं० गाम् ,, गम् [gam] ग्रीक बोन् [Bōn]
∠*ग्वोम् [gwōm]

सं० जातः अवे० ज़ातो [zato] ग्रीक ग्नोतास् [gnōtos] ∠* ग्नृतास् [*gn̥tos]

,, क्षाः ,, ज़् [za] ,, ख्थोन् [khthōn], ∠*√ क्स्म् [*ghsm̥-]

इ, उ [ई, ऊ]—संस्कृतके ह्रस्व तथा दीर्घ इ, उ का विकास कई मूलरूपोंसे हुआ है। [१] प्राचीन भा० यू० इ, उ [ई, ऊ] संस्कृतमें इसी रूपमें पाये जाते हैं, यथा,

सं० इहि [*इधि] अवेस्ता इदी [idī] ग्रीक इथि [ithi], ∠*इधि [idhi]
,, उप ,, उप [upa] ,, उपो [upo] ∠*उप [upa]

,, जीव पारसी ज़ीव [ziwa], लैटिन उईऊस् [uīūs]
∠*ग्वीव्स् [*gwīws]

,, भ्रूः ,, अब्रू [abrū], ग्रीक ओफ्रूस् [ophrūs]
∠*ओभ्रूस् [*obhrūs]

[२] संस्कृत 'इ' कई स्थानों पर प्रा० भा० यू० अ [ə] से विकसित हुआ है। यथा,

सं० पितृ [पितर्] अवे० पितर् [pitar] ग्रीक पतेर [pater]
∠*प्अतेर [pəter]

,, दुहिता [दुहितृ] ,, दुग़्दा [duɣdā] ,, थुगातेर [thugatēr]
∠ *दुघ्अतेर [dughətēr]

[३] संस्कृत इ, उ जहाँ इर्, उर् के रूपमें पाये जाते हैं, वहाँ प्रा० भा० यू० *ऋ [r̥] से विकसित हैं। यथा—

सं० गुरु, अवेस्ता गोउरु [gouru], ग्रीक बरुस् [barus] ∠ *गृउस् [*gr̥us]

,, गिरि ,, गइरि [gairi] ,, ∠ *गृरि [गृर्‌अ] [*gr̥ri] [*gr̥rə]

ऋ, ॠ, ऌ :—संस्कृत ऋ, ॠ, ऌ शुद्ध स्वर न होकर र्, ल् के स्वरीभूत रूप हैं। ऋक्प्रातिशाख्यके टीकाकार उव्वटके मतानुसार 'ऋ' को चार पादोंमें विभक्त किया जा सकता है। इनमेंसे प्रथम तथा अंतिम पाद स्वरका तथा मध्यके दो पाद व्यंजनके हैं। इसे हम यों व्यक्त कर सकते हैं —

$ऋ = \frac{अ}{४} + \frac{र}{२} + \frac{अ}{४}$ इसीका दीर्घ रूप ॠ है। इसी प्रकार ऌ को $\frac{अ}{४} + \frac{ल}{२} + \frac{अ}{४}$ माना जा सकता है। ऋ तथा ऌ दोनोंका अवेस्तामें अर्‌अ [ərə] के रूपमें विकास हुआ है। ये सभी प्रा० भा० यू० *ऋ [r̥] *ऌ [l̥] से विकसित हुए हैं। संस्कृतका 'ऌ' जो केवल 'क्लृप्' में पाया जाता है, संभवतः प्रा० भा० यू० *ऋ [*r̥] से विकसित हुआ है। प्रा० भा० यू० *r̥, *l̥ दोनों ही संस्कृतमें ऋ के रूपमें विकसित हुए हैं।

सं० √मृड्— ∠ *मृज़्द् [*mr̥zd]

,, दृढ ∠ *दृज़्ध [*dr̥zdha]

,, वृढ [परि-], ∠*वृझ्ध [wrzdha]

,, पृथु अवे० पअरअथु [pərəthu] ∠*पृथु [prthu]

संस्कृत दीर्घ ऋ को संस्कृत इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंके द्वितीया तथा षष्ठी बहुवचन 'हरीन्-हरीणाम्', 'भानून्-भानूनाम्' के सादृश्य पर ऋकारान्त शब्दोंमे बनाया गया रूप मानते हैं।[1] वस्तुतः दीर्घ ऋ केवल इन्हीं दो विभक्तियोंके बहुवचन रूपोंमे [ऋकारान्त शब्दोंमे] पाया जाता है, यथा पितॄन्, श्रोतॄन्; पितॄणाम्, श्रोतॄणाम्; मातॄः, स्वसॄणाम्। अतः इसे प्रा० भा० यू० दीर्घ *ऋ [r] से विकसित नहीं माना जा सकता।

ए, ओ—संस्कृत की ए, ओ ध्वनियाँ क्रमशः प्रा० भा० यू० *अइ, *एइ, *ओइ, तथा *अउ, *एउ, *ओउ से विकसित हुई हैं। ये दोनों मूलत. सन्ध्यक्षर हैं। इनके विकासके उदाहरण रूपमे ये रक्खे जा सकते हैं :—

स० अश्वे, ग्रीक हेप्पोइ [heppoi] ∠*एक्वोइ [ekʷoe]

,, भवेत [मि० ग्रीक, फेराइतो, [pheroito] ∠*भेवाइतो [bhew oito]।

संस्कृत भाषामें ही अइ [अय्], तथा अउ [अव्], ए तथा ओ के रूपमे परिवर्तित होते मिलते है :—मघवन्-मघोनः, भगवन्-भगोस्।

ऐ, औ—संस्कृत ऐ, औ ध्वनियुग्मोंका विकास प्रा० भा० यू० सन्ध्यक्षरों [ध्वनियुग्मों] से हुआ है, जिनमे प्रथम स्वरध्वनि दीर्घ *आ, *ए, *ओ [ā. ē ō] रहा है। ऐ, औ संस्कृतमे भी आय् तथा आव् के रूपमे परिवर्तित होते देखे जाते हैं। यथा, गौः, गावः; नौ, नौभिः, नावं,

---

1 Bloch : L'Indo-Aryen. P 30.

द्यौः, द्यावा। इनके प्रा० भा० यू० से उत्पन्न विकासके लिए ये उदाहरण दिये जा सकते हैं :—

स० अरैक्तम्, ग्री० एलेइप्स [eleipsa] ∠*लेय्क्व् [*leykʷ–]

,,नौः ,, नाउस् [naus] ∠*नाव्स् [naw–s]

द्यौः ,, जेउस् [प्राचीन ग्री० जेडस्] [zeus] ∠*द्येव्स् [dyew-s]

शुद्ध स्वरोंके अतिरिक्त संस्कृतमें स्वरोंके सानुनासिक रूप भी पाये जाते हैं। वैदिक तथा लौकिक दोनों संस्कृतमें अधिकतर सानुनासिक स्वर दीर्घ पाये जाते हैं, आँ, ईँ, ऊँ, किन्तु ह्रस्व स्वरोंके साथ भी सानुनासिकता होती है। वेदमें पदान्त आ जो न् से पूर्व होता था, दूसरे पदके आदिमें स्वर ध्वनि आनेपर सानुनासिक हो जाता था, साथ ही वह प्लुत भी हो जाता था। जैसे **लोकाँऽऽअकल्पयन्**, **अभिनन्ताँऽऽएवै**। वैदिक तथा लौकिक संस्कृतमें दीर्घ आ, ई, ऊ तीनों पदान्त न् से पूर्व होनेपर तथा ऐसे अन्य पदसे सहित होनेपर, जिसके आदिमें चवर्गीय, टवर्गीय तथा तवर्गीय ध्वनि हो, अनुनासिक हो जाते हैं, यथा **अर्हाँश्च सर्वान्**, **पशूँस्ताँश्चक्रे**। कुछ ध्वनिशास्त्रियोंके मतानुसार ह्रस्व स्वर भी सानुनासिक होते है। यह रूप वहाँ पाया जाता है, जहाँ परवर्ती ध्वनि ऊष्म या 'ह' है। **अँश [अंश], सिँह [सिंह], किँशुक [किंशुक], पुँसक [पुंसक]** में क्रमशः सानुनासिक अ, इ, उ ध्वनियाँ हैं। पाणिनिने भी ह्रस्व तथा दीर्घ 'अ' 'इ' 'उ' के वाक्यके अन्तमें होनेपर अनुनासिकीकरण माना है।

संस्कृत व्यञ्जन ध्वनियोंका विकास—प्रा० भा० यू० व्यञ्जन ध्वनियोंका पूर्ण विकास संस्कृतमें पाया जाता है। व्यञ्जनोंकी दृष्टिसे संस्कृत किस प्रकार भारत-ईरानी शाखाका पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है, यह हम पूर्ववर्ती परिच्छेदमें बता चुके है। जैसा कि हम द्वितीय परिच्छेदमें

बता आये है प्रा० भा० यू० मे तीन प्रकारकी कण्ठ्य ध्वनियाॅ थीं। सस्कृतकी कवर्ग ध्वनियाॅ प्रायः प्रा० भा० यू० शुद्धच कण्ठ्य तथा कण्ठोष्ठ्य ध्वनियोंसे विकसित हुई है।

क :—प्रा० भा० यू० शुद्ध कण्ठ्य 'क' तथा कण्ठोष्ठ्य 'क्व' पश्च-स्वर अथवा व्यञ्जन ध्वनिसे पूर्व होनेपर सस्कृतमे क ही बने रहे है। वैसे अग्र स्वरसे पूर्व होनेपर वे च के रूपमे विकसित हुए है।

स० **कविः** ग्रीक **क्रेअ [व] स्** [kre [w] as] ∠ *__क्रेव्अस्__ [krewəs]

,, **क्रूरः** लैतिन **क्रुओर** [Cruor] [रक्त], रूसी **क्रोव्य** [Krovy]

∠ *__क्रुवोस्__ [Kruwos]

,, **कः** ,, **क्वोस्** [quos], ग्रीक **पो** [qo–] ∠ *__क्वोस्__ [Kʷos]

ख :—सस्कृत ख ध्वनि प्रा० भा० यू० *ख, *ख्व से विकसित मानी जा सकती है, किन्तु हमारे मतसे सस्कृत *ख शुद्ध कण्ठ्य *ख का ही विकसित रूप है। स्टर्टेवन्टके मतानुसार प्रा० भा० यू० *ख शुद्ध कण्ठ्य *क तथा भा० हित्ताइत अघोष कण्ठनालिक ध्वनि, ', × का पल्लवित रूप माना जा सकता है। प्रा० भा० यू० *ख अवेस्तामे कभी ह तथा कभी ख़ पाया जाता है। इसे प्रा० भा० यू० *स्ख का भी विकसित रूप माना जा सकता है।

स० खादति ∠ *स्खादोति [skhādoti]

स० नख, ग्रीक ओनुख् [onukh]

मख," मखोमाइ [makhomai] [युद्ध] ∠ *मखोस्

[makhos]

ग :—सस्कृत ग प्रा० भा० यू० *ग तथा *ग्व से निकला है, ठीक उसी तरह जैसे सस्कृत क प्रा० भा० यू० *क तथा *क्व से।

स० उग्र ∠ *उग्र [Ugra]

सं० गौः, ग्रीक बाउस् [Bous] ∠ *ग्वोवूस् [g^w ōws]

घ :—संस्कृत घ प्रा० भा० यू० *घ तथा *घ्व से विकसित हुआ है, यह प्रा० भा० यू० *घ तथा *घ्व कहीं कहीं संस्कृतमें आकर ह के रूपमें भी विकसित हुआ है। अत. संस्कृत ह प्रा० भा० यू० *ह जैसी ध्वनिसे विकसित नहीं हुआ है।

वैदिक सं० द्रोग्घ ∠ *ध्रोउघो [dhrougho]

संस्कृत घन, रूसी ग्नत्य [gnaty] ∠ *घ्वोनो [gh^w ono]

तुलनात्मक भाषाशास्त्रकी दृष्टिसे संस्कृतमें दो तरहकी तालव्य ध्वनियाँ पाई जाती हैं, एक वे हैं जो संस्कृतमें प्रा० भा० यू० तालव्य ध्वनियों—*क्य, *ख्य, *ग्य, *घ्य, से विकसित होकर आई हैं, दूसरी वे चवर्गीय ध्वनियाँ जो अन्य दो प्रकारके प्रा० भा० यू० कण्ठ्य ध्वनियोंसे विकसित हुई है। ये तालव्य ध्वनियाँ वस्तुतः उन ध्वनियोंसे विकसित हुई हैं, जो स्वय मूलतः तालव्य नहीं थीं, किन्तु परवर्ती अग्रस्वर [ए, इ आदि] के कारण ईषत्तालव्य रूपमें उच्चारित होती थीं। उदाहरणार्थ प्रा० भा० यू० *क्वे [k^w e] में प्रथम [व्यजन] ध्वनि तालव्य न होकर कण्ठोष्ठ्य है, किन्तु यह प्रा० भा० यू० कण्ठोष्ठ्य ध्वनि संस्कृतमें 'च' हो गई है, और विकसित शब्द 'च' [और] हो गया है। अतः स्पष्ट है कि प्रा० भा० यू० कण्ठ्य तथा कण्ठोष्ठ्य ध्वनियाँ ही अग्रस्वरके परवर्ती होनेपर संस्कृत में च हो गई हैं, जब कि प्रा० भा० यू० तालव्य क्य संस्कृतमें श के रूपमें विकसित हुआ है। इसी संबधमें यह भी कह दिया जाय कि संस्कृत छ ध्वनि भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृत च ध्वनिका महाप्राण रूप न होकर संस्कृत श ध्वनिका महाप्राण रूप है।[१] अर्थात् संस्कृत छ का विकास प्रा० भा० यू० *ख *ख्व

१ Wackernagel, Altindische Grammatik [Lautlehre] vol I, PP 227–8 §200

से न होकर *ख्य से हुआ है। यद्यपि प्रातिशाख्योमे तथा परवर्ती व्याकरण ग्रन्थोमे भी इसे 'च' का महाप्राण माना है, किन्तु संस्कृत 'छ' के विकासके विषयमे भाषाशास्त्रीय तथ्य इससे भिन्न है। इसीलिए प्रायः ऐसा देखा जाता है कि संस्कृतमे श, छ मे परिवर्तित होता देखा जाता है, जैसे सधिमे,— तत् + शय्या = तच्छय्या, पद् [त्] + शः = पच्छः। इससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत श तथा छ क्रमशः प्रा० भा० यू० *क्य, *ख्य से विकसित हुए है।

श :—संस्कृतमे प्रा० भा० यू० *क्य, श बना है, पर ग्रीक तथा लैतिनमे क ही रहा है; यथा—

संस्कृत √श्रू, ग्रीक क्लुओ [kluō], लैतिन क्लुएओ [clueo] ∠ *क्य्लु- [klu-]

,, ददर्श ,, देदोर्के [dedorke] ∠ *देदार्क्ये [dedorke]

छ :—संस्कृत 'छ' 'श' का महाप्राण है: किन्तु जैसा कि हम देखेंगे इसका विकास प्रा० भा० यू० शुद्ध *ख्य से न होकर *स्ख्य से हुआ है। उदाहरणार्थ संस्कृतके 'छाया' शब्दको लीजिये, जिसका समानान्तर ग्रीक शब्द 'स्किआ' [skia] है। हम देखते है कि सधिमे 'छाया' का यह 'छ' 'च्' से युक्त हो जाता है, यथा शिव + छाया = शिवच्छाया। यह 'च्' बताता है कि वास्तविक संस्कृत शब्द *च्छाया रहा होगा जो उच्चारण सौकर्यकी दृष्टिसे 'छाया' बन गया। यह च्छ प्रा० भा० यू० *स्ख्य का विकास है। यद्यपि पदादिमे संस्कृतमे यह 'च्छ' उच्चरित नहीं होता, तथापि पदमध्यमे यह पुनः अपने स्वभावको प्राप्त हो जाता है, जैसे शिवच्छायामे। धीरे धीरे 'च्छ' तथा 'छ' मे कोई भेद नहीं माना जाने लगा। वैदिक सहिताओकी लिपिमे 'च्छ' को 'छ' से लिपीकृत किया गया है। काठक शाखाकी सहितामे इसीके लिए 'श्छ' का चिह्न पाया जाता है। संस्कृत गच्छति मे भी यही च्छ है, जो गछति [कुछ लोगोके मतानुसार] लिखा जा सकता है।

संस्कृत **गच्छति**, ग्रीक **बस्को** [baskō] [मैं जाता हूँ ∠ ***ग्वृम्स्ख्यति**
[gʷm̥skhatı]

,, **पृच्छति**, प्रा० हाईजर्मन **फ्रोस्कॉन** [forskon] ∠ ***पृस्ख्यति**
[pr̥skhatı]

च :—संस्कृत च ध्वनि उन प्रा० भा० यू० ***क** तथा ***क्व** से विकसित हुई है, जिनके परे कोई अग्रस्वर था। संस्कृतमे ही कई धातुओ तथा शब्दोंमे 'क' तथा 'च' का विपर्यय देखा जाता है, जैसे स० √ शुच् [शुक्] धातुसे **शुक्र** तथा **शुचि** दोनों शब्द निष्पन्न होते हैं।

संस्कृत **चकार** ∠ ***ककोर** [kekōre]।

,, **चचक्ष** ∠ ***ककोक्स** [kekokse]।

,, **चित्**, ग्रीक **तिस्** [tıs] ∠ ***क्वि** [kʷı]।

ज :—संस्कृत ज प्रा० भा० यू० ***ग** तथा ***ग्व** से विकसित है, जो अग्रस्वरसे पूर्व थे। संस्कृतमे **ग** तथा **ज** का विपर्यय देखा जा सकता है, **स्रक्** [स्रग्], **स्रजौ, स्रज.**।

स० **ओजस्**, लै० **ओगस्** [ogas] ∠ ***अउगस्** [augas]।

,, **जीव**, प्रा० स्लाव्योनिक **ज़्हीव्प** [zhıvpa] ∠ ***ग्वीवा** [**ग्वीवास्**]
[*gʷıwos]।

,, **जगाम** ∠ ***ग्वग्वाम** [gʷegʷome]।

झ :—'झ' को संस्कृतमे 'ज' का महाप्राण माना जाता है, पर भाषाशास्त्रीय तथ्य भिन्न है। अग्रस्वरके पूर्ववर्ती प्रा० भा० यू० 'घ' 'घ्य' संस्कृतमे आकर 'ह' के रूपमे विकसित हुए हैं। पश्च स्वर या अन्य ध्वनियोके पूर्व वे 'घ' ही बने रहे हैं। अतः जिस प्रकार **घ, ग** का महाप्राण है, उसी प्रकार भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे **ह, ज** की महाप्राण ध्वनि है। संस्कृतकी

'झ' ध्वनि शुद्ध भारोपीय शब्दोंमे नहीं पाई जाती। अधिकतर इस ध्वनिवाले शब्द या तो बाहरसे संस्कृतमे आये है, या अनुकरणात्मक शब्द है, यथा झटिति, झणझणायित, झांकृतैर्निर्झराणाम् मे।

ह :—संस्कृतमे दो प्रकारकी 'ह' ध्वनि पाई जाती है, एक सघोष दूसरी अघोष। भारतीय विद्वानोंको इस बातका पूरा पता था, यद्यपि अघोष 'ह' के लिए कोई विशेष लिपि संकेत न होकर, केवल विसर्ग पाई जाती है। पाणिनिने या उनके पूर्ववर्ती किसी वैयाकरणने वर्णसमाम्नायमे[1] दो बार 'ह' का प्रयोग किया है—हयवरट्, हल्। इनमे प्रथम सूत्रका 'ह' सघोष है, द्वितीय वाला 'अघोष'। यहाँ हमे सघोष 'ह' के विकास पर हो सकेत करना है कि वह प्रा० भा० यू० *घ, *व्य, *घ्वसे विकसित हुआ है।

सं० द्रुह्यति ∠ *√ध्रेव्घ [√ध्रोव्घ] [*ध्र्व्घ्य्ति *dhıewghyti]

„ हन्ति ∠ *√घ्वन् [घ्नेन् [घ्नेन्, घ्नोन्] *घ्वन्ति [gh"nti]

[ग्रीक, थेइनो [theino] [मै मारता हूँ]

„ वहति, अवे० वज्इति [wazaiti], लै० उएहित [uehit]

∠ *व्एघ्एति [*wəgheti]

प्रा० भा० यू० मे प्रतिवेष्टित ध्वनियाँ [मूर्धन्य ध्वनियाँ] थी ही नहीं, किन्तु संस्कृत मे 'ट, ठ, ड, ढ, ण' ये प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] स्पर्श ध्वनियाँ पाई जाती है। ये ध्वनियाँ कहाँ से आई? अधिकतर ऐसी धारणा चल पड़ी है कि ये ध्वनियाँ द्रविड भाषाओंकी ध्वनिसम्पत्तिका प्रभाव है; किन्तु वे

---

१ विद्वानोंका इस विषयमें ऐकमत्य नही है कि वर्णसमाम्नायकी रचना पाणिनिने की थी, या उनसे पूर्ववर्ती वैयाकरण [शिव या माहेश्वर ?] ने।

है कि क्या नतिभाव ध्वनिशास्त्रीय दृष्टिसे ठीक है, तथा 'ग्' वाले रूप ध्वनि-नियमके अपवाद हैं, अथवा यह बात विपरीत रूपमें है। तथापि, वाकेर-नागेलके मतानुसार इन स्थानोपर नतिभाव [मूर्धन्यता] को ही नियतरूपी मानना होगा, क्योंकि ऐसा न माननेपर कण्ठ्य ध्वनिके साथ पाई जाने वाली नतिको, जैसे दिक्षु = दिक् + षु; दृक्षु = दृक् + षु मे—स्पष्ट करने मे अशक्तता होगी।[1] इसी प्रकार अन्य प्रा० भा० यू० तालव्य ध्वनियो 'क्य', 'ग्य' 'घ्य' ने भी अपनी अपनी प्रतिवेष्टित ध्वनियोंको विकसित किया है। जैसा कि हम अनुपद्मे देखेंगे ये तालव्य ध्वनियाँ संस्कृत प्रति-वेष्टित [मूर्धन्य] ध्वनियोके विकासमे महत्त्वपूर्ण कार्य करती है।[2]

ट :—संस्कृतकी ट ध्वनि एक ओर प्रा० भा० यू० *त का विकसित रूप है, जो कभी रेफसे युक्त था, तो दूसरी ओर कभी प्रा० भा० यू० *क्य [स० श] तथा कभी *ग्य, *घ्य [स० ज, ह] से युक्त था। उदाहरण के लिए सं० कटु ∠ *कर्तुस् [kartus]; सं० वष्टि [वश् — ति], मृष्ट [मृज् — त], राष्ट्र [राज् — त्र] को ले सकते है। सस्कृतके सामान्य भूते लुङ्के अयाट् [∠ — याज् — त], अवाट् [∠ — वाह् — त] मे, जो √यज् तथा √वह् धातुके रूप है, प्रा० भा० यू० *ग्य, *घ्य है, जो सस्कृतमे क्रमशः ज तथा ह हो गया है। सतं वर्गकी अन्य भाषाओके तुलनात्मक अध्ययनसे इस बातकी पुष्टि होती है कि ये ध्वनियाँ धातुमे मूलतः स्पर्श व्यञ्जन न होकर सघोष ऊष्म थीं, यथा अवेस्ता यज़इति [yazaiti] [स० यजति], प्रा० चर्च स्लावोनिक वेज़ [wez] [स० √वह्]।

ठ :—संस्कृत थ इसी प्रकार रेफ, श, ज तथा ह के योग से *थ का विकसित रूप हैं। यथा, जठर, गॉथिक क्ल्थ़ेइ [kilpei] के आधारपर

---

१. Wackernagel. Altindische Grammatik. [Lautlehre] Vol I pp 173-5 § 149

२ Bloch L'Indo-Aryen p 53.

प्रा० भा० यू० √ *ग्वृर् [गृ र्] [g^{w}r̥ gr̥] धातुसे *ग्वृर्-थो [g^{w}r̥-tho] जैसे रूपकी कल्पना की जा सकती है।

ड [ळ] :—कभी-कभी प्रा० भा० यू० दन्त्योंके नतिभावमें प्रा० भा० यू० सघोष ऊष्म *ज़् [*z] का प्रमुख हाथ देखा जाता है। यह वहाँ होता है, जहाँ ज़् के योगमें पाई जानेवाली दन्त्य ध्वनि सघोष [द, ध] है। यह नतिभाव प्रायः वहाँ होता है, जहाँ प्रथम पूर्ववर्ती स्वर अ या आ नहीं है। इस प्रकारके परिवर्तनमें कोई नई बात नहीं है, क्योंकि अ तथा आ से भिन्न स्वर होनेपर प्रा० भा० यू० *ज [z] का विकास *ज़्+[ʒ] के रूपमें हो जाता था। यह विकास ठीक उसी तरह होता था जैसे सघोष 'स' ध्वनि अ तथा आ से इतर स्वर ध्वनिके पूर्ववर्ती होनेपर ष हो जाती है। जैसे, देवेषु, हरिषु, गोषु में, जब कि पयःसु, रमासु में स ध्वनि अपरिवर्तित रहती है। जिस प्रकार यह ष किसी दन्त्यका नतिभाव कर देता है, ठीक वैसे ही यह ज़्+[ʒ] भी नतिभावका कारण बनता है। इन दोनों दशाओं में भेद यही है कि ष ध्वनि संस्कृतमें लुप्त नहीं होती, जब कि ज़्+लुप्त हो जाती है। इसका कारण संभवतः यह है कि संस्कृतकी ध्वनियों [phonology] में ज़् [z], ज़्+[ʒ] ये ध्वनियाँ हैं ही नहीं। संस्कृत 'ळ' ध्वनि जो वेदमें पाई जाती है, स्वरमध्यगत 'ड' का विकास है। संस्कृत दूळभ को *दुर्दभ का रूप मान सकते हैं।

संस्कृत *दूडभ [दूळभ] ∠ *दुज़्+दभ [duʒ—dabh] ∠ *दुज़्—दभ [duz—dabh]

" नीड ∠ *निज़्+द [niʒ—d] ∠ *नि—सृद्—अ [ni—sd—a]

ढ :—संस्कृत ड की भाँति ढ के विकासमें *ज़्+का विशेष हाथ है। इसे हम ज़्+ +ध का विकसित रूप मानते हैं, यथा—

सस्कृत अस्तोढ्वम् [वैदिक रूप][1] [√स्तु] ∠ *अ – स्तोज़् + – ध्वम् [a – stoʒ – dhwam] ∠ *अ – स्तोष् – ध्वम् [a – stoṣ – dhwam]

किन्तु ध्यान दीजिये अ या आ ध्वनिके पूर्व होनेपर ढ नहीं होगा, यथा भापध्वे। वाकेरनागेलने इसीके अचिड्ढि[2] [√अवृसे सामान्यभूते लुङ्], तथा द्विड्ढि, ढ [√द्विष्से लोट्का रूप] दिये है।

सस्कृतकी दन्त्य तथा द्वयोष्ठ्य ध्वनियाँ प्रा० भा० यू० दन्त्य तथा द्वयोष्ठ्य ध्वनियोसे सीधे विकसित हुई है।

त :—संस्कृत त प्रा० भा० यू० *त का अपरिवर्तित रूप है, पितृ ∠ *प्अतेर।

थ :—संस्कृत थ प्रा० भा० यू० *थ का अपरिवर्तित रूप है, यथा, सस्कृत **रथ**, अवेस्ता **रथ** [raθa], ग्रीक ह्राथोस् [e,rothos] ∠ *रोथोस् [rothos]।

स० √ग्रन्थ [ग्रथ्], ग्रोन्थोस् [gronthos] [हथौडा] गुर्ग्रथोस् [gur-grathos] [डलिया]

∠ *ग्रोन्थोस्, *ग्रोथोस् [*√ ग्रोन्थ्, ग्रोथ्] [*gronthos, grothos] [*√gronth, groth]

द :—सस्कृत द ध्वनि प्रा० भा० यू० *द का अपरिवर्तित रूप है। जैसे, सस्कृत ददाति, ग्रीक देदोति [dedōti] ∠ *देदोति [dedōti]

---

१. दे० मेकडोनलः वैदिक ग्रामर पृ० ४२०.

२. वाकेरनागेलः अल्तिन्दिश्के ग्रामातीक. भाग १. § १५० (वी). पृ० १७६.

ध :—सस्कृत ध ध्वनि प्रा० भा० यू० *ध का अपरिवर्तित रूप है, जैसे, स० दधार, ग्रीक तेथेतइ [tethetai] ∠ *धेधोरे [dhedhoie]

प्रा० भा० यू० ध भी प्रा० भा० यू० घ, घ्व की भाँति अग्रस्वरसे पूर्व होनेपर सस्कृतमे आकर ह हो जाता है। इसके उदाहरणके रूपमे हम सस्कृत हित को ले सकते है, जो √ धा धातु से क्त [धा+क्त] प्रत्यय जोड़कर बना है। यहाँ ध का ह हो गया है। पाणिनिने स्वय भी इस भाषाशास्त्रीय तथ्यको 'दधातेर्हिः' इस सूत्रके द्वारा स्वीकार किया है। ग्रीकमे यह प्रा० भा० यू० *ध, 'थ' [th] हो जाता है।

प :—सस्कृत प ध्वनि प्रा० भा० यू० *प का अपरिवर्तित रूप है, यथा, पिता ∠ *पअतेर [pəter], स० पत्नी, ग्रीक पोत्निआ, ∠ * पोत्नी

फ :—सस्कृत फ प्रा० भा० यू० *फ का अपरिवर्तित रूप है, यथा, सस्कृत फल, ग्रीक फुल्लोन [phullon] [पत्र] ∠ *फल्लो—
[*phallo—]

ब :—सस्कृत ब प्रा० भा० यू० *ब का अपरिवर्तित रूप है, यथा, सस्कृत बर्हिः, अवेस्ता बर्अजिश् [barəzis̆] ∠ *बरघिस्
[barghis]

भ :—सस्कृत भ प्रा० भा० यू० *भ का अपरिवर्तित रूप है, यथा, सस्कृत भरति, अवेस्ता बरइति [baraiti], ग्रीक फेरेसि [bheresi]
∠ *भेरेति [bhĕrĕti]

प्रा० भा० यू० *भ वैदिक सस्कृतमे ह के रूपमे भी विकसित दिखाई देता है। √ ग्रभ्—√ ग्रह् जैसे वैकल्पिक रूप वेदमे पाये जाते हैं, पर यह विशेषता विभाषागत मानी जा सकती है।

ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे सस्कृतमे ण, न, म ये तीन ही अनुनासिक ध्वनियाँ मानी जा सकती है। ङ तथा ञ स्वतन्त्र ध्वनियाँ न होकर न के ही

ध्वन्यग हैं। न ध्वनि कवर्गीय ध्वनिके परवर्ती होनेपर ङ तथा चवर्गीय ध्वनिके परवर्ती होनेपर ञ हो जाती है। उदाहरणके लिए हम **यङ्-कामयते**, **शञ्च मे**, को ले सकते हैं। कभी कभी **क–ग** ध्वनियाँ उनसे परे **न** या **म** ध्वनि होनेपर ङ का रूप धारण कर लेती है, यथा **वाङ्-मय**, **दिङ्-नाग** मे। किन्तु यहाँ ङ को स्वतन्त्र ध्वनि न मानकर **क-ग** ध्वनियोंका ही सन्ध्यात्मक [prosodic] रूप मानना ठीक है। कुछ विद्वान् **ण** को स्वतन्त्र ध्वनि माननेके पक्षमे नहीं है। ज्यूल ब्लॉख इसे स्वतन्त्र ध्वनि माननेपर जोर देते हुए लिखते है :—किन्तु [ङ, ञ, ण मेसे] अकेला मूर्धन्य [ण] ही स्वतन्त्र ध्वनि है तथा स्वरमध्यगत रूपमे प्रकट होता है। यह या तो उस स्वरके बाद होता है, जो प्रागैतिहासिक रूपमे ऋ था, या वह स्वय **र** या **ष** का परवर्ती है। यह एक स्वतन्त्र ध्वनि है, किन्तु इसकी स्वय-की स्थिति सीमित है। यह ध्वनि पदादिमे नहीं पाई जाती। नव्य भारतीय भाषाओंमे इसका अत्यधिक विस्तार पाया जाता है।[१]

ङ, ञ—ये दोनो अनुनासिक 'न' के ही ध्वन्यग है। कभी कभी ऐसे स्थानोपर भी जहाँ 'कवर्गीय' ध्वनिका ऐतिहासिक कारणोसे विकल्पसे लोप हो गया होता है, 'ङ' ध्वन्यग पाया जाता है, यथा **युङ्ते**, **युङ्धि** वस्तुतः **युङ्क्ते**, **युङ्ग्धि** के ही रूप है।

ण :—यह वह **न** ध्वनि है, जो **ऋ, र, ष** के प्रभावसे **ण** हो गई है, अथवा परवर्ती टवर्गीय ध्वनिके कारण **ण** हो गई है। उदाहरणके लिए इन शब्दोको ले ले—**वर्ण**, **नृणाम्**, **कृपण**, **क्षोभण**, **निवण्टु**, **मण्डयति**।

न :—सस्कृत **न** प्रा० भा० यू० ***न** का अपरिवर्तित रूप है, यथा सस्कृत **मनस्**, ग्रीक **मॅनॉस्** [menos] ∠ ***मॅनॉस्** [menos]

म :—सस्कृत **म** प्रा० भा० यू० ***म** का अपरिवर्तित रूप है, यथा

१ Bloch L'Indo-Aryen P 71

संस्कृत मातृ [मातर्], ग्रीक मातेर् [mater], लैतिन मातेर् [māter]
∠ *मातेर् [*māter]

,, नामन्, लैतिन नोमॆन् [mōmen] ∠ *नोमॆन् [nōmen]

अन्तःस्थ ध्वनियोंको लेनेके पूर्व सुविधाकी दृष्टिसे हम ऊष्म ध्वनियोंको पहले ले लेते हैं। ये ध्वनियाँ तीन हैं —श, ष, स। श का अध्ययन हम कर चुके हैं, अतः यहाँ ष तथा स को ही लेंगे। इनके साथ 'ह्' के उस रूपको भी लेंगे, जो अघोष 'ह़' है।

ष —संस्कृत 'ष' प्रा० भा० यू० *स अथवा भारतईरानी श का ही विकसित रूप है। जहाँ ये ध्वनियाँ ऋ, र, तथा टवर्ग के योगमें साथ ही इ, उ, ए, ओ तथा कण्ठ्य ध्वनिकी परवर्ती होती हैं, ष हो जाती है। वैसे इ के विकासमें हम बता चुके हैं कि ष वस्तुतः स [अघोष ऊष्म ध्वनि] का ही प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] रूप है, जो अ, आ से भिन्न स्वरसे परवर्ती होने-पर ष हो जाता है।

स :—संस्कृत स प्रा० भा० यू० *स का अपरिवर्तित रूप है, यथा—

संस्कृत अस्ति, ग्रीक ऍस्ति [esti], लैतिन एस्त [est] ∠ *ऍस्ति [esti]

ह़ :—यहाँ हम ह के अघोष रूपको लेंगे। अघोष ह़ का उच्चारण संस्कृतमें सदा पदान्तमें पाया जाता है। इसे संस्कृतमें विसर्ग कहते हैं। रामः, हरिः में यही अघोष ह़ है। संस्कृतमें विसर्गके उच्चारणकी एक विशेषता है कि वह पूर्ववर्ती स्वर ध्वनिसे युक्त होकर उच्चरित होता है। रामः, हरिः का वास्तविक उच्चारण [रामह, हरिहि] होता है। यह अघोष ह़ प्रा० भा० यू० पदान्त *स् या *र् से विकसित हुआ है।

संस्कृत अन्तःस्थोंका विकास :—प्रा० भा० यू० भाषाकालसे ही इस परिवारकी भाषाओंमें अन्तःस्थ बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य करते देखे जाते हैं। जैसा कि हम द्वितीय परिच्छेदमें बता आये हैं, प्रा० भा० यू० में **य, व, र, ल** के अतिरिक्त **न, म** भी अंतःस्थ थे। अन्तःस्थोंने भारतयूरोपीय भाषाओंकी उस विशेषतामें प्रमुख कार्य किया है, जो अपश्रुति कहलाती है। वैसे वैज्ञानिक दृष्टिसे अन्तःस्थोंका विचार हमें स्वरध्वनियोंके साथ ही करना चाहिए था, किन्तु सुविधाकी दृष्टिसे हमने ऐसा नहीं किया है। हम देखते हैं कि संस्कृत **य, व, र, ल** प्रा० भा० यू० ***य, *व, *र, *ल** से विकसित हुए हैं, किन्तु फिर भी प्रत्येक प्रा० भा० यू० ***र** तथा प्रत्येक प्रा० भा० यू० ***ल** संस्कृतमें क्रमशः **र** तथा ल के रूपमें विकसित हुए हैं, यह मानना भ्रांतिपूर्ण होगा। प्रतिवेष्टित ध्वनियोंके विकासकी भाँति वैदिक संस्कृतकी दूसरी विशेषता प्रा० भा० यू० ***र, *ल** का विकास है। ऋग्वेदमें **र, ल** ध्वनियोंका अध्ययन करनेपर पता चलता है कि ऋग्वेद कालमें ही कई विभाषाओंमें इनका विकास परस्पर एक दूसरेके लिए पाया जाता है। प्रत्येक प्रा० भा० यू० ***ल** अवेस्तामें **र** हो गया है, और ऋग्वेदमें भी यह प्रायः **र** ही पाया जाता है, वहाँ **ल** बहुत कम पाया जाता है। यह मानना गलत न होगा कि भारत-ईरानी शाखामें आकर प्रा० भा० यू० ***ल, र** हो गया है। जहाँ ग्रीक आदिमें **ल** पाया जाता है, वहाँ यदि इस शाखा में **र** है, तो वह इसी वैभाषिक विशेषताके कारण। उदाहरणके लिए संस्कृत √रक्ष्, ग्रीक अलेक्सो [alekso], सं० रिच्, लैटिन लिक्वो [linquo] सं० **गर्भ**, ग्रीक देल्फास् [delphos] को ले सकते हैं। किन्तु भारत-ईरानी शाखामें ऐसी भी विभाषा रही होगी, जिसमें प्रा० भा० यू० ***ल** अपरिवर्तित रहा होगा, यथा सं० **लोक**, लै० लुकुस [lucus], सं० **श्लोक**, ग्रीक क्लुओ [kluo]। वैसे संस्कृतमें ऐसे भी शब्द मिलते हैं, जिनमें प्रा० भा० यू० ***र, ल** हो गया है,

यथा सं० क्रोश लिथुआ० क्रौक्ति [kroukti], सं० लुम्प्, लैटिन रुम्पो [rumpo]। इन कारणोसे यह स्पष्ट है कि संस्कृत का र, ल का विकास खिचडी-सा रहा है। ये ध्वनियाँ केवल मूल शब्दो [धातु तथा प्रातिपदिकों] में ही परिवर्तित न होकर प्रत्ययो तकमे परिवर्तित हो जाती है, यथा, सं० शुक्-ल, [शुक्ल] शुक्-र [शुक्र], सं० भल्ल ∠ *भद्-ल, भद्-र [भद्र]। इसीलिए प्रत्याहार सूत्रोंमे पाणिनिने बताया है कि उनके व्याकरण में र से र का ही नहीं ल का भी ग्रहण होता है। बादके संस्कृत विद्वानोंने भी 'र, ल' मे अभेद माना है, यमक तथा श्लेष अलकारमे इनका अभेद वाला प्रयोग बहुत पाया जाता है [रलयोरभेद]। संस्कृत य, व प्रा० भा० यू० *य, *व से विकसित हुए है, यथा,

सं० युगम्, ग्रीक ज़ुगॉन् [zugon], लै० जुगुम् [zugum],
गॉथिक जुक् [zuk], प्रा० अंग्रेजी ज्योक [zyok],
आ० अंग्रेजी योक [yoke] जर्मन ज़ोख [zoch],
रूसी इगो [igo] ∠ *युगॉम् [yugom]

सं० अश्व, ग्रीक हप्पास् [heppos], लिथु० अश्व [asˇva]
∠ *एक्वास् [ekʷos]

सं० अवि ग्रीक ऑउइस् [ouis], लैटिन ऑविस् [ovis],
प्रा० आयरिश ओइ [oi] गॉथिक अवि-स्त्र [awi-sti]
प्रा० अ० [eowe, eown [आ० ewe] लिथु० अविस् [avis],
प्रा० स्लावोनिक, ओव्यत्सा [ovy-tsa], रूसी ओव्त्सा
[ovtsa] ∠ *ऑवि [owi]

जैसा कि हम बता चुके हैं इन्हीं चार अन्त.स्थ ध्वनियोके स्वररूप इ, उ, ऋ, ऌ, हैं। संस्कृतके सन्धि तथा सम्प्रसारणके नियमोसे यह स्पष्ट है कि ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे इनमें विशेष भेद नहीं है—दधि + अन्न [दध्यन्न],

मधु+अरिः [मध्वरि.], इयेष, उवाच आदि उदाहरणोंसे यह स्पष्ट है। इन छः अन्तःस्थों [यदि न्, म्, को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो, जो प्रा० भा० यू० में अन्तःस्थ थे, किन्तु संस्कृतमें नहीं] में से य, व का विकास संस्कृतमें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। य तो कभी-कभी दो स्वरोंमें संधि न होने देनेके लिए भी प्रयुक्त होता है, यथा रमया, धिया में। यहाँ रमा तथा धी प्रातिपदिक हैं, जिनमें तृतीया एकवचनकी सुप् विभक्ति आ [टा] जोड़ी गई है। ध्यान देनेपर पता चलेगा कि रमा+आ, धी+आ से क्रमशः *रमा, *ध्या रूप बननेकी संभावना है, साथ ही एक गड़बड़ी यह भी होती है कि प्रातिपदिकका अक्षर-भार तथा विभक्ति रूपका अक्षर-भार [syllabic weight] एक सा बना रहता है। अतः एक ओर इस संधिको रोकनेके लिए दूसरी ओर द्वयक्षर प्रातिपदिक [रमा] को त्र्यक्षर विभक्तिरूप तथा एकाक्षर प्रातिपदिक [धी] को द्वयक्षर विभक्ति रूप बनानेके लिए 'य' का प्रयोग किया गया है। पर यह ध्यान देना होगा संस्कृतमें यह 'य' श्रुति [glide] न होकर शुद्ध ध्वन्यात्मक तत्त्व [phonological element] है।

इसी संबंधमें दो शब्द संस्कृतमें पाई जानेवाली अपश्रुतिके विषयमें कह दिये जायँ। 'अपश्रुति' से हमारा तात्पर्य स्वर ध्वनियों तथा स्वर ध्वनियुग्मोंके उस परिवर्तनसे है, जो मूल भारोपीय भाषामें होता था। ये स्वर संबंधी परिवर्तन, मुख्यरूपेण शब्दके उदात्तादि स्वरकी प्रकृति तथा स्थानसे संबद्ध थे, तथा गुण संबंधी एवं मात्रा संबंधी हो सकते थे। संस्कृत भाषाके छात्रके लिए इनमेंसे मात्रिक अपश्रुति विशेष महत्त्वकारिणी है, किन्तु यहाँ गौणी अपश्रुति पर भी कुछ कह देना आवश्यक होगा। गौणी अपश्रुतिमें प्रा० भा० यू० अ, ए, ओ के ह्रस्व तथा दीर्घ रूप परस्पर परिवर्तित होते थे। अर्थात् इस प्रकारकी अपश्रुतिमें एक स्वर-ध्वनि सर्वथा भिन्न ध्वनि बन जाती थी। प्रा० भा० यू० में तथा ग्रीक आदि भाषाओंमें जहाँ प्रा० भा० यू० स्वर शुद्ध रूपमें वर्तमान हैं, ए व ओ के ह्रस्व तथा

प्रा० भा० यू० मे *इय् *उव् जैसे ध्वनियुग्म सर्वथा नहीं थे, यह बात ध्यानमे रखनेकी है।

चूँकि यह परिच्छेद केवल ध्वनियोके ऐतिहासिक विकासपर ही न होकर उनके उच्चारणसे भी सबद्ध है, कुछ शब्द वैदिक संस्कृतकी उच्चारण सबधिनी विशेषताओपर कह दिये जायँ। जहाँ तक अन्य ध्वनियोका प्रश्न है, प्रातिशाख्य तथा शिक्षाग्रन्थोमे इनका उच्चारण ठीक वही सकेतित किया गया है, जो लौकिक सस्कृतमे पाया जाता है। किन्तु **य, व, ष** तथा **अनुस्वार** के उच्चारणमे वैदिक कालमे कुछ भेद था। इन विशेषताओ का सकेत यद्यपि प्रातिशाख्योमे नहीं मिलता, तथापि शिक्षाओमे तथा आज भी उच्चरित किये गये वेद मन्त्रोमे ये विशेषताएँ स्पष्ट परिलक्षित होती है। वैदिक कालमे ये विशेषताएँ वैभाषिक रही होगी। अधिकतर ये विशेषताएँ यजुर्वेदके उच्चारणमे पाई जाती है, तथा इस प्रवृत्तिका प्रभाव ऋग्वेदके उच्चारणपर भी पडा है।[1] लौकिक सस्कृतमे आकर ये विशेषताएँ लुप्त हो गई, किन्तु इनमेसे कुछ विशेषताओको प्राकृत तथा देशी विभाषाओने ग्रहण कर लिया। शिक्षा ग्रन्थोके मतानुसार असयुक्त **'यकार'** का उच्चारण पदादिमे रहनेपर **'ज'** होता था। पद मध्यमे भी **'य, ऋ, र, ण, ह** से युक्त होनेपर वह ज उच्चरित होता था :—'

पदादौ विद्यमानस्य ह्यसंय्युक्तस्य यस्य च।
आदेशो हि जकारः स्यात् युक्तः सन् हरणेन तु॥
रेफेनाथ हकारेण युक्तस्य सर्वथा भवेत्।
यकारर्कारयुक्तस्य जकारः सर्वथा भवेत्॥

[माध्यन्दिनीशिक्षा २.३-५]

---

१. देखिये मेरा निबंध "यजुर्वेदके मंत्रोका उच्चारण" [शोधपत्रिका २००६]

यजुर्वेदके उच्चारणमें [ऋग्वेदमें भी] यद्भूत यच्च भाव्यम् का उच्चारण "जद्भूत जच्च भावियम्म" होता है। इसी प्रकार सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च का उच्चारण सूज्जं आत्मा जगतस्तस्थुखश्च होता है। इसी प्रकार पदादि 'व' का उच्चारण भी वहाँ एक विशेषता रखता है। माध्यन्दिनी शिक्षाकारके मतानुसार इसका उच्चारण 'गुरु' होता है।

गुरुर्व्वकारो विज्ञेय पदादौ पठितो भवेत् ॥ [वही २-६] माध्यन्दिनी शिक्षाकारका तात्पर्य 'गुरु' शब्दसे यहाँ व के दन्त्योष्ठ्य रूप [व्व, β] से है। संस्कृत वैयाकरणोंने व को दन्त्योष्ठ्य मानता है—[वकारस्य दन्त्योष्ठ्यम्]। व का दो तरहका उच्चारण यजुर्वेदमें पाया जाता है, पदादिमें व्व [β], पदमध्यमें व [w][1]। शुक्ल यजुर्वेदी आज भी पदादि व का उच्चारण दन्त्योष्ठ्य [dento-labial] करते हैं, यथा ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुष. का याजुष उच्चारण ततो व्विराडजायत व्विराजो अधिपूरुख होता है। किन्तु पदमध्यमें य, व का उच्चारण ज, व नहीं होता, यथा तस्माज्जाता अजावय के उच्चारणमें, जो इसी तरह उच्चरित होता है।

'ष' का उच्चारण 'ट' वर्गीय ध्वनिसे अयुक्त होनेपर ख होता है। माध्यन्दिनीशिक्षा तथा केशवीशिक्षामें इस विशेषताका उल्लेख मिलता है।

पकारस्य खकार स्याट्टुकयोगे तु नो भवेत् ॥

[माध्य० शि० २-१]

ष' खष्टुमृते च ॥ [केशवीशिक्षा २]

उदाहरणके लिए सहस्रशीर्षा पुरुष का उच्चारण सहस्रशीर्खा पुरुखः किया जाता है। किन्तु "त्यतिष्ठद्दशांगुलम्" में टुकयोग है इसलिए यहाँ ष का उच्चारण ख नहीं होता। यजुर्वेदकी चौथी उच्चारण विशेषता, जिसे ऋग्वेदने भी अपना लिया है, अनुस्वारके उस उच्चारणसे सबद्ध है, जब उसकी परवर्ती ध्वनि सोष्म [श, ष, स] या प्राणध्वनि [ह] हो। ऐसी

---

१ देखिये, वही निबध।

स्थितिमे अनुस्वारका उच्चारण 'गुम्' होता है। यथा अंशुना का उच्चारण अग्गुंशुना होता है, तथा पुरुष एवेदं सर्वं का उच्चारण पुरुख एवेदग्गुं सर्वं होता है। ये विशेषताएँ वैदिक कालकी ही कुछ विभापागत विशेताएँ रही होगी। इनमे पदादि य का ज होना, तथा ष का ख होना तो प्राकृतमे भी पाया जाता है। कई सस्कृतके पण्डित आज भी लौकिक सस्कृतके पदादि य का ज तथा ष का ख उच्चारण करते देखे जाते है। पदादि सस्कृत य का उच्चारण कई मैथिल तथा वगाली पण्डित ज करते है।

संस्कृत ध्वनियोंकी सन्ध्यात्मक विशेषता [Prosodic features]:—

ध्वनिशास्त्रीय दृष्टिसे स्वर तथा व्यञ्जन ध्वनियोंकी उस विशेषताका भी वडा महत्त्व है, जिसे हम पारिभापिक पदका प्रयोग करते हुए "सन्ध्यात्मकता" [prosody] कह सकते है। इसके अन्तर्गत हम उस विशेषताको लेते हैं, जो व्याकरण ग्रन्थोमे अच्संधि, हल्सधि तथा विसर्गसंधिके नामसे प्रसिद्ध है। किस प्रकार स्वर ध्वनियाँ तथा व्यञ्जन ध्वनियाँ परस्पर मिलकर पद, वाक्याश तथा वाक्यमे एक नये रूपमे परिवर्तित हो जाती है, इसका विस्तारसे विवेचन सस्कृत व्याकरणके सन्धि प्रकरणके अन्तर्गत देखा जा सकता है। यहाँ पर हम कुछ महत्त्वपूर्ण विपयोपर सकेत मात्र करेगे, क्योकि प्रस्तुत ग्रन्थ व्याकरणको दृष्टिमे रखकर नहीं लिखा गया है।

[१] पाणिनिका 'इको यणचि' सूत्र इस वातकी पुष्टि करता है कि इ, उ, ऋ, ऌ तथा य्, व्, र्, ल् में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, तथा परवर्ती ध्वनिके स्वर होनेपर इनका स्वरूप पुनः व्यञ्जनत्वको प्राप्त कर लेता है, दध्यानय, मध्वरिः, धात्रंशः, लाकृतिः।

[२] पाणिनिका 'एचो यवायावः' सूत्र इस वातकी पुष्टि करता है कि ए, ओ, ऐ, औ क्रमशः अय्, अव्, आय्, आव् ये ध्वनियुग्म ही है। तभी संधिमे ये पुनः वास्तविक रूपको प्राप्त कर लेते है हरये, विष्णवे, नायकः, पावकः।

[३] भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे अ तथा आ; इ तथा ई, उ तथा ऊ में कोई ध्वन्यात्मक भेद नहीं। इसी बातका संकेत 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र करता है। इनमें जो भेद है, वह ध्वन्यात्मक [phonematic] न होकर छन्दात्मक [prosodic] तथा मात्रात्मक [qualitative] है।

[४] संस्कृत 'श' का 'छ' से घनिष्ठ सम्बंध है, यह संकेत पाणिनिके सूत्र 'शश्छोटि' से मिलता है।

[५] उस ध्वनिकी पूर्ववर्ती अघोष स्पर्श ध्वनि भी संधिमें सघोष हो जाती है। ध्यान रखिये सघोष ध्वनिके सम्पर्कमें आकर अघोष भी सघोष हो जाती है। इस तरह अघोष स्पर्श ध्वनिसे परे सघोष स्पर्श ध्वनि होनेपर भी अघोष सवर्गीय सघोष ध्वनि बन जाती है। दिक्+इन्द्रः [दिगिन्द्रः], दिक्+राज [दिग्राजः], दिग्डिण्डिम।

[६] इसी तरह अघोष या सघोष अल्पप्राण स्पर्श ध्वनिसे परे अनुनासिक स्पर्श ध्वनि होनेपर वह ध्वनि सवर्गीय अनुनासिक हो जाती है। दिक्+नागः [दिङ्नागः], षट्+नगर्यः [षण्णगर्यः]।

[७] रेफ, ष या मूर्धन्य ध्वनियोंके सम्पर्कमें आकर दन्त्य ध्वनियाँ भी प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] हो जाती हैं।

[८] हम देख चुके हैं, संस्कृत ह का विकास मूलतः *घ तथा *ध से हुआ है। अतः संधिमें इसका यह मूल रूप पुनः आ जाता है। यदि ह से पूर्व कण्ठ्य ध्वनि होती है तो वह घ हो जाता है, यदि ह से पूर्व दन्त्य ध्वनि होती है तो वह ध हो जाता है। वाक्+हरिः [वाग्घरि], तत्+हरिः [तद्धरि] साथ ही यदि पूर्ववर्ती ध्वनि अघोष है, तो ह के सघोषत्वके कारण वह भी सघोष हो जाती है।

[९] अजन्त पुल्लिंग शब्दोंके द्वितीया बहुवचनके रूपोंके "आन्" वाले रूपोंके बाद चवर्ग या तवर्ग ध्वनियोंके आनेपर क्रमशः 'स्' या 'श्' का आगम हो जाता है, तथा अनुनासिक स्पर्श ध्वनि 'न्' पूर्ववर्ती स्वरको सानुनासिक बनाकर स्वयं लुप्त हो जाती है। तान्+तान् = ताँस्तान्.

अहीन् + च [सर्वान्] = अहीँश्च [सर्वान्]। इससे इस कल्पनाकी पुष्टि होती है कि प्रा० भा० यू० द्वितीया विभक्ति चिह्न *ओन्स् [ons] था।

[१०] यद्यपि विसर्गका उच्चारण अघोष 'ह' होता है, तथापि इसका संबंध 'ह' से न होकर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे स से है। यह स् रेफ [र्] से भी घनिष्ठ संबंध रखता है। संभवतः इसीलिए पाणिनिने विसर्गको 'रु' संज्ञा दी है। यह विसर्ग परवर्ती स्पर्श ध्वनिके अनुसार उसका सस्थानीय रूप धारण कर लेता है। कण्ठ्य ध्वनियोंके पूर्व यह जिह्वामूलीय हो जाता है, ओष्ठ्य ध्वनियोंके पूर्व उपध्मानीय हो जाता है [जिन्हे हम क्रमशः वज्राकार विसर्ग [X] और गजकुम्भाकृति विसर्ग [ᳵ] [भी कहते है], दन्त्य ध्वनियोंके पूर्व यह विसर्ग स् रूपमे, तालव्य ध्वनियोंके पूर्व श् रूपमे, तथा प्रतिवेष्टित ध्वनियोंके पूर्व ष् रूपमे पाया जाता है। उदाहरणके रूपमें हम ततXकिम् , पुनᳵपुनः, ततस्ते, ततश्चक्रे, धनुष्टंकारः को ले सकते है।

[११] अ, आ, ई, ऊ से भिन्न स्वर ध्वनिसे परे होनेपर तथा बादमे किसी स्वर, सघोष स्पर्श या 'य' के होनेपर विसर्ग 'र' हो जाता है। यह विशेषता "हरिर्यथैकः" इस उदाहरणमे देखी जा सकती है। भा० यू० परिवारकी अन्य भाषाओंमे 'स् के र् के रूपमें परिवर्तित होनेकी स्थिति लैतिनमे देखी जाती है। लैतिनमे स्वरमध्यगत [intervocalic] स्, र् हो जाता है। उदाहरणके लिए लैतिनके फ्लोस् [flos] शब्दका षष्ठी बहुवचन रूप फ्लोरिस [floris > *flosis] बनता है। यह ध्वनिशास्त्रीय तथ्य इस बातका संकेत करता है 'स्' तथा 'र्' का परस्पर कोई संबंध माना जा सकता है। ग्रीककी भी कई विभाषाओंमे यह स् ध्वनि स्वरमध्यगत होनेपर र् हो गई थी।[१] वस्तुतः स्वरमध्यगत स् पहले सघोष ज़ बना होगा, तदनन्तर यह र् बना होगा। इसका विकास यों रहा होगा।

---

१ Atkinson · Greek Langauge p 45
also see Buck Comparative Greek and Latin Grammar pp 132–33

V S V ⟶ V Z V ⟶ V R V

[यहाँ V स्वरका, S अघोष दन्त्य सोष्मध्वनिका, Z सघोष दन्त्य सोष्म ध्वनिका, R रेफका चिह्न है।] अघोष दन्त्य सोष्म ध्वनि स्वर या अन्य सघोष ध्वनिके प्रभावके कारण सघोष बन जाती है, तथा रेफ उसी सघोषत्वका प्रतीक है। इस तरह ऊपर दिये गये उदाहरणकी सध्यात्मक सरणि यो मान सकते है।

हरिस् यथैक [हरि· यथैकः] ⟶ हरिज् यथैक ⟶ हरिर् यथैकः [हरिर्यथैक] इस प्रकार हमे यहाँ *हरिज् जैसे रूपकी कल्पना करनी पडती है।

इसीके दूसरे उदाहरण हम ये दे सकते है :—गौ. + गच्छति—गौर्गच्छति, तै. + भृतम् = तैर्भृतम्, मुने + मन = मुनेर्मन , शत्रु + हरति = शत्रुर्हरति, गौ + आगच्छति = गौरागच्छति आदि।

[१२] विसर्गका एक तीसरे प्रकारका विकास और पाया जाता है। विसर्गके पूर्व दीर्घ स्वर ध्वनि आ, ई, ऊ के होनेपर तथा परे सघोष ध्वनि होनेपर उसका लोप हो जाता है। विसर्गके पूर्व ह्रस्व स्वर ध्वनि तथा परे रेफ होनेपर ह्रस्व स्वर ध्वनि दीर्घ बन जाती है तथा विसर्गका लोप हो जाता है। [ढ्रलोपे पूर्वस्य च दीर्घोऽण.], यथा हरी रम्य. [हरिः + रम्य.], शम्भू राजते [शम्भुः + राजते]। इनका ध्वनिशास्त्रीय कारण यह बताया जा सकता है कि यहाँ भी 'विसर्ग' [स्] पहले ज् [z] बन कर फिर लुप्त हुआ संस्कृतमे ज़् [z] जैसी ध्वनिका अभाव है अतः विसर्ग [स्] के सघोष रूपका लोप हो जाता है। पर जहाँ इस लोपसे अक्षर-भार [syllabic weight] मे गडबड़ होती है, वहाँ पहले ह्रस्व स्वरको दीर्घ बनाकर अक्षर-भारकी कमी पूरी की जाती है। यदि विसर्गके पूर्वका अक्षर स्वतः दीर्घ है तो अक्षर-भारकी गड़बडीका प्रश्न ही नहीं उठता, वहाँ लोप होनेसे कोई कमी नहीं होती, अतः न नवीन ध्वनिके सनिवेशका ही प्रश्न उठता है, न उन स्वरध्वनियोके दीर्घीकरणका ही। इसे हम यो स्पष्ट कर सकते है।

[१]—$\bar{V}$S+C[B]—=—$\bar{V}$C[B][1]—[इमा गताः, एता गच्छन्ति]

[२]—$\bar{V}$S+V=—$\bar{V}$ V—[इमा आगताः, इमा अत्र]

[३]—$\bar{V}$S+R [H]—=—$\bar{V}$ R [H]—[इमा राजन्ते, इमा हरन्ति]

[१३] विसर्ग सन्धिका एक तीसरा प्रकार वह होता है जहाॅ विसर्ग [स्] से पूर्व तथा परे दोनो ओर अ ध्वनि हो। ऐसे स्थलोपर दोनो स्वर तथा मध्यगत विसर्ग ओ का रूप धारण कर लेते है। भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे यह माना जा सकता है कि यहाॅ भी स् [:] पहले सघोष 'ज़्' [z] होता है। फिर उसका लोप कर उसकी पूर्ति 'व्' [w] पूरकके द्वारा की जाती है। हम इसे यो बता सकते है :—रामः + अयम् = *राम [ज़्] + अयम् = राम [w] ऽयम् [राम [उ] ऽयम्] = रामोऽयम्। भाव यह है 'व्' श्रुतिका स्वरगत पूरक रूप [closure] अक्षर-भार [syllabic weight] को क़ायम रखनेमे सहायता करता है। साथ ही यह 'व्' *रामायम्' जैसे रूपको बननेसे भी रोकता है, जो अ + अ वाली सधिमे पाया जाता है।

[१४] सधि प्रकरणमे संस्कृतमे ऐसे भी शब्द मिलते है, जो सन्धिगत रूप धारण नहीं करते। इन्हींको **प्रगृह्य** पारिभाषिक सज्ञा दी गई है। अजन्त शब्दोके द्विवचनरूपोमे तथा क्रियाके द्वि० व० रूपोमे ई, ऊ, ए, वाले रूप प्रगृह्य है। इसी तरह अमी, इ, अहो, आ भी प्रगृह्य है। इनके उदाहरण ये है :— इ इन्द्र, कवी इह, आ एवम्, साधू आगच्छतः, अमी अश्वाः, विद्ये इष्टे, याचेते अर्थम्, अहो अपेहि। प्रगृह्य रूप जैसेके तैसे बने रहते है उनमे सहिता स्थितिमे कोई विकार नहीं होता।

---

१. $\bar{V}$ = दीर्घ स्वर [आ, ई, ऊ], S = विसर्ग, स् ; C [B] = सघोष व्यंजन V = स्वर R = रेफ; H = प्राणध्वनि, ह।

विसर्ग संधिके प्रकरणमें कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जिनके विसर्गका व्यंजनके परे रहनेपर सदा लोप पाया जाता है, जैसे **भोः**, **एषः**, **सः** के संधिगत रूपोंमें—**भो नैषध, स ददर्श, एष गच्छति** ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संधिमें ध्वनिशास्त्र बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य करता है, किस प्रकार एक ध्वनि दूसरे प्रकारकी ध्वनिके साथ आकर अपना रूप बदल देती है । एक साथ दो विभिन्न प्रकृतिकी ध्वनियोंके उच्चारणमें वक्ताको असुविधा होती है । वह उनका उच्चारण विभिन्न रूपमें तभी कर सकता है, जब कि दोनों ध्वनियोंका उच्चारण एक साथ न कर क्षण भरके लिए बीचमें ठहर जाय । यदि वह एक साथ अविच्छिन्न प्रवाहमें इनका उच्चारण करेगा, तो ये ध्वनियाँ परस्पर प्रभावित अवश्य होंगी । इस संबंधमें हम देखते हैं कि एक साथ अघोष तथा सघोष ध्वनिका उच्चारण करनेमें वक्ताको असुविधा होती है । यह एक ध्वनिशास्त्रीय तथ्य है कि प्रथम ध्वनिके अघोष होनेपर तथा द्वितीय ध्वनिके सघोष होनेपर वह भी उसी वर्गकी सघोष ध्वनि हो जायगी । यथा **दिक्+गज** [**दिग्गजः**], **वाक्+दण्डः** [**वाग्दण्डः**] में हम देखते हैं कि एक साथ उच्चारणके कारण प्रथम पदके अंतकी अघोष अल्पप्राण स्पर्श ध्वनि परवर्ती सघोष ध्वनिके कारण सघोष हो जाती है । इसी प्रकार परवर्ती ध्वनिके अनुनासिक होनेपर पूर्ववर्ती अघोष अल्पप्राण स्पर्श ध्वनि सवर्गीय अनुनासिक हो जाती है, यह भी हम देख चुके हैं । इन्हें हम **सघोषीकरण** [prosody of voicing] तथा **अनुनासिकीकरण** [prosody of nasalization] कहेंगे । यदि इन पदोंका उच्चारण संहिता [sentence] के रूपमें न किया जाय और पद स्वतन्त्र-उच्चरित किये जायँ तो ये 'सन्ध्यात्मकताएँ' नहीं रहेंगी । हम तीन उदाहरण ले लें, **दिक्+गजः** [दिग्गज], **तत्+मतम्** [तन्मतम्], **तत्+ढक्का** [**तड्ढक्का**] । इनका संहितागत उच्चारण कोष्ठक वाला होगा । एक श्वासमें उच्चरित किये जानेपर, हमारा उच्चारण कोष्ठक वाला ही होगा, चाहे हम उसे बचानेका कितना ही प्रयास क्यों न करें । किन्तु यदि प्रत्येकका स्वतन्त्र

उच्चारण करेंगे तो संधिका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, तथा दिक् कहकर कुछ देर बाद **गजः** कहा जाय, तो 'क्' के उच्चारणमें कोई विकृति नहीं आयगी।

संस्कृतमें जहाँ विसर्ग संधिमें विसर्गका लोप हो जाता है, वहाँ विसर्गके स्थानपर एक क्षणिक विराम-सा पाया जाता है। संधिमें इस क्षणिक विरामका भी बड़ा महत्त्व है। जहाँ उपधावर्ती स्वर ध्वनिके बादका विसर्ग लुप्त हो गया है, तथा अपर पदके आदिमें स्वर ध्वनि है तो पुनः संधि न होने देनेके लिए उच्चारण कर्ता बीचमें कुछ रुककर उच्चारण करता है। यहाँ वह त्वरितगतिका आश्रय इसलिए नहीं लेता कि एक श्वासमें उच्चारण करनेपर स्वरध्वनियोंमें फिर-से दूसरी संधि होनेकी संभावना है। यह क्षणिक विराम संस्कृतमें कोई ध्वन्यात्मक तत्त्व (phonematic element) न होकर केवल सन्ध्यात्मक तत्त्व (prosodic element) है। संभवतः यह एक कण्ठनालिक स्पर्श (glottal stop) है, जैसा कि अरबी भाषामें 'हमजा' का उच्चारण होता है। इस उच्चारण संबंधी विशेषताको इस उदाहरणसे स्पष्ट कर दें।

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमंगलः॥ (**रुद्रसूक्त**) का उच्चारण "**असौ जस्ताम्रो ? अरुण ? उत बभ्रुः सुमंगलः** होता है। यहाँ हम देखते हैं कि **ताम्रो + अरुण; अरुण + उत** में संधि न होने देनेके लिए बीचमें क्षणिक विराम पाया जाता है, जिसके लिए हमने ऊपरके उच्चारणमें ? चिह्नका प्रयोग किया है। वैदिक संस्कृतमें ए तथा **ओ** से परे अ के होनेपर अ का लोप नहीं होता। लौकिक संस्कृतमें यह लुप्त हो जाता है, तथा वैदिक **ताम्रो अरुण** लौकिक संस्कृतमें **ताम्रोऽरुण** हो जायगा। द्रुतगतिसे उच्चारण करने पर **अरुण उत** का उच्चारण ***अरुणोत** हो जायगा, इसे बचानेके लिए ही यह विराम पाया जाता है। विसर्गका लोप होनेपर या ए, ओ का लोप होनेपर भी यह क्षणिक विराम लौकिक संस्कृतके उच्चारणमें भी पाया जाता है। हम एक उदाहरण ले लें—

रम्या इति प्राप्तवती. पताका रागं विविक्ता इति वर्धयन्ती·", यहॉ रम्या· + इति तथा विविक्ता· + इति मे विसर्गका लोप हो गया है, तथा उच्चारण करते समय पाठक 'रम्या' के बाद आधे क्षण भर ठहर कर 'इ' का उच्चारण करता है। यदि यह विराम न होगा तो वाक्योच्चारणका सन्ध्यात्मक रूप *रम्येति, *विविक्तेति हो जायगा। यह रूप एक ओर व्याकरणात्मक रूपको गडबडा देगा, क्योंकि यहॉ दोनो द्वितीया बहुवचनान्त रूप है, दूसरी ओर वर्णिक छन्द भी गडबडा जायगा, जहॉ चतुरक्षर-समुदाय त्र्यक्षर (trisyllable) तथा पञ्चाक्षर समुदाय चतुरक्षर हो जायगा। इसीको रोकनेके लिए इस 'कण्ठनालिक' विरामका प्रयोग होगा।

एक बार सधि होनेपर पुन· सधि न होने देनेके लिए इस विरामके अतिरिक्त अन्य साधनका भी प्रयोग पाया जाता है। यह है बीचमे य् या व् श्रुतिके पूरकका प्रयोग[1]। इस स्थानपर ये शुद्ध ध्वनि तत्त्व न होकर सन्ध्यात्मक तत्त्व ही होते है। सस्कृतके सधिप्रकरणमे हम देखते हैं कि जहॉ अच्सधिमे एक बार पूर्ववर्ती पदके अन्तकी ए, ओ ध्वनिका लोप हो जाता है, वहॉ संहितागत रूप दो तरहके पाये जाते है, एक विराम युक्त रूप, दूसरा श्रुतिगत रूप। यथा,

हरे + इह = हर + इह → हर इह [१]
→ हर (य) इह = हरयिह [२]

विष्णो + इह = विष्ण + इह → विष्ण इह [१]
→ विष्ण (व्) इह = विष्णविह [२]

यहॉ हम स्पष्टतः दो तरहके रूप देखते हैं। य् , व् श्रुतिहीन रूपोंका उच्चारण हर ? इह, विष्ण ? इह करना होगा। द्रुत उच्चारणमे य् , व् श्रुति का प्रयोग इसलिए होता है कि कहीं *हरेह, *विष्णेह रूप न बन

१ देखिये,—मेरा लेख, अन्त स्थ ध्वनियॉ [शोधपत्रिका २००६]

जायँ, तभी अग्र स्वरके सम्बधमें य् तथा पश्च स्वरके सम्बंधमें व् का प्रयोग करनेपर हरयिह, विष्णविह रूप बनेंगे।

यहाँ इन य्, व् श्रुतियोंपर दो शब्द और कह दिये जायँ। वैसे तो यह सिद्धान्त माना जा सकता है कि य्, व् का श्रुतिविभाजन परवर्ती ध्वनिके रंग [colour] पर आधृत है, यथा ओष्ठ्य, कण्ठ्य तथा प्रतिवेष्टित ध्वनियोंको गहरी [या गाढ-रंगित] [dark] तथा तालव्य और दन्त्य ध्वनियोंको हलकी [या ईषद्रंजित] [light] माना जाता है। व् श्रुतिको गाढरंजित [dark] ध्वनियोंसे संबद्ध माना जा सकता है, तथा य् श्रुतिको ईषद्रंजित [light] ध्वनियोंसे। किन्तु यह सिद्धान्त सब जगह ठीक नहीं बैठता। इसके पहले हम यह देख ले कि यह श्रुति-तत्त्व मोटे तौरपर कहाँ कहाँ हो सकता है :—[१] जहाँ ए, ओ का लोप हो गया है· यथा ऊपरवाला उदाहरण; [२] जहाँ 'स्' सघोष होकर 'ज़्' हो गया है, तदनन्तर 'ज़्' संस्कृत ध्वन्यात्मक तत्त्व न होनेके कारण लुप्त हो गया है, पर सख्यात्मक भार [prosodic weight] की रक्षाके लिए किसी तत्त्वकी आवश्यकता होती है, जो इस लोपकी कमी पूरी कर सके। हम देखते है कि कई स्थलोपर जहाँ भारत ईरानी वर्गकी विशेषताके कारण 'ज़्' [z] ध्वनि अवेस्तामे पाई जाती है, उसके समानान्तर रूपोमे संस्कृतमें य्, व् श्रुतियोंमेंसे अन्यतरका प्रयोग पाया जाता है। हम देख चुके है कि जहाँ कहीं स्वरके बाद विसर्ग या 'स्' होगा, वहाँ स्वरध्वनि या सघोष व्यञ्जनके परे होनेपर विसर्ग या स् सघोष रूप [ज़्, z] धारण कर लेता है। एकबार और हम उस सूत्रको याद कर ले।

$$-\alpha h + C \ [B] = -\alpha S + C \ [B] = -\alpha Z C \ [B]$$

अब जहाँ कहीं अवेस्तामें स्वरमध्यगत या सघोष ध्वनिमध्यगत स्, ज़् हो जाता है, संस्कृतमें वह लुप्त होकर $-\alpha^{[w]}C$ [B] या $-\alpha^{[y]}C$ [B] रूप बन जाता है। हम कुछ उदाहरण ले लें।

[१] एधि :—संस्कृतमे यह √ अस् धातुका रूप है; इसे हम अस्+धि कहेंगे। अवेस्तामे इसका समानान्तर रूप ज़्दि [zdi] पाया जाता

है, जिसका विकास प्रा० अवेस्ता रूप *अज़्+धि से मान सकते हैं। संस्कृतमें यह प्रक्रिया यों होगी, अस्+धि=*अज़्+धि=अ [O]+धि=अ इ[य्] धि=एधि। इस तरह हम देखते हैं स् पहले ज़् होता है, फिर उसका लोप हो जाता है, जहाँ हमने शून्य-व्यञ्जन [O] का संकेत किया है। तदनन्तर 'य्' श्रुतिका स्वर रूप 'इ' उच्चरित होता है और बादमें अ+इ में संधि होकर ए हो जाता है। भाषावैज्ञानिकके मतमें एधि का रूप इस तरह निष्पन्न माना जा सकता है।

[२] सेदुः—संस्कृतमें यह √सद् धातुके लिट् के प्र० पु० बहुवचनका रूप है। यहाँ √सद् धातुके दुर्बल रूप या शून्य रूप [zero-grade] में स्द् [sd] होगा। इस तरह सेदुः रूपकी निष्पत्ति यों होगी—

स्द् [√सद्]+उ =स+स्द्+उ =*स+ज़्द्+उ =स+[O] द्+उ =स+य् द्+उ.=से द् उः=सेदुः हम देखते है √सद् के दुर्बल रूपमें उ का लिट् विभक्ति चिह्न लगाकर यह रूप निष्पन्न होता है। दूसरे रूपमें लिट्के कारण 'स' का द्वित्व होता है, जो प्र० पु० ए० व० ससाद में स्पष्ट है। तदनन्तर स्, ज़् बनकर लुप्त होता है, तथा उसकी कमी य् श्रुतिके द्वारा पूरी की जाती है।

[३] नेदिष्ट—इसी तरह नेदिष्ट की व्युत्पत्ति भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे √न—स्द्+इष्ट से मानी जा सकती है। यहाँ भी 'स्द्' वाली अघोष ऊष्म ध्वनि सघोष होकर बनकर लुप्त होती है तथा श्रुतिके प्रयोगसे नेदिष्ट रूप निष्पन्न होता है।

[४] यशोभिः—यहाँ व् श्रुति वाला उदाहरण देना भी आवश्यक है। यशस् शब्दसे भिः तृ० विभक्ति चिह्न जोड़कर यशोभिः रूप निष्पन्न होता है। इस रूपको हम यों स्पष्ट कर सकते हैं।

यशस्+भिः=*यशज़्+भिः=यश [O]+भि =
यश व्+भि =यश उ भि =यशोभि।

जिस तरह ऊपरके उदाहरणो मे य् श्रुति इ बनकर सधिगत रूपोमे ए पाई जाती है, वैसे यहाँ व् श्रुति उ बनकर सधिगत रूपोमे ओ पाई जाती है। **सोऽहम्** [सः + अहम्] वाली ओ ध्वनिकी भी ऐसी ही कहानी है, जो वस्तुतः **सस्** [सः] + अहम् = सज़् + अहम् = स व् + अहम् = स उ अहम् = **सोऽहम्** है। इसमे भेद यही है कि यहाँ परवर्ती अ का लोप हो जाता है, जो लौकिक सस्कृतमे प्रायः 'अवग्रह' [ऽ] से सूचित किया जाता है।

वैसे ध्यानसे देखनेपर पता चलता है कि कोई कोई भाषामे किसी विशेष श्रुतिके प्रति विशेष प्रवृत्ति देखी जाती है। लौकिक संस्कृतमे य् श्रुतिकी अपेक्षा व् श्रुतिका सध्यात्मक रूप ओ अधिक देखा जाता है। शौरसेनी तथा महाराष्ट्रीने इसी परम्पराको अपनाया है, वैसे वहाँ य् श्रुतिका अभाव नहीं है, तथा अपभ्रशमे तो य् श्रुतिका स्वरमध्यगत प्रयोग परिनिष्ठित [standardised] हो गया है। मागधीमे य् श्रुतिके प्रति अभिनिवेश है। सस्कृत विसर्गके स्थानपर जहाँ शौरसेनी-महाराष्ट्री व् [उ] श्रुतिके ओ वाले रूपको अपनाती है, मागधी य् [इ] श्रुतिके ए वाले रूपको। हम अकारान्त शब्दके प्र० बहुवचनके रूप ले लें। **संस्कृत देवाः** के समानान्तर रूप **शौ० देवाओ** तथा **मागधी देवे** हैं।

श्रुतियोका यह विचार केवल विसर्गके सबधमे किया गया है, अतः यहाँ प्राकृत तथा अपभ्रश वाली पदमध्यगत श्रुतिका विवेचन करना अनावश्यक समझा गया है। हिंदीकी पदमध्यगत श्रुति सबंधी विशेषतापर कुछ प्रकाश हमने अन्यत्र डाला है।[1]

संस्कृत भाषामे स्वर [accent] :—

किसी भी भाषाके पदोको अक्षरो [syllable] मे विभक्त किया जा सकता है। ये पद एकाक्षर, द्वयक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षर हो सकते है। अक्षर-सघटनाका यह विश्लेषण हम असमस्त [व्यस्त] पदोके विषयमे करते है।

---

१. देखिये मेरा लेखः अन्तःस्थ ध्वनियाँ [शोधपत्रिका, २००६]

[२] अनुदात्त स्वर वाले अक्षरके उच्चारणमे गात्रोंकी शक्तिका मार्दव [अधोगमन] पाया जाता है।

[नीचैरनुदात्तः १,१०९], नीचैर्मार्दवेणाधोगमनेन गात्राणां यः स्वरो निष्पद्यते सोऽनुदात्तसंज्ञो भवति][1].

[३] जहाँ एक बार उदात्त स्वरके कारण गात्रोंका आयाम [आरोह] हो, तदनन्तर अनुदात्तस्वरके कारण गात्रोंका मार्दव [अवरोह] हो, वहाँ दोनों तरहके प्रयत्नोंसे मिश्रित स्वर स्वरित कहलाता है।

[उभयवान्स्वरितः। १।११०, उदात्तस्योर्ध्वगमनं गात्राणां प्रयत्न अनुदात्तस्याधोगमनं गात्राणां प्रयत्न आभ्यां प्रयत्नाभ्यां समाहारीभूताभ्यां स स्वरितसंज्ञो भवति][2]

[उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तं पदेऽक्षरम्।][3].

[४] स्वरितके बादके अनुदात्त स्वरोंको, जहाँ एक साथ गात्रोंका मार्दव पाया जाता है, अलगसे पारिभाषिक संज्ञा दी गई है। वे 'प्रचय' या 'एकश्रुति' कहलाते है।

[स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः॥][4].

उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरितकी इस उच्चारण स्थितिको शौनकने ऋक्प्रातिशाख्यमें क्रमशः आयाम, विश्रम्भ तथा आक्षेप कहा है:—

[उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः। आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्तेऽक्षराश्रयाः॥][5]

---

१ वही तथा उस पर उव्वट कृत भाष्य १. १०९, पृ. २२.

२ वही, १. ११०. पृ. २२.।

३ शौनकीय ऋक् प्रातिशाख्य, तृतीय पटल, ४.

४ शौ० ऋ० प्रा०, तृतीय पटल, ११।

५ वही, तृ० प० १.

एकाक्षर, द्वयक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षरके स्वर-विभाजनका क्रम अलग अलग तरहका देखा जाता है। साथ ही इनका उच्चारण पदरूपमें अन्य होता है, संहिता रूपमें अन्य। इस बातको आजके ध्वनिवैज्ञानिकोंने पद-स्वर [word-intonation] तथा संहितास्वर [sentence intonation] के भेदको स्पष्ट कर स्वीकृत किया है। जहाँ तक एकाक्षरके स्वरका प्रश्न है, पद रूपमें उसका स्वर उदात्त भी माना जा सकता है, अनुदात्त भी, पर अधिकतर उसे अनुदात्त ही माना जाता है। वाक्यमें उसका स्वर बदल भी सकता है। वैसे वैदिक संस्कृतमें कई एकाक्षर [monosyllable] स्वर स्वतः उदात्त होते हैं, कई अनुदात्त। अन्य पदोंमें [द्वयक्षरादि पदोंमें] प्रायः पूरे पदमें एक ही उदात्त स्वर पाया जाता है, बाकी स्वर अनुदात्त [और स्वरित] ही होंगे। एक ही प्रकारकी ध्वन्यात्मक [phonatic] या अक्षरात्मक [syllabic] संघटना [sequence] में स्वर-भेदसे अर्थ-भेद हो सकता है। संस्कृतमें भी स्वर-भेदसे एक ही ध्वन्यात्मक संघटना [phonematic sequence] वाले पदोंका अर्थ-भेद देखा जाता है। यह अर्थ-भेद समासमें बहुत काम करता देखा जाता है, जहाँ मुख्य कारण स्वर-भेद [difference of accent] ही होता है। हम एक प्रसिद्ध उदाहरण को ले-ले—**इन्द्रशत्रु**। जहाँ तक इस समस्त पदमें पदद्वयके व्यस्तरूपका प्रश्न है, हम उस पर विचार न कर इस समस्त पदके चतुरक्षर रूपपर ही विचार करेंगे। जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं प्राय: प्रत्येक पदमें एक ही उदात्त स्वर हो सकता है [वैसे इस नियमके कुछ अपवाद भी हैं, जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे], इस पदमें भी एक ही अक्षर उदात्त-स्वर सम्पन्न हो सकता है। व्यस्त पदोंको लेनेपर हम देखेंगे कि इन्द्र तथा शत्रु: दोनों पदोंका प्रथमाक्षर उदात्त है, किन्तु समस्त पदमें यह उदात्त स्वर या तो पूर्व पदमें ही रह सकता है, या उत्तर पदमें ही। अब हमें यही देखना है कि **इन्द्रशत्रु**: में उदात्त स्वर किस अंशमें होगा। द्वयक्षरों [disyllables] में उदात्तस्वर प्राय प्रथमाक्षर [first syllable]

पर पाया जाता है, किन्तु पदोंके समस्त होनेपर कर्मधारय तथा तत्पुरुष समासमें उदात्त स्वर अंतिम अक्षर [final syllable] पर पाया जाता है, क्योंकि ध्यान दीजिये कर्मधारय तथा तत्पुरुष समासमें उत्तर पद प्रधान होता है। जब कि बहुव्रीहिमें यह उदात्त स्वर प्रथम अक्षर पर ही बना रहता है, क्योंकि यहाँ अन्य पदार्थकी प्रधानता होती है। यदि स्वरके आरोह या आयाम-मार्दवको व्यक्त करने के लिए हम आधुनिक ध्वनिशास्त्रियोंकी प्रणालीका आश्रय लें तो उसे यों व्यक्त करेंगे:—

[१] इन्द्रशत्रुः [बहुव्रीहि][1]. — — — —

[२] इन्द्रशत्रुः [तत्पुरुष][2]. — — — —

इस संबधमें आधुनिक ध्वनिशास्त्रियोंका मत है कि उच्चतम स्वर [उदात्त] पदमें एक ही होता है, पर बाकी अनुदात्त स्वर सभी एक कोटिके नहीं होते तथा उनके स्वरमें भी सूक्ष्म भेद होता है, मोटे पर तौरपर वे सभी अनुदात्त कहलाते हैं।

प्रा० भा० यू० में स्वरका महत्त्वपूर्ण स्थान था। वैदिक संस्कृतने प्रा० भा० यू० स्वरकी पूर्ण रक्षा की है। शुद्ध उच्चारणकी रक्षाकी इच्छासे भारतीय मनीषियोंने उदात्त तथा अनुदात्त स्वरोंका संकेत करनेके लिए चिह्न बनाये, साथ ही पद व संहिता गत स्वर-परिवर्तनका विवेचन किया। भारतकी भाँति ग्रीसमें भी ग्रीक भाषाके शुद्ध उच्चारणकी रक्षाके लिए हेलेनिक समयसे ही स्वरचिह्नोंका प्रयोग आरंभ हो गया था, जो अलेग्जेंड्रियन वैयाकरणोंके हाथों परिष्कृत हुआ। प्राचीन ग्रीकमें तीन प्रकारके स्वर-चिह्नोंका प्रयोग पाया जाता है—´, `, ^ जो क्रमशः उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरितके प्रतीक हैं। ग्रीकमें प्रायः अनुदात्त स्वरके अक्षरोंको अचिह्नित

१. इन्द्रः शत्रुर्यस्य सः [जिसका शत्रु इन्द्र है]—बहुव्रीहि।

२. इन्द्रस्य शत्रुः [इन्द्रका शत्रु]—तत्पुरुष।

छोड दिया जाता था। वैदिक संस्कृतमें ठीक उलटी प्रणाली है कि यहाँ उदात्तको अचिह्नित छोड़ दिया जाता है। वैदिक संस्कृतमें तत्तत् वेदमें भिन्न-भिन्न प्रकारके चिह्नोंका प्रयोग पाया जाता है। वेदोंमें ही नहीं, शाखाओं तकमें यह भेद पाया जाता है। किन्तु ऋग्वेदकी प्रणाली प्रायः अन्य वेदोंमें भी आदृत हो गई है। अथर्ववेद, वाजसनेयी [यजुष्] संहिता, तैत्तरीय [यजुष्] संहिता, तथा तैत्तरीय ब्राह्मण स्वरसंकेतोंमें ऋग्वेदसे ही प्रभावित हैं। जहाँ तक सामवेदके स्वरचिह्नोंका प्रश्न है, वे गानसे संबद्ध होनेके कारण भिन्न प्रकारके है, उनमें स्वरके आरोहावरोहकी तारतमिक मात्राके नियामक संकेत १, २, ३, ४ भी पाये जाते हैं। यहाँ तो हमें ऋग्वेदके स्वर चिह्नोंका संकेत भर देना है। ऋग्वेदीय प्रणालीके अनुसार अनुदात्त स्वरको व्यक्त करनेके लिए अक्षरके नीचे पडी लकीर [–] का प्रयोग किया जाता है, किन्तु उदात्त स्वरवाले अक्षरपर कोई चिह्न नहीं होता। स्वरित स्वरवाले अक्षर के ऊपर खडी लकीर [।] अंकित की जाती है। उदाहरणके लिए हम त्र्यक्षर पद 'अग्निना' को ले लें। यहाँ प्रथम अक्षर 'अ' अनुदात्त है, अतः नीचे पड़ी लकीरसे चिह्नित किया गया है, द्वितीय अक्षर 'ग्नि' उदात्त है, अतः अचिह्नित छोड़ दिया गया है, तृतीय अक्षर ना पुनः अनुदात्त है, तथा उदात्तके बाद आनेके कारण स्वरित हो गया है, अतः ऊपर खडी लकीरसे चिह्नित किया गया है। इस प्रसंगमें हमारा प्रमुख लक्ष्य वैदिक संस्कृतके स्वरका विवेचन है, उसके चिह्नका विवेचन नहीं, अतः मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता आदिके चिह्न गत वैविध्यपर हम प्रकाश नहीं डालेंगे। यहाँ हम वैदिक स्वर-प्रक्रियाकी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ५-६ विशेषताओंका ही संकेत करेंगे। साथ ही हम वेदोंकी अलग अलग शाखाओंके स्वर गत वैमत्यपर ध्यान न देंगे, क्योंकि यह विषय अलगसे गवेषणाका तथा स्वतन्त्र प्रबन्धका विषय हो सकता है।

प्रा० भा० यू० की स्वरप्रक्रियाका अध्ययन भी तुलनात्मक भाषाशास्त्रका एक महत्त्वपूर्ण अंग है। ग्रिम नियमके कई अपवादोंका स्पष्टी-

करण इसी प्रा० भा० यू० स्वरप्रक्रियाके आधारपर हो सका है। वर्नरने ग्रिम नियमके उपनियमकी अवतारणा करते हुए, जो भाषाशास्त्रमें वर्नरके उपनियम [Verner's Corollary] के नामसे प्रसिद्ध है, यह स्थापना की थी कि ग्रिमका नियम वहाँ लागू होता है, जहाँ मूलतः क्लैसिकल भाषाओंमें उदात्तस्वर सम्पन्न अक्षर [accented syllable] था तथा स्पर्श ध्वनि पदादिमें थी, ऐसा होनेपर क्लैसिकल [संस्कृत, लैतिन, ग्रीक] सघोष अल्पप्राण, लो जर्मनमें महाप्राण [अथवा सोष्म ख, थ, फ], तथा हाईजर्मनमें अघोष अल्पप्राण हो जाते हैं, इसी तरह क्लैसिकल अघोष अल्पप्राण, लो जर्मनमें सघोष अल्पप्राण, तथा हाई जर्मनमें महाप्राण [अथवा सोष्म ख, थ, फ] हो जाते हैं, तथा क्लैसिकल महाप्राण लो जर्मनमें अघोष अल्पप्राण तथा हाई जर्मनमें सघोष अल्पप्राण हो जाते हैं। वर्नरने बताया था कि कई स्थलोंमें ग्रिमका उक्त नियम पूरी तरह इसलिए लागू नहीं हो पाता कि वहाँ स्पर्श ध्वनि पदादिमें नहीं होती साथ ही वह अनुदात्त स्वरसम्पन्न अक्षर [unaccented syllable] में होती है।

प्रा० भा० यू० की स्वरप्रक्रियाको जाननेके लिए संस्कृत जितनी सहायक सिद्ध हो सकती है, उतनी ग्रीक तथा लैतिन नहीं। ग्रीक तथा लैतिनमें स्वरके उदात्तत्वका नियामक तत्त्व प्रायः शब्दकी अक्षर संख्या होती है। ग्रीककी स्वरप्रक्रिया त्र्यक्षर-नियम [the law of three syllables] के द्वारा अनुबद्ध है। इसके अनुसार ग्रीकमें पदांतसे पूर्वके तीसरे अक्षरसे अधिक पीछे उदात्त स्वरका प्रयोग नहीं होता। वैसे इसके कतिपय अपवाद भी देखे जाते हैं। लैतिनमें भी किसी हदतक त्र्यक्षर-नियमकी पाबंदीकी जाती है तथा कहीं भी उदात्त स्वर पदांतसे पूर्वके तीसरे अक्षरसे अधिक पीछे नहीं पाया जाता, किंतु फिर भी लैतिनकी स्वरप्रक्रिया ग्रीककी स्वरप्रक्रियासे भिन्न है। लैतिनमें उपधा अक्षरकी मात्रा स्वरका नियमन करती है, जब कि ग्रीकमें पदांत अक्षरकी मात्रा स्वरका नियमन करती है। संस्कृतमें इस तरहका कोई निश्चित नियम नहीं है, इसीलिए भाषावैज्ञानिकोंने संस्कृत स्वरप्रक्रिया-

को 'स्वतन्त्र' [free] माना है। यहाँ ग्रीक या लैतिनकी तरह उदात्त स्वर किसी सीमामें संकुचित नहीं है, वह कहीं भी, किसी भी अक्षरमें हो सकता है। साथ ही ग्रीक या लैतिनकी तरह संस्कृत स्वरप्रक्रियाका नियामक तत्त्व न तो पदांत अक्षरकी मात्रा [जैसा कि ग्रीक में है] है, न उपधा अक्षरकी मात्रा ही [जैसा कि लैतिनमें है], किंतु संस्कृत स्वरप्रक्रिया पदकी व्युत्पत्ति [उसमें प्रयुक्त प्रत्यय, विभक्ति आदि] तथा उसके वाक्यगत [संहितागत] प्रयोगपर निर्भर करती है।

[१] संस्कृतमें प्राय प्रत्येक पदमें केवल एक ही उदात्त स्वर पाया जाता है। ठीक यही बात ग्रीकमें पाई जाती है। सं० ततः, ग्रीक ततास्[1] [tato's] सं० जानु, ग्रीक गोनु [go'nu]। पर कुछ ऐसे भी पद हैं, जिनमें वेदमें प्रमुख स्वर स्वरित पाया जाता है। किन्तु यह रूप प्रायः 'य' 'व' वाले संयुक्ताक्षरमें पाया जाता है, जो वस्तुतः 'इ' 'उ' के ही सन्ध्यात्मक [prosodic] रूप है। उदाहरणके लिए हम रथ्यम्, तन्वम् इन दो पदोंको ले लें। यहाँ यह विशेषता पाई जाती है कि अनुदात्तके एकदम बादमें स्वरित आ गया है, जो सदा उदात्तके बाद होता है। यह विशेषता इस बातका संकेत करती है कि इन द्व्यक्षर [disyllabic] पदोंका उच्चारण त्र्यक्षर [trisyllabic] होता था, तथा वहाँ द्वितीय अक्षर उदात्त स्वर युक्त था। वस्तुतः इनका उच्चारण रथियम्, तनुवम् होता है। विद्वानोंको पता है कि गायत्री मन्त्रके 'वरेण्य' पदका उच्चारण भी

---

१ सुविधाकी दृष्टिसे ग्रीक शब्दोंके देवनागरी लिपीकरणमें मैंने वैदिक स्वर चिह्नोंका ही प्रयोग किया है।

'वरेणियं' होता है, तथा ऐसा करनेपर ही तत्सवितुर्वरेण्यं इस पदमें आठ अक्षर पूरे होते हैं।[1]

[२] समासान्त पदोंमें प्रायः एक ही उदात्त स्वर होता है, किन्तु उन द्वन्द्व समासोंमें जहाँ दोनों पदांश द्विवचनमें हैं, तथा उस तत्पुरुष में, जहाँ पूर्वपद षष्ठ्यन्त है, दोनों पदांशोंमें उदात्त स्वर पाया जाता है, यथा मित्रा-वरुणा, बृहस्पतिः।[2]

[३] कुछ पद ऐसे भी हैं, जिनमें सभी अक्षर अनुदात्त होते हैं, तथा उदात्त स्वरका अभाव होता है। इनमें प्रमुख वे क्रिया पद हैं, जो वाक्यकी समापिका क्रियाएँ होते हैं।[3] यथा, अग्निमीळे पुरोहितम् में, जहाँ 'ईळे' में कोई उदात्त स्वर नहीं है। यदि सम्बोधन वाला रूप वाक्य या पादके आदिमें नहीं होता, तो यह भी उदात्तस्वररहित [enclitic] होता है। सम्बोधनकी ऐसी ही विशेषता ग्रीकमें भी पाई जाती है[4]।

[४] समस्त पदोंमें प्रायः कर्मधारय तथा तत्पुरुषमें उदात्त अंतिम अक्षर पर होता है, बहुव्रीहिमें प्रथमाक्षर पर. जैसे राजपुत्रः [तत्पुरुष], राजपुत्रः [बहुव्रीहि]।[5]

[५] संधिमें यदि प्रथम द्वितीय दोनों अक्षरोंमेंसे कोई भी या दोनों उदात्त होते हैं, तो संधिज अक्षर उदात्त होता है। इस तथ्यका संकेत महाकवि कालिदासने भी इस उपमाके द्वारा किया था—निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः

---

१. गायत्री वर्णिक वृत्त है तथा उसके प्रत्येक चरणमें आठ अक्षर [वर्ण] होते हैं।

2 Macdonell · Vedic Grammar p 452, rule 7

3 Ibid. p 454–5

4 Atkinson · Greek Language p 57

5. Macdonell : Vedic Grammar p 457–S

स्वरानिव । उदाहरण, नुदस्वाथ [नुदस्व + अथ], नान्तरः [न + अन्तरः] ।

[६] वाक्यमे अर्थात् संहितापाठमे भी ये स्वर एक दूसरेको प्रभावित करते है । उदात्तके बाद आनेवाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है, तथा वह खडी लकीरसे चिह्नित होता है, उसके बाद आनेवाले अनुदात्त एकश्रुति या प्रचय कहलाते है, और तब तक अचिह्नित छोड दिये जाते है, जब तक कोई उदात्त स्वर नहीं आता, किन्तु ज्यों ही कोई उदात्त स्वर आया उससे पूर्ववर्त्ती अक्षरको अनुदात्तके चिह्नसे चिह्नित कर दिया जाता है, यह इस बातका द्योतक है कि उच्चारण कर्ताको अपना स्वर ऊँचा करना है, इसी तरह स्वरित इस बातका चिह्न है कि उसे स्वर नीचा करना है । इस सबधमे हम संहिता-पाठका एक उदाहरण ले लें—

१. येना सूर्यं ज्योतिषा बाधसे तमो

२. जगच्च विश्व मुदियर्षि भानुना ॥

१. — — — — ——— —— —— —

२. — — — — —— ——— —— —

किन्तु ये ही पद व्यस्त होनेपर पदपाठमे यो हो जायँगे :—

येना । सूर्यं । ज्योतिपा । बाधसे । तमो ।

जगत् । च । विश्वं । उत् ऽइयर्षि । भानुना ॥

लौकिक संस्कृतमे आकर स्वर चिह्नका प्रयोग नहीं पाया जाता। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि वहाँ स्वर नहीं पाया जाता। वस्तुतः वहाँ

इन नियमोंकी पाबन्दी ढीली हो गई और आज इस संबंधमें लौकिक संस्कृतमें कोई नियम नहीं है। वैसे पाणिनिने अपनी व्याकरणमें इसको ध्यानमें रखकर सूत्र बनाये हैं, पर स्वरोंकी अत्यधिक महत्ताको उन्होंने भी वैदिकी प्रक्रियामें हां माना था, ऐसा संकेत मिल सकता है। संभवतः इसीलिए भट्टोजिदीक्षितने सिद्धान्तकौमुदीमें स्वरवैदिकी प्रक्रियाका विचार विशेषतः वैदिक प्रयोगोंके संबंधमें ही किया है।

संस्कृत पद-रचना

[संज्ञा, विशेषण एवं सर्वनाम]

सस्कृतके पद[1] प्रा० भा० यू० पदोकी भॉति उन समस्त चिह्नोके द्योतक हैं, जिन्हे हम तीन भागोमे विभक्त कर सक्ते है। इनमेसे प्रथम अश मुख्य भावका द्योतक है, जिसे हम मूल रूप [धातु या शब्द] कह सकते है। अन्य दो अश तथा प्रत्यय विभक्ति-चिह्न है। इन चिह्नोमे कई प्रकारकी तात्त्विक प्रक्रियाएँ पाई जा सकती है, तथा प्रमुख रूपसे स्वर-परिवर्तन भी पाया जाता है। इनमे प्रत्ययका अस्तित्व हो सकता है, उसका अभाव भी हो सकता है। इन परिवर्तनोमेसे कतिपय मुख्य परिवर्तन ये है :—

[१] अनुनासिकका नतिभाव[2] [retroflexion] यथा **यान**, किन्तु **प्रयाण**।

[२] स्पर्श ध्वनियोंका सयोजन, यथा, **ददाति**, **दत्त**, **देहि**, **विश.**, **विड्भि.**, **विक्षु**।

[३] प्राचीन भारत यूरोपीय कण्ठोष्ठ्य ध्वनियोंका सस्कृत पदरचनामे दो प्रकारका ध्वन्यात्मक विकास, यथा, **हन्ति**, **जिघ्नते**, **घन** , **भजति**, **भागः**।

[४] प्रा० भा० यू० तालव्य 'क्य्' का सस्कृतमे आकर दो प्रकारका विकास, इस सबधमे सस्कृतके **क** , **कस्य**, **किम्** जैसे रूप भारत-ईरानी वर्गमे **चित्** की अपेक्षा अधिक नवीन है। इस परिवर्तनका एक पद-रचनात्मक महत्त्व भी है, तथा यह परिवर्तन स्वर ध्वनिके आधार पर पाया जाता था।[3]

---

१. सुब्-तिङन्तं पदम्।

२. दन्त्यस्यमूर्धन्यापत्तिर्नतिः। [शुक्लयजु प्रातिशाख्य १.४२]।

३. Bloch · L'Indo Aryen P. 99

भारतके प्राचीन निरुक्तकार यास्कने वैदिक शब्द "शेव" को "शिप्यते" से गृहीत [व्युत्पन्न] माना है। इस व्युत्पत्तिमें उन्होंने 'व' को एक प्रत्यय माना है, जो प् के स्थानपर प्रयुक्त हुआ है। इसी उदाहरणमें दूसरी विशेषता मूलरूप शिप् के स्वरका गुणीभाव है। इस प्रकार शे तथा शि दोनो एक ही मूल [धातु] से जनित दो रूप है। अन्य स्थानोपर उन्होंने स्वरध्वनिके लोपका भी उल्लेख किया गया है, जो स० प्रत्तः[1] [√दा], सतः [√अस्], जग्मुः [√गम्] मे स्पष्ट है। इसी प्रकार यास्कने गतम् [√गम्], राजा [राजन्] मे व्यञ्जन ध्वनिके लोपका उल्लेख किया है। संस्कृत पृथु. तथा ऊतिः को उन्होंने √प्रथ् तथा √अव् से व्युत्पन्न माना है, जहाँ मूल स्वरध्वनि परिवर्तित हो गई है।[2] स्वर-ध्वनिके इस प्रकारके परिवर्तन प्रा० भा० यू० मे भी पाये जाते है, जो हम 'अपश्रुति' के अन्तर्गत देख चुके है। भारतीय वैयाकरण इन स्वर-परिवर्तनोको गुण

---

१. डुदाञ् दाने क्तः। अच उपसर्गात्त इति तादेशः—शब्दार्थचिन्तामणिः, भाग ३ पृ० २४२।

२. यास्क तथा बादके वैयाकरणोने ५ प्रकारके निरुक्त माने हैं। इनमें प्रथम चार प्रकारके निरुक्तोमे ध्वनिपरिवर्तन आते है। ये है:— वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार तथा वर्णनाश। वर्णागमका उदाहरण 'सुन्दर' दिया जा सकता है, जो सुनरसे बना है। यहाँ "द्" ध्वनिका आगम हो गया है। वर्णविपर्ययका 'सिंह' [हिनस्तीति सिंहः] है। वर्णविकार जैसे √भज् से भाग' या षट्+दशसे षोडश; तथा वर्णनाश जैसे प्रत्तः, जग्मुः, गतम् आदिमे या पृषत्+उदरसे बने रूप पृषोदर मे।

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥
वर्णागमो गवेन्द्रादौ सिंहे वर्णविपर्ययः
षोडशादौ विकारः स्यात् वर्णनाशः पृषोदरे॥

तथा वृद्धि कहते है। हमें ऐसा पता चलता है कि प्रा० भा० यू० में मूलरूपों [धातु तथा शब्दो] मे एक निश्चित व्यञ्जनसघटना [consonantal sequence] तथा परिवर्तनशील स्वर [प्रायः एक ही परिवर्तनशील स्वर] पाये जाते होगे। प्रा० भा० यू० मे हम इनके ए, ओ, ए, ओ अथवा "शून्य रूप [स्वराभाव, zero-vowel] को देख सकते है। भारत-ईरानी वर्गमे ये अ-आ के साथ सम्मिलित हो गये है, और इस प्रकार यहाँकी ध्वन्यात्मक प्रक्रिया मे केवल एक ही प्रकारके मात्रिक परिवर्तनकी उपलब्धि होती है, जो **अ–रूप, आ–रूप** तथा **शून्यरूप** है, जिन्हे हम क्रमश. **भर्–,भार्.,** **भृ–** मे देख सकते है। इसी सबधमे यह भी जान लें कि र्, य्, व् के स्वरीभूत रूप ऋ, इ, उ की भाँति अनुनासिक **न्**, **म्** वाले रूपोमे भी यह अपश्रुत्यात्मक प्रवृत्ति पाई जाती थी। यदि हम भारतीय वैयाकरणोकी पारिभाषिक शब्दावलीका प्रयोग करे, तो हम कह सकते है कि **न्** तथा **म्** वाले गुण रूप [भाषाशास्त्रीके मूल रूप], वृद्धिमे **अन्**, **अम्** तथा मूलरूप मे [भाषाशास्त्रीके शून्य रूपमे] अ पाये जाते है। उदाहरणके लिये, **गम्** तथा **मन्** धातुरूपोमे वृद्धिरूप [भाषाशास्त्रीका दीर्घरूप] पाया जाता है। इसीके **'ग्म'** [**जग्मुः**], **'म्न'** [**मम्नाते**] रूपोंमे गुणरूप [भाषाशास्त्रीका मूल रूप], तथा **गतः, मत** मे मूल रूप [भाषाशास्त्रीका शून्यरूप] पाया जाता है। संस्कृतके इ, उ वाले मूल रूपोके गुण रूपोमे तथा वृद्धि रूपोमे क्रमश. ए तथा ओ, एव ऐ तथा औ ठीक वही कार्य करते है, जो संस्कृतके ऋ [र] वाले मूल रूपोंमे अर् तथा आर् करते है।

इन सब प्रकारके रूपोके विवेचनसे हमारा तात्पर्य यह है कि प्रा० भा० यू० शब्दोकी भाँति संस्कृतके समान पदोमे हम एक धातु [मूल, root] मान सकते हैं। यह धातु अथवा मूल रूप ही संस्कृतकी पदरचनाका मेरुदण्ड या "न्यूक्लियस" [nucleus] है। इसके पहले कि हम संस्कृतके इन मूलरूपोपर दृष्टिपात करे, हमे प्रा० भा० यू० मूलरूपोकी कुछ विशेषताओ पर दृष्टिपात कर लेना होगा—

[१] प्रा० भा० यू० मूलरूपोमे आरभ तथा अन्तमे सघोष महाप्राण ध्वनि पाई जा सकती है, किन्तु सघोप अल्पप्राण नहीं, इस प्रकार वहाँ *भेव्‌ध्‌ [*bhewdh] [सं० बुध्‌] जैसे रूपोकी स्थिति मानी जा सकती है,* *बेव्‌द्‌ [**bewd] जैसे रूपोकी नहीं।

[२] जिन प्रा० भा० यू० मूल रूपोकी प्रथम ध्वनि सघोप महाप्राण है, उनके अन्तमे अघोष ध्वनि नहीं पाई जा सकती। इस प्रकार *भेव्‌ध्‌ जैसे रूप हो सकते है, किन्तु *भेव्‌त्‌ [*bhewt] जैसे रूप नहीं।

[३] प्रा० भा० यू० मूल रूपोमे एक साथ ऐसी दो अन्तःस्थ ध्वनियॉ नहीं पाई जा सकती, जो व्यञ्जनका कार्य कर रही हो। अतः वहाँ *तेव्‌ल्‌, *तेय्‌र्‌प्‌, *सोय्‌न्‌ जैसे मूल रूप नहीँ पाये जा सकते।

अब इन मूलरूपोकी ओर आते हुए हम देखते है कि सस्कृत वैयाकरणोने इन्हे धातु रूप [क्रियात्मक] माना है। किन्तु, जैसा कि हम देखते है, कई मूल रूप ऐसे है, जिन्हे हम धातुरूप नहीं मान सकते। उदाहरणके लिए 'पद्‌–' तथा 'मह्‌–' को ले सकते है। सस्कृत वैयाकरणोने किसी धातुके कोई न कोई प्रत्यय जोड कर सभी शब्दोकी व्युत्पत्ति सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। उनके उणादि प्रत्यय इस चेष्टाके प्रमाण है। किन्तु भापावैज्ञानिक दृष्टिसे हम इस तथ्यको अस्वीकार नहीं कर सकते कि प्रा० भा० यू० भाषाके कालमे उसके बोलने वालोमे सज्ञा, क्रिया तथा विशेपण जैसी व्याकरणात्मक भावनाका उदय नहीं हुवा था तथा उनके लिए इनका परस्पर भेद उतना स्पष्ट नहीं था, जितना कि सभ्यताके विकास तथा वृद्धि के कारण उनके बाद के वशजो के लिए। इस प्रकारके तथ्यका सबसे बडा प्रमाण यही है कि इस प्रकार के समस्त शब्द [क्रिया, सज्ञा, विशेपण आदि] एक ही धातुसे व्युत्पन्न हो सकते थे। वस्तुतः ये मूल रूप किसी निश्चित व्याकरणात्मक अर्थका बोध न करा कर एक सामान्य भावके बोधक

थे, जिसे हम क्रिया, संज्ञा जैसे संकुचित दायरेमें आबद्ध नहीं कर सकते। ये केवल प्रत्ययविहीन अथवा विकरण-विहीन [athematic] मूल रूप थे, जिनका प्रयोग विभिन्न प्रत्ययों अथवा विकरणो को जोड़कर किसी भी भावके लिए किया जा सकता था। इन्हीं मूल रूपोंमे कृत् या तद्धित प्रत्यय, तथा सुप् या तिङ् विभक्ति प्रत्यय लगा कर पद-रचना होती है। इसके बाद विभिन्न पदों [धातुरूपभिन्न पदों] को भी नाना प्रकारके भावबोधनके लिए समस्त किया जा सकता है, तथा यह समासप्रक्रिया कहलाती है।

व्याकरणात्मक दृष्टिसे हम संस्कृतके शब्दोको संज्ञा [नाम], क्रिया [आख्यात], अव्यय, संख्यावाचक शब्द, तथा सर्वनाम इनमे विभक्त कर सकते हैं। इस परिच्छेदमे हम नाम शब्दोकी पदरचनापर प्रकाश डालेगे। संस्कृतके संज्ञा-रूप अधिकतर हिन्द-ईरानी [भारत-ईरानी] वर्गसे ही विकसित हुए है। इनकी रचनामे प्रायः वे ही नियम तथा तत्त्व पाये जाते हैं, जो ईरानी तथा अन्य भारोपीय भाषाओंके नाम-शब्दों [substantives] मे। नाम-शब्दोंको सर्वप्रथम हम व्यस्त तथा समस्त दो कोटियों में विभक्त कर सकते हैं। इनकी रचनामे प्रायः भिन्न प्रणाली पाई जाती है।

प्रातिपदिक या मूल शब्दः—व्यस्त शब्दोकी पद-रचनामे हमे यह समझ लेना चाहिए कि इन मूल रूपों [प्रातिपदिको] को हम दो कोटियोमे विभक्त कर सकते है। एक वे मूल रूप, जिनकी पदनिर्मितिमे कोई प्रत्यय या विकरण नहीं लगता। दूसरे वे जिनके मूल रूप तथा अन्य प्रकारके सुप् तथा कृत् या तद्धित प्रत्ययके बीचमे कोई न कोई प्रत्यय या विकरण लगता है। इस प्रकारके प्रत्यय उन मूल रूपो [धातुओ] मे भी लगते हैं, जिनसे क्रियारूप बनते हैं। इन्हीं प्रत्ययों या विकरणोके आधार पर हम इन मूलरूपोंको सविकरण [thematic] तथा अविकरण [athematic] इन दो कोटियोंमे विभक्त कर देते है। यहाँ हम केवल नाम-शब्दोंका ही विचार कर रहे है, क्रियारूपों की रचनामें इन विकरणोकी प्रक्रियाका उल्लेख

हम अगले परिच्छेदमे करेगे। विकरणविहीन [अविकरण] मूलरूप संस्कृत तथा अन्य भारोपीय भाषाओंमे अत्यधिक पाये जाते है। अन्य यूरोपीय भाषाओमे ये प्रायः लुप्त हो गये है। उदाहरणके लिए द्यौ, क्षा, गौ [गो], भ्रू के मूल रूपोको ले सकते है, जिनसे प्रथमा विभक्ति एकवचनमे द्यौः, क्षाः, गौः, भ्रूः रूप बनते हैं। इनमे मूलरूप तथा 'सुप्' प्रत्यय ['सु'] [आ० भा० यू०* स्] के बीचमे किसी भी विकरणका प्रयोग नहीं हुवा है। इसी प्रकार राज् तथा विश् इन मूल रूपोके राट्-ड् तथा विट्-ड् रूपो [प्रथमा एकवचन रूपो] मे भी विकरण-विहीनता देखी जा सक्ती है। ये विकरणविहीन रूप उन मूल रूपोसे भी बनाये जा सकते है, जिनमे द्वित्व पाया जाता है· यथा ह् से जुह् तथा दृह से दृध्रक्। इस प्रकारके रूपोमे एक विशेषता यह भी पाई जाती है कि इ, उ तथा ऋ अन्तवाले मूल रूपोमे यह मूल रूप 'त्' से युक्त पाया जाता है। यथा मित्, स्तुत्, कृत् तथा दिद्युत् मे जो क्रमशः मि, स्तु, कृ तथा द्यु इन मूल रूपोसे बने है। इस प्रकारके "त्' के प्रयोगकी उत्पत्ति का पता नहीं। ब्रुगमानके मतानुसार यह 'त्', '-तो' [*तो] प्रत्ययका ही अपश्रुत्यात्मक रूप है।

सविकरणात्मक मूलरूपोमे अधिकतर अ विकरण प्रयुक्त होता है। तात्त्विक दृष्टिसे तो "थिमेटिक' 'अ' विकरण नहीं है, क्योंकि प्रायः सविकरण मूल रूपोको भी अविकरण मूलरूपोंका ही विकसित रूप माना जाता है तथा भारतयूरोपीय भाषाओ मे प्रायः अविकरण मूलरूपोको सविकरण बनानेकी प्रवृत्ति भी पाई जाती है। इस प्रकारके 'अ' विकरणका उदाहरण हम "√भृ' [प्रा० भा० यू० *भेर्, *[bher] को ले सकते है, जिसमे यह 'थिमेटिक' अ पाया जाता है, यथा सं० भरति [भर्-अ-ति]; प्रा० भा० यू० *भेर्-ओ-ति [*bher-o-ti] मे। इसी प्रकार वृ तथा शुच् [शुक्] से बने वर [वृ + अ] तथा शोकमे भी यह 'अ' विकरण पाया जाता है। यह 'अ' विकरण प्रा० भा० यू० के द्वित्ववाले मूल रूपोने

प्रयुक्त होने लगा था, यथा सं० चक्र, ग्री० कुक्लास् [kuklos]। सस्कृतमे आकर तो यह "अ" द्वित्व रूपोमे अत्यधिक प्रयुक्त होने लगा, यथा रुरोद, दधर्ष आदि रूपोमे, जो रुद् तथा धृष् के रूप है। इसी 'अ' से सबद्ध एक प्रत्यय अस् [*ओस्, *os] भी है, जो स० नभस् [ग्रीक नेफास्, nephos] सं० श्रवस् [ग्री० कवास्, kewos] मे पाया जाता है। इन विकरणोकी सबसे बडी विशेषता स्वरसे सबध रखती है। यदि मूल रूपपर उदात्त स्वर [rising tone] होता है, तो भिन्न प्रकारके शब्दकी उत्पत्ति होती है, और यदि उदात्त स्वर विकरणपर पाया जाता है तो शब्द सर्वथा भिन्न प्रकारका होता है। उदाहरणके लिए √वृ [धातु, मूलरूप] से अ जोडकर वर रूप बनता है। यदि यह रूप "वरः"[1] होगा तो इसका अर्थ "इच्छा" है, किन्तु "वर"[2] का अर्थ "वरण करने वाला" होगा। व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे एकको हम "व्रियते अनेन" मानेंगे, तो दूसरेको "वृणुत इति" मानेंगे। सस्कृतके शब्द "स्वयवरा"[3] [दे० रघुवंश—स्वयंवरा

---

१. 'वरः' में जो वृ+अ [वर्+अ] से बना है, उदात्त 'वर्' के 'अ' पर अथवा 'वर्' वाले अक्षर [syllable] पर है, तभी तो 'व' में उदात्त है, र में स्वरित [जो कि मूलत अनुदात्त है]। उदात्तका कोई चिह्न नही होता, अनुदात्तका चिह्न अक्षरके नीचे पडी लकीर [—] है, स्वरितका अक्षरके सिरपर खडी लकीर [|]। उदात्तके ठीक बादका अनुदात्त, यदि उसके बाद फिरसे कोई उदात्त स्वर नही है, तो स्वरित होता है। यह [rising tone] के एकदम बादवाला [falling tone] है।

२. वर में, जो भी वृ+अ [वर्+अ] से बना है, स्वर भिन्न है, यहाँ उदात्त स्वर 'अ' विकरणमें है 'वर्' का अक्षर अनुदात्त है।

३ स्वय वृणुते इति सा स्वयंवरा।

कृशविवाहवेषा] मे दूसरा रूप है, जब कि स्वयंवर[1] में पहला। स्वरके कारण इन अ-विकरणवाले रूपोमे अर्थभेदके अन्य उदाहरण ये है :—

चोद 'अंकुश', चोद 'प्रेरित करनेवाला', शोक 'प्रकाश', शोक 'प्रकाशमान'।

प्रा० भा० यू० भाषामें ही मूलरूपोंके विकरणयुक्त [themetic] तथा विकरणविहीन [athemetic] दोनो प्रकारके वैकल्पिक रूप पाये जाते थे। सस्कृतने कई नाम-रूपोंमें इस प्रकारके प्राचीन वैकल्पिक रूपोके कुछ चिह्न सुरक्षित रक्खे है यथा, आप., अपाम्; पादम्, पदः, भ्रूः, भ्रुवः, गौः, गाम्, गवाम्, श्वा, श्वानम्, शुनः, इन विभिन्न रूपोंमें। कुछ रूपोमें ये चिह्न नष्ट हो गये है, यथा वाक् वाचम्, वाचा में। वस्तुतः सस्कृत भाषाके शब्द-भाण्डारमें अधिक अश नामरूप है, जिसमें मूल रूपोसे विकरण [अन्तःप्रत्यय] सम्पृक्त रहता है। ये प्रत्यय अन्य प्रकारके भावोंको व्यक्त करते है, किन्तु इसमें वे अधिक तथा न्यून रूपमें एक साधारण भाव [सामान्य] का भी बोध कराते हैं। उदाहरणके लिए निष्ठा प्रत्यय तथा तुलनाबोधक [तरप्, तमप् आदि] प्रत्ययोको लिया जा सकता है। कभी-कभी नाम रूपोसे पुनः नाम रूपोकी उत्पत्ति होती है। इनमे कई रूपोंमें प्रथम अक्षरके स्वरमे वृद्धि पाई जाती है, यथा सौमनसम् [सुमनस् से], सासम् [ससखे], पार्थव [पृथुसे], भार्गव [भृगुसे]। इस प्रकारकी व्युत्पत्ति सस्कृत की एक प्रमुख विशेषता है।

प्रत्यय—सस्कृतके अधिकतर प्रत्यय [affixes] रूप तथा प्रयोग दोनों दृष्टियोंसे प्रा० भा० यू० तथा भारत-ईरानी प्रत्ययोसे मिलते है। यहाँ हम संस्कृतके प्रमुख कृदन्त तथा तद्धित प्रत्ययोपर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करेंगे।

---

१. स्वयं व्रियते अनेन [अत्र वा] इति स्वयंवरः।

संस्कृतका शतृ प्रत्यय,—"अत्" [अन्त्] प्रा० भा० यू० कृत् प्रत्यय *एन्त, *ओन्त [ent,ont] से विकसित हुआ है। इस प्रत्ययका प्रयोग वर्तमानके लिए होता है। इसके उदाहरण भरन्, पश्यन्, भवन् हैं। इसी अन्त् का दुर्बल रूप "अत्" भी पाया जाता है, जो संस्कृत तथा ग्रीक दोनोमें मिलता है। यह दुर्बल रूप हम "सत्" [सन्त्] हत् [हन्त्], भरत् [भरन्त्] आदिमे देख सकते है। इसी कृदन्त प्रत्यय *एन्त से तद्धित प्रत्यय—वन्त् का विकास माना जाता है, जो ग्रीकमे भी वन्त [went] रूपमें पाया जाता है। यह वन्त [वत] कभी कभी उस् के रूपमे भी पाया जाता है। यह उ, व का ही दुर्बल रूप है। संस्कृत पर्वन्, परुः [परुष्], धन्वन्, धनुः [धनुष्] उदाहरण इस तथ्यके पोषक हैं। इसी प्रत्ययसे सबद्ध "-वांस्" है, जो वैयाकरणोंकी परिभाषामें "क्वसु" कहलाता है। इसके दुर्बल रूप "-वस्" तथा "-उस्" मे अनुनासिक तत्त्वका सर्वथा अभाव पाया जाता है। ग्रीकमें भी यह प्रत्यय अनुस्वार हीन ही पाया जाता है। सं० विद्वान्, विद्वान्सौ, विदुषः, विद्वत्सु, ग्रीक (वे) एइद् (वो) ओस्' [(w) eid(w) os]। संभव है, संस्कृतमें आकर इस प्रत्ययमें 'अन्त्' [शतृ] के सादृश्यपर अनुस्वारका प्रयोग होने लग गया होगा।

संस्कृतके [कृदन्त] प्रत्यय ईयस् तथा इष्ठ के समानान्तर प्रत्यय ओ [-योस्] [o,-yos] तथा इसो [iso] ग्रीकमें पाये जाते हैं। संस्कृतके इन प्रत्ययोंको प्रा० भा० यू० *योस् (स० यस्) से विकसित माना जाता है। इस प्रत्ययके कई प्रकारके अपश्रुत्यात्मक रूप पाये जाते हैं, जिन्हे हम *इस्, *येस् *योस् मान सकते हैं। संस्कृत मे भी इसका सबलरूप ईयस् तथा दुर्बलरूप इष्ठ दोनो पाये जाते हैं। इष्ठ वस्तुतः इस् [यस् का दुर्बलरूप] तथा + त के संयोगसे बना होगा। इसे हम प्रा० भा० यू० *इस्तो [isto] से विकसित मान सकते हैं। संस्कृतके स्वादीयस् तथा स्वादिष्ठ मे यही प्रत्यय हैं। संस्कृतके क्वसु की भाँति इसके सबलरूपमे भी

अनुस्वारका समावेश हो गया है, जो संस्कृतकी ही विशेषता है, यथा स्वादीयांसो।[1] इसी प्रत्ययके दुर्बलरूप—*इस् मे *ओन्स जोडकर प्रा० भा० यू० मे ही एक नवीन प्रत्ययका विकास हो गया था। इस *इसोन्स से विकसित "ष्ण" रूप संस्कृतमे पाया जाता है, यथा सं० तेजीयस् [तीक्+ईयस्, तेजस्+ईयस्]; तीक्+ष्ण [तीक्ष्ण]। ये सभी प्रत्यय ठीक उसी तरह तुलनाबोधक है जैसे संस्कृतके तद्धित प्रत्यय "तरप्" तथा "तमप्", जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे। कभी कभी "ईयस्" के ये विभिन्न रूप एक साथ भी जोड दिये जाते थे, यथा 'तेक्ष्णिष्ठ' [तैत्तरीय आरण्यक २.१३.१] मे, जिसमे वस्तुतः एक साथ ष्ण तथा इष्ठ इन दो प्रत्ययों को जोड दिया गया है।

संस्कृतके "–अन्" तथा "–मन्" को प्रा० भा० यू० *एन् तथा *मन् से विकसित माना जाता है। ये दोनो ग्रीकमे भी ओन तथा म के रूपमे पाये जाते हैं। उदाहरणके रूपमे संस्कृत तक्षन्, ग्री० तेक्तोन [tektōn], तथा संस्कृत होम, ग्री० खेउम [kheu-ma] को ले सकते है। संस्कृतमे इस मन् का म रूप भी पाया जाता है, जो संस्कृत धर्मन् तथा धर्म दोनो रूपोसे स्पष्ट है। इस प्रत्यय से बने हुए रूप प्रायः नपुंसक पाये जाते है तथा इनमे मूल रूप पर उदात्त स्वर पाया जाता है। किन्तु इनमेसे कुछमे प्रत्ययपर भी उदात्त स्वर पाया जाता है और ये रूप पुल्लिंग होते है। उदाहरणके लिए ब्रह्मन् पुल्लिंग है, किन्तु ब्रह्मन् नपुंसकलिंग।

संस्कृतके निष्ठा प्रत्यय त, तवत् [क्त, क्तवतू] वस्तुतः भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे दो प्रत्यय न होकर एक ही प्रत्ययके दो रूप है। ये दोनो ही प्रा० भा० यू० *तो से विकसित हुए है। ये भूतकालिक विशेषणके रूपमे प्रयुक्त होते हैं। यह तो ग्रीकमे भी पाया जाता है। संस्कृतमे क्त प्रत्यय वाला भूतकालिक

---

१ Bloch L'Indo Aryen. P 108

विशेषण कर्मवाच्य [भाववाच्यमें भी] प्रयुक्त होता है किन्तु भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे प्रा० भा० यू० में यह केवल कर्तृवाच्यमें प्रयुक्त होता होगा। इसमें उदात्त स्वर सदा प्रत्ययांशपर पाया जाता है। धीरे धीरे यह प्रत्यय पहले नपुंसक हुवा तथा बादमें कर्मवाच्य [तथा भाववाच्य] में प्रयुक्त होने लगा। 'त' के ये तीनों क्रमिक रूप हम सुत [कर्तरि प्रयोग] घृतं [नपुंसक लिंग] तथा हृतः [कर्मवाच्य प्रयोग] में देख सकते हैं। *तो का ही कार्य करनेवाला एक और प्रा० भा० यू० प्रत्यय था, *नो[1]। यह भी 'क्त' की भाँति संस्कृतमें आकर कर्मवाच्यसे सम्बद्ध हो गया। आगे जाकर यह 'न' वस्तुत: 'त' का ही रूप माना जाने लगा। पाणिनिने "रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च द" इस सूत्रमें इस 'न' [*नो] को 'त' [*तो] का ही आदेश माना है। यह प्रत्यय पूर्ण, सम्पन्न आदिमें स्पष्ट है, किन्तु इसका वास्तविकरूप स्वप्न [स्वप् + न], दान [दा + न] में भी हम देख सकते हैं जहाँ यह प्रयोग कर्मवाच्यमें नहीं है। ध्यान दीजिये, कर्मणि प्रयोगमें उदात्त स्वर प्रत्ययपर पाया जाता है, जब कि नाम शब्दोंमें यह उदात्त स्वर मूल रूप [धातु] पर पाया जाता है। इसीसे सम्बद्ध एक दूसरा प्रत्यय ति माना जा सकता है, जो ग्रीकमें सि के रूपमें पाया जाता है। संस्कृतका यह क्तिन् प्रत्यय गति, मति, प्रीति, ज्ञाति आदि स्त्रीलिंग रूपोंमें पाया जाता है। वस्तुतः यह 'ति,' 'त' का ही स्त्रीलिंग रूप रहा होगा। इस बातसे यह भी पुष्टि होती है कि ये सब त [*तो] प्रत्ययके ही विभिन्नरूप रहे होंगे। एक दूसरे प्रत्यय 'तु' को भी इसीसे जोड़ा जा सकता है. किन्तु इस विषयमें ऐसा देखा जाता है कि जहाँ 'क्त,' क्तवत्, 'क्तिन्' के साथ धातु [मूलरूप] का दुर्बलरूप [weak form] पाया जाता है, वहाँ इसके साथ उसका सबलरूप [strong form] पाया जाता है। संस्कृतके तत, मत.;

1 Bloch L'Indo Aryen P 110.

ततवत्, मतवत्, ततिः, मतिः मे √तन् [तनु विस्तारे] तथा √मन् के दुर्बलरूप—त तथा म—पाये जाते है, जबकि "तन्तु," "मन्तु" मे इन्हीं धातुओंके सबलरूप देखे जा सकते है। इसी प्रत्ययसे संस्कृतके "तुं" [तुमुन्], तवे, तवै का विकास हुवा है। वैदिक संस्कृतमे ये सभी रूप पाये जाते है, किन्तु लौकिक संस्कृतमे केवल 'तुमुन्' ही पाया जाता है। इसके उदाहरण **गन्तु, गन्तवे** [वैदिकरूप], **गन्तवै** [वैदिकरूप] दिये जा सकते है।

संस्कृतके **तर्** [तृल्] को प्रा० भा० यू० *तेरो [tero] से विकसित माना जाता है। यह प्रत्यय सम्बधियोके नामोमे बहुत पाया जाता है। **माता, पिता, भ्राता, दुहिता, जामाता** आदि शब्दोमे यही तृल् [तर्] प्रत्यय है। ग्रीकमे भी इसका विकास 'तेर' [ter] के रूपमे हुवा है, जो हम **पतेर** [pater], **मातेर** [mater] आदि शब्दोमे देख सकते है। इन शब्दोमे उदात्त स्वर प्रत्ययपर प्रायः पाया जाता है। इसी *तेरो का *त्रो रूप भी पाया जाता होगा, जो बादमे जाकर एक स्वतन्त्र प्रत्ययके रूपमे विकसित हो गया। इस प्रकार जहॉ संस्कृतमे तृल् [*तेरो] प्रत्यय क्रियाके कर्त्ताके अर्थमे प्रयुक्त होने लगा, यह त्र [*त्रो] जो वस्तुतः *तेरो का ही दुर्बल रूप है, क्रियाके करणके अर्थमे प्रयुक्त होने लगा।[1] संस्कृत **नेता** [–तृ] तथा **नेत्र, खनिता** [–तृ] तथा **खनित्र, मन्ता** [–तृ] तथा **मन्त्रमे** हम इन दोनो प्रत्ययोको देख सकते है। यहॉ यह भी कह देना आवश्यक है कि प्रायः ये "त्र" प्रत्यय-वाले रूप नपुसक है, 'मन्त्र' शब्द अवश्य इसका अपवाद है, क्योकि यह पुल्लिग है। इस प्रत्ययवाले रूपोमे उदात्त स्वर धात्वशपर पाया जाता है।

तद्धित प्रत्ययोमे संस्कृतके तुलनाबोधक '**तरप्**' तथा '**तमप्**' के समानान्तर प्रत्यय **तेरो** [tero] तथा **तुमुस्** [tumus] क्रमशः ग्रीक तथा लैतिनमे पाये जाते है। संस्कृतमे इन 'तरप्' तथा 'तमप्' को कृदन्त प्रत्यय

१ Bloch L'Indo-Aryen p 110

'ईयस्' तथा 'इष्ठ' में प्रायः अर्थकी दृष्टिसे भिन्न नहीं माना जाता, किन्तु मूलरूपमें इन दोनों में भेद रहा होगा। प्रथम तो ये गौण प्रत्यय [तद्धित] हैं, वे प्रमुख प्रत्यय [कृदन्त]। दूसरे 'ईयस्' तथा 'इष्ठ' किसी वस्तुके आन्तरिक गुणकी उत्कर्षताको व्यक्त करते हैं, जब कि 'तरप्' दो वस्तुओंमेंसे एक वस्तुकी, तथा 'तमप्' अनेक वस्तुओंमेंसे एक वस्तुकी उत्कर्षता बताता है। तात्त्विक दृष्टिसे "तर" तथा "तम" अलगसे प्रत्यय न होकर 'त' प्रत्यय [जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है] के साथ दूसरे प्रत्यय "र" तथा "म" को जोड़कर बनाये गये हैं। ये र तथा म प्रत्यय स्वतन्त्र प्रत्ययोंके रूपमें भी अपर, प्रथम जैसे शब्दोंमें देखे जा सकते हैं। इन प्रत्ययोंका विशेष विवेचन विशेषणोंके प्रसंगमें देखिये।

संस्कृतका दूसरा प्रमुख प्रत्यय मन्त है, जिसका वन्त रूप भी पाया जाता है, यहाँ यह मतुप् कहलाता है। प्रा० भा० यू० में इसका केवल *वन्त रूप ही था, किन्तु भारत ईरानी कालमें ही इसका मन्त रूप भी पाया जाने लगा। संभव है, 'मान' [सं० शानच्] के सादृश्यपर यह रूप बना हो। इस तद्धित प्रत्ययका प्रयोग सम्बन्धबोधक विशेषणके रूपमें पाया जाता है, संस्कृत मघवन्, अवे० मघवन् [maγwan], सं० *पुत्र-वन्त [पुत्रवन्तौ], अवे० पुथ्रवन्त [puθrawant], सं० *मधुमन्त [मधु-मन्तौ], अवे० मदुमन्त [maδumant] में यही प्रत्यय है।

संस्कृतके भावबोधक प्रत्यय त्व तथा ता को भी प्रा० भा० यू० से ही विकसित माना जाता है। इन्हींके तात्, ताति [ता से बने], त्वन [त्व से बना] रूप भी संस्कृतमें पाये जाते हैं। इस प्रकार हम वैदिक संस्कृतमें देव शब्दके भाववाचक रूपको देवत्व, देवता, देवतात्, देवताति, देवत्वन इन कई उदाहरणोंमें पा सकते हैं। संस्कृतके 'त्व' तथा 'त्वन' के समानान्तर सुनो [suno] प्रत्यय ग्रीकमें पाया जाता है। ये दोनों ही वस्तुतः *तु [-अ-न] से विकसित हुए हैं। संस्कृतके 'ता' 'तात्' 'ताति' संभव है, कृदन्त प्रत्यय 'त' से विकसित हुए हों।

समास-प्रक्रियाः—

संस्कृत पदरचनाकी एक प्रमुख विशेषता समास-प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया प्रा० भा० यू० का ही विकास है, तथा ग्रीक, लैतिन, अवेस्ता आदि सभी भारतयूरोपीय भाषाओंमें पाई जाती है। जब हम संस्कृतकी समास-प्रक्रियाका उल्लेख करते हैं, तो हमारा तात्पर्य संस्कृतके उन समस्त रूपोसे है, जो संस्कृतकी बोलचालकी भाषामे पाये जाते होंगे, तथा जिनका रूप वैदिक संस्कृत एवं बादकी लौकिक संस्कृतकी ही कई साहित्यिक कृतियोंमें पाया जाता है। इस संबधमे पहले यह समझ ले कि विश्वकी भाषाओंको हम सर्वप्रथम दो प्रकारकी मान सकते हैं—[१] सावयव तथा [२] निरवयव। निरवयव या व्यास-प्रधान भाषाओंमे प्रत्येक शब्द अलग होता है तथा ये शब्द निश्चित भावका बोध कराते हैं। चीनी आदि एकाक्षर परिवार की भाषाएँ इसी कोटिकी हैं। सावयव भाषाओंको पुनः तीन वर्गोंमें विभक्त किया जाता है:—[१] समास प्रधान, [२] प्रत्ययप्रधान, [३] विभक्तिप्रधान। समास-प्रधान भाषाओंमे सारे शब्द समस्त होकर प्रयुक्त होते हैं तथा कभी कभी तो पूरा का पूरा वाक्य ही समस्त पद-सा होता है। अमेरिकाके जंगली लोगोकी भाषाएँ इस कोटिमें आती है। प्रत्यय प्रधान भाषाओंमे किसी भी शब्दका दूसरे शब्दसे संबंध बतानेके लिए प्रत्ययोंका प्रयोग किया जाता है। तुर्की, तथा तामिल, तैलगू, आदि द्रविड़ परिवारकी भाषाएँ इस कोटि की है। विभक्ति प्रधान भाषाओंमे किन्हीं दो शब्दोंके संबंधको विभक्तियोके द्वारा व्यक्त किया जाता है, जैसे हम संस्कृतमे सुप् तथा तिङ् विभक्तियोका प्रयोग करते है। समस्त भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाएँ इस विभक्तिप्रधान कोटिमे आयेंगी। वैसे इन भाषाओंमे प्रत्यय तथा समास-प्रक्रिया भी पाई जाती है, किन्तु ये इन भाषाओंकी प्रमुख विशेषताएँ नहीं है। उदाहरणके लिए, संस्कृतमे यह आवश्यक नहीं कि **"राजपुत्रः"** ही कहा जाय, यहाँ 'राज्ञः पुत्रः' से भी काम चल सकता है। वैदिक संस्कृतमें यह समास-प्रक्रिया प्रा० भा० यू० तथा ग्रीककी भाँति संकुचित तथा सीमित,

[२] **उत्तरपदार्थ प्रधान**—इस कोटिके समासोंमें उत्तरपद, प्रथम [पूर्व] पदकी अपेक्षा विशेष महत्त्व रखता है, उदाहरणके लिए तत्पुरुष तथा कर्मधारय।

[३] **अन्यपदार्थ प्रधान**—इस प्रकारके समासान्त पद किसी अन्य-पदको विशिष्ट करते हैं। ये विशेषण होते हैं, यथा बहुव्रीहि।

यहाँपर हम इन्हीं तीनों प्रकारके समासोंका विवेचन करेंगे। भाषा-शास्त्रीय दृष्टिसे 'द्विगु' तथा 'अव्ययीभाव' इन दो प्रकारके समासोंका विकास बादका है। द्विगु वस्तुतः कर्मधारयका ही एक रूप है,[1] जहाँ प्रथम पद संख्यावाचक होता है [यथा **नवग्रह, सप्तर्षि**], तथा अव्ययीभावको कर्मधारय या बहुव्रीहिसे विकसित माना जा सकता है। अव्ययीभावमें पूर्वपद अव्यय पाया जाता है, यथा **यथाशक्ति, उपकूलम्, उपकुम्भम्**। इस प्रकारके समासान्त पद ग्रीकमें भी पाये जाते हैं, यथा एप-अराउरास् [ep-aro-mos] [जिसका स्थान मिल गया हो] "**अंखि-अलोस्**" [ankhıalos] [समुद्रतटके समीप, स० उपकूलम्]।[2]

संस्कृतमें दो प्रकारके द्वन्द्व समास पाये जाते हैं। इनमें प्रथम कोटिके अन्तर्गत दोनों ही पद विशेषण होते हैं, यथा **नीललोहित, ताम्रधूम्र, अरुण-पिशङ्ग** में। इन प्रकारके समास वैदिक संस्कृतमें पाये जाते हैं, किन्तु इनका प्रयोग कम ही पाया जाता है।[3] दूसरे प्रकारके द्वन्द्वोंमें दोनों ही पद संज्ञा होते हैं। इन्हें भी पुनः दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं [१] देवताद्वन्द्व, [२] साधारणद्वन्द्व। देवताद्वन्द्वोंमें प्रायः दोनों पद द्विवचनमें प्रयुक्त होते हैं तथा दोनों पदोंमें स्वतन्त्र रूपसे उदात्त स्वर पाया जाता है। उदाहरणके लिए हम "मित्रा–वरुणा", "सूर्या–चन्द्रमसा" को ले सकते

---

१. Wackernagel Altindische Grammatik vol II. P. 305.

२. ibid vol II P 310

३. Wackernagel Altindische Grammatik P 171§74[B]

है। ऐसा जान पडता है, इस प्रकारके समासोंमें युग्म होनेके कारण दोनोंको द्विवचन मान लिया गया है। कभी कभी ऐसे भी प्रयोग पाये जाते हैं, जहाँ ये पद समस्त न होनेपर भी द्विवचनमें प्रयुक्त होते हैं यथा—

इन्द्रा नु पूषणा [ऋ. ६७, ५, ७१] इन्द्रान्वग्नी [६, ५६, ३],

विष्णू अगन् वरुणा [तै. आ. २·६·४·५]

चक्षु र्महि मित्रयो रा मेति प्रियं वरुणयोः [६ ५१·१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि समासमें देवताद्वन्द्वपद प्रायः सविभक्तिक रूप में पाये जाते हैं। ऋग्वेदमें 'मित्रयो-र्वरुणयो' [ऋ. ७, ६६, १] जैसे समस्त पदोंकी उपलब्धि होती है, जहाँ पूर्व तथा उत्तर दोनों पद षष्ठी द्विवचन में हैं।[1] इस प्रकारकी प्रवृत्ति हम अवेस्तामें भी पाते हैं, जैसे 'अहुरएव्य-मिथ्रएव्य' [ahuraebya mibraebya], जो संस्कृतके असुरेभ्यो-मित्रेभ्य के द्वारा अनूदित किया जा सकता है। बाद में जाकर धीरे धीरे ऋग्वेदमें ही ये द्वन्द्व उस विकासकी ओर बढते प्रतीत होते हैं, जो लौकिक संस्कृतमें पाया जाता है। ऋग्वेदमें ही कई स्थानोपर बादमें 'सूर्या-चन्द्रमसा' के प्रथम पद 'सूर्या' के 'र्या' वाले अक्षर [syllabie] का उदात्त स्वर लुप्त हो गया है, तथा उसको बादकी ऋचाओंमें 'इन्द्र-वायू' [प्राचीनरूप 'इन्द्रा-वायू'] जैसे रूप पाये जाने लगे हैं। इन्हींसे मिलते जुलते द्वन्द्व वे हैं, जिनमें द्वन्द्व-पद बहुवचनमें पाया जाता है, यथा अहो-रात्राणि [अघमर्षणसूक्त], अजावय [पुरुषसूक्त]। कुछ द्वन्द्व समाहृत होकर नपुंसकके रूपमें भी प्रयुक्त होते हैं, यथा इष्टा-पूर्तम्, कृता कृतम, केशश्मश्रु।

---

१. ibid P 151-52 § 63 [C]

लौकिक संस्कृतमे जहाँ कहीं हम प्रथम पदमे द्विवचन देखते है, वे सब वैदिक कालीन द्वन्द्वोके ही अवशेष है। संस्कृतमे बादमे आकर नवीन शब्दोमे इनका सर्वथा लोप हो गया है, यथा **राम-लक्ष्मणौ** मे। ये वैदिक कालीन द्वन्द्व कभी-कभी एक ही पदके द्विवचन रूपमे प्रयुक्त होते है, तथा इनके कुछ अवशिष्ट संस्कृतमे भी पाये जाते है। वेदमे **द्यावा, मित्रा** का प्रयोग **द्यावा-पृथिवी, मित्रा-वरुणा** के अर्थमे पाया जाता है। लौकिक संस्कृतमे भी हम **पितरौ** [जगतः पितरौ वन्दे] का प्रयोग **माता-पितरौ** के अर्थमे देखते है।

तत्पुरुष समासोमे प्रथम पद किसी न किसी कारक [विभक्ति ?] का बोध कराता है। इसमे यदि प्रथम पद कर्म, करण, अपादान अथवा अधिकरणका बोध कराता है, तो प्रायः द्वितीय पद धातुज संज्ञा [verbal noun] होता है। किन्तु यदि यह प्रथम पद सम्प्रदान अथवा संबंधका बोध कराता है, तो वह केवल संज्ञा होता है। उदाहरणके लिए क्रमशः **गोघ्न, देवदत्त, पङ्कज [गो-ज], अहर्जात; विश्व-शम्भू [विश्वाय...], विश्पति, देव-किल्विष** को ले सकते है। कभी-कभी इनमेंसे प्रथम पदकी विभक्तिका लोप नहीं होता। इस प्रकारके समास वैयाकरणोकी परिभाषामे 'अलुक्' कहलाते है। **धनंजय; वाचास्तेन; दस्यवेवृक; दिवोज; ब्रह्मणस्पतिः, शुनःशेप, रथेष्ठा, सरसिज** मे यही अलुक् प्रवृत्ति पाई जाती है।[1] इस प्रकारकी प्रवृत्ति अवेस्तामे भी पाई जाती है· यथा **वीरम्-ज़न्** [vīrəm-zan] [**सं० *वीरहन्**]। इस संबंधमे यह कह देना आवश्यक होगा कि तत्पुरुष समास ऋग्वेदमे कम ही पाये जाते है। प्राचीन ग्रीकमे भी इस प्रकारके समास कम ही है। अधिकतर ये समास **पद** तथा **पति** के संयोगमे पाये जाते थे, यथा ग्रीक **द-पेदोन** [dapedon], **देस्-पोतेस्** [despotes], (**प्रा० रू० *देम्पोतेस्** [dem-potes] — [मिलाइये **सं० दम्पतिः** [***दमस्पतिः**]।

१ ibid. pp 246 and following, § 99

२ ibid p 241 § 97 (a)

वैदिक संस्कृतमें कर्मधारय समास, जिनमें पूर्वपद विशेषण होता है, इनसे भी कम पाये जाते हैं। प्राचीनतम उदाहरण एक-वीर., चन्द्र-मा., महा-धन. हैं। कई कर्मधारयोंमें उपसर्ग भी प्रथम पदके रूपमें प्रयुक्त पाया जाता है, यथा प्रणपात्। कुछ उदाहरणोंमें प्रथम पद धातुज अंश होता है यथा त्रसदस्यु, शिक्षा-नर, रदा-वसु, जिनमें वस्तुत प्रथम पद लोट्के मध्यम पुरुष एकवचनका रूप है [शिक्षा तथा रदा में पूर्व पदका अंतिम स्वर अ दीर्घ हो गया है]।[1] लौकिक संस्कृतमें आकर ये कर्मधारय प्रचुरतामें पाये जाने लगे हैं।

बहुव्रीहि समास अन्य पदार्थ-प्रधान होते हैं। प्राचीन भाषामें ये कर्मधारयकी अपेक्षा विशेष पाये जाते हैं। इस तथ्यसे यह निष्कर्ष निकलता है कि ये समास वस्तुतः विशेषणीभृत कर्मधारय ही हैं, जिनमें शुद्ध कर्मधारयसे केवल यही भेद है कि इनमें उदात्त स्वर प्रथम अक्षरपर पाया जाता है। इस प्रकारके स्वरभेदको हम चतुर्थ परिच्छेदमें दिखा चुके हैं। तुलनात्मक भाषाशास्त्रमें इन बहुव्रीहि समासोंका उद्भव एक प्रकारका सामासिक प्रश्न है। वाकेरनागेलके मतानुसार बहुव्रीहि समास वस्तुतः व्यस्त रूपोंसे विकसित हुआ है। वह बताता है कि इन्द्रज्येष्ठा देवा. को इन्द्रो ज्येष्ठ. . . देवाः से विकसित माना जा सकता है।[2] इस प्रकारके व्यस्त रूप जिनसे इन बहुव्रीहियोंका विकास माना जा सकता है, लैतिन तथा प्राचीन फारसीमें भी पाये जाते हैं। वाकेरनागेलने इसी संबंधमें इन दोनों भाषाओंसे ये उदाहरण दिये हैं :—

उर्ब्ज अंतीका फुइत, तीरी तेन्युएरे कोलोनी कार्थागो।

[urbs antica fuit, tiri tenuere coloni Carathago]

[कार्थेग [एक] प्राचीन नगर था, [जहाँ] तीरीन लोग निवासी थे]। संस्कृतमें इसे यों अनूदित कर सकते हैं, आसीत् कार्थागो [इति] पुरा-

---

१ ibid p 316 § 120 (c)

2. Wackernagel Altindische Grammatik p 290 § 112(c)

तना पुरी; तीरिणः [तीरिनः] निवासिनो बभूवुः। यहाँ हम 'तीरीन लोग रहते थे' के स्थान पर, इसे "जहाँ तीरीन लोग रहते थे" इस रूपमें समस्त बहुव्रीहि बनाकर "**तीरिनिवासिनी**" [तीरिणः निवासिनः यस्या सा] का प्रयोग भी कर सकते है। इसी प्रकार बहुव्रीहिका विकास माना जा सकता है। वाकेरनगेलका फारसीवाला उदाहरण यह है:—"**मर्तिया फ़ाद नाम**" [martiya fiada nāma], [एक मनुष्य, फ़ाद [उसका] नाम [था]]। इसे भी संस्कृतमें "**फ़ादनामा**" के रूपमें बहुव्रीहि बनाया जा सकता है। इस सब विवेचनका तात्पर्य यह है कि यह समास व्यस्त वाक्यसे ही विकसित हुवा है। बहुव्रीहिके उदाहरणके रूपमें हम **अश्वपृष्ठ, यमश्रेष्ठ, प्रयतदक्षिण, ऊग्रबाहु, हतमातृ, राजपुत्र, हिरण्यनेमि, दुष्पद, सुपर्ण, अपत्** [**अपात्**] ले सकते है।

संज्ञा, विशेषण तथा सर्वनामके रूपोका विवेचन करनेके पूर्व हमें थोड़ा उन परिवर्तनोकी ओर ध्यान देना होगा, जो एक ही शब्दके विभिन्न रूपोंमे पाये जाते है। जैसा कि हम देख चुके है सप्रत्यय या अ-विकरणयुक्त [थेमेटिक] नाम रूपोमे प्रायः एक अपरिवर्तनशील अन्तःप्रत्यथ 'अ' [थेमा thema] पाया जाता है। किन्तु प्राचीनकालसे ही प्रत्ययहीन रूपोकी संख्या बहुत पाई जाती है, जिनके अंतर्गत अन्तःप्रत्यय [विकरण] स्वरकी मात्रा तथा उदात्तादिस्वरकी दृष्टिसे बडा भेद पाया जाता है।

पुरुषवाचक सर्वनामो [personal pronouns] तथा कतिपय निर्देशात्मक सर्वनामो [demonstrative pronouns] मे प्रायः एक ही प्रकारका अन्तःप्रत्यय पाया जाता है। **अहम्, माम्, मम, स, सा, तत्, तस्य, ते** आदिमें। जिनमें मूलरूपमें **रेफ, 'इ' 'उष्मध्वनि'** या उ पाया जाता है, इनके कई रूपोमें प्रायः '**न**' [अन्तःप्रत्यय] का प्रयोग होता है। अधिकतर यह प्रयोग नपुसक लिंगके रूपोकी ही विशेषता है। पुल्लिंग व स्त्रीलिंगमें यह बहुत कम पाया जाता है।

अहर्, अह्न, अह्नाम् [अवेस्ता अश्नम् [asˇnam]
असृक्, अस्न., हित्ताइत, एश्हर [esˇhar], एश्नश् [esˇnasˇ]
अक्षि, अक्ष्णः
दधि, दध्न
शिरष्, शीर्ष्णः
यूष् [यूः], यूष्णः [ऋग्वेद]
दोष् [दोः], दोष्णः
दारु, द्रुण [वैदिकरूप], दारुणः [लौकिक संस्कृत]

स्वरका परिवर्तन भी हम कई रूपोंमे देख सकते हैं, उदाहरणके लिए 'उ' कारान्तके दो प्रकारके परिवर्तन हम गुरोः [गुरु] तथा दिवः [द्यु] मे देख सकते हैं। प्रा० भा० यू० मे जहाँ ओ, ए तथा शून्य का परिवर्तन पाया जाता है, भारत-ईरानी वर्गमे आ, अ, तथा शून्य [zero] पाया जाता है। उदाहरणके लिए हम वृत्रहा, वृत्रहणम्, वृत्रघ्नः को ले सकते हैं जिनमे क्रमशः आ, अ तथा शून्य रूप पाये जाते हैं। ठीक यही रूप क्रमशः पिता, पितरं, पित्रे मे पाये जाते हैं।

संस्कृत शब्दरूपः—सस्कृत शब्दरूपोमे तीन लिंग, तीन वचन तथा आठ विभक्तियाँ पाई जाती हैं। सस्कृतके लिंग विधानके विषयमे यह प्रसिद्ध है कि यह अंशतः व्याकरणात्मक है, यही कारण है कि हमे 'दार' जैसे स्त्रीवाचक शब्दोमे पुलिंग मिलता है, तो 'कलत्र' 'मित्र' जैसे अनपुसक वाची शब्दोंमे भी नपुसक लिंग। सस्कृत वैयाकरणोने व्याकरणात्मक लिग विधानके नियमोकी अवतारणा की है। प्रा० भा० यू० लिंगविधानके विषय मे विद्वानोंका यह मत है कि वहाँ मूलतः दो ही लिंग रहे होंगे, एक 'सामान्य-लिंग' जिसमे पुल्लिग तथा स्त्रीलिग दोनो समाहित होते हैं, तथा दूसरा 'नपुंसकलिंग'। हित्ताइत भाषामे इस प्रकारका लिंगविधान पाया जाता है, जहाँ स्त्रीलिंगका अभाव देखा जाता है। इसके बाद कहीं जाकर प्रा० भा० यू० के परवर्ती विकासमे स्त्रीलिंगका विकास हुआ है। किन्तु जहाँ तक

द्विवचनके अस्तित्वका प्रश्न है, उसके चिह्न हित्ताइत तकमें पाये जाते है। संस्कृत, ग्रीक, तथा लिथुआनियन आदिके आधारपर मेये एव अन्य 'भाषा-शास्त्रियोने प्रा० भा० यू० मे द्विवचनका अनुमान किया है तथा हित्ताइत भाषाके विश्लेषणने उसकी पुष्टि कर दी है।

संस्कृत शब्दोंकी आठ विभक्तियोंमें जोड़े जानेवाले विभक्ति चिह्न निम्न हैं :—

	एकवचन		द्विवचन		बहुवचन	
	पु० स्त्री०	नपु०	पु० स्त्री०	नपु०	पु० स्त्री०	नपु०
प्रथमा	स्	—	औ [आ]	ई	अस्	इ[1]
द्वितीया	अम्	—				
तृतीया	आ [एन]	आ [एन]	भ्याम्	भ्याम्	भिस्	भिस्
चतुर्थी	ए	ए			भ्यस्	भ्यस्
पञ्चमी	अस्	अस्				
षष्ठी			ओस्	ओस्	आम्	आम्
सप्तमी	इ	इ			सु	सु
सम्बोधन	—	—	औ	ई	अस्	इ

संस्कृतके संज्ञारूपोको अदन्त तथा हलन्तकी दृष्टिसे पुनः विभाजित किया जा सकता है। अदन्त शब्दोंको निम्न कोटियोमे विभक्त किया जा सकता है:—

१. नपुंसक लिंगके बहुवचनमे अदन्त शब्दोंमे 'इ' के पूर्व 'न्' जोड दिया जाता है, यथा ज्ञानानि। यह 'न्' अघोप तथा ऊष्म व्यञ्जनके अन्तमें होने पर भी जोडा जाता है, यथा धनूंषि, जगन्ति, प्रत्यञ्चि।

[१] अकारान्त तथा आकारान्त शब्द.

[२] इकारान्त तथा उकारान्त शब्द.

[३] ईकारान्त तथा ऊकारान्त शब्द .

[४] ऋकारान्त शब्द.

[५] ध्वनियुग्मान्त [diphthong-ending] शब्द.

हलन्त शब्दोको भी दो कोटियोमे विभक्त कर सकते है।

[१] अपरिवर्तनशील अन्त वाले शब्द, इस कोटिके शब्दोंके रूपोमे परिवर्तन नहीं पाया जाता, यथा जगत्, पात्, वाक् आदि।

[२] परिवर्तनशील अन्त वाले हलन्त शब्द, इस कोटिके शब्दोंमे वे आते हैं, जो त्, न्, स् अथवा च् अन्त वाले प्रत्ययोसे बनते है। महत्, कनीयस्, हस्तिन्, वृत्रहन्, प्रत्यन्च् आदि इस कोटिके शब्दोके उदाहरण हैं।

यहॉ हम केवल सस्कृत विभक्तिचिह्नोका ही भाषावैज्ञानिक विकास देगे। शब्दरूपोका सकेत हमने परिशिष्ट 'ख' मे किया है, जहॉ तुलनात्मक दृष्टिसे ग्रीक तथा लैतिनके समानान्तर अजत तथा हलन्त शब्दरूपोका भी विवरण मिलेगा।

एकवचन रूप

सस्कृतके पुल्लिग तथा स्त्रीलिंगके प्रथमा एकवचनमे दो प्रकारके रूप पाये जाते हैं। कुछ रूपोमे [प्रायः अदन्तोमे] 'स्' [सुप्] विभक्तिचिह्न जोड़ा जाता है। यह विभक्तिचिह्न अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त, तथा ऊकारान्त शब्दोंमे तथा ध्वनियुग्मान्त शब्दोमे नियत रूपसे जोडा जाता है। आकारान्त तथा ईराकान्त शब्दोमे इस स् का प्रयोग कम पाया जाता है, जिसके उदाहरण विश्वपाः, [पु०], सुधीः, [पु०] श्रीः, ह्रीः [स्त्री०] दिये जा सकते है। हलन्त शब्दोमे यह स् नहीं जोडा जाता। किन्तु ऐसा अनुमान होता है कि प्रा० भा० यू० *स् *[*–s]

[सं० स्] कुछ हलन्तोमे भी जोडा जाता था । उदाहरणके लिए संस्कृतके वाक्, विट्, विद्वान् के समानान्तर रूपोके लिए अवेस्ता वाख्श् [waxš], विश्, [wiš], ग्रीक एइदोस् [eidōs] [अर्थ, पण्डित या ज्ञानी] को लीजिये ।[1] इससे स्पष्ट है कि संस्कृतके क्, ट्, न्, जो इन रूपोमें पाये जाते हैं, संभवतः भारत-ईरानी प्रथमा विभक्ति चिह्न स् के ही अन्य विकसित रूप है । वैसे पिता, सखा, हस्ती, श्वा आदि रूपोमें इस स् का सर्वथा अभाव है । अवेस्तामें हम इसे देख सकते हैं—पिता, हख़ा, स्पा [pitā; haxā; spā] । 'स्' के प्रयोगके लिए प्रा० भा० यू० रूपोसे विकसित रूपोके ये उदाहरण ले सकते हैः—

वृकः	ग्रीक	लुकास्	[lukos]
गिरिः	अवे०	गइरिश्	[gairiš]
क्रतुः	,,	ख्रतुश्	[xratuš]
द्यौः	ग्रीक	ज़ेउस् = *द्ज़ेउस्	[zeus = *dzeus]

इन शब्दोके द्वितीया एकवचन रूपोमें 'म्' विभक्तिचिह्न जोड़ा जाता है । यह म् हलन्त शब्दोंके रूपोमें अम् हो जाता है, यथा * दधत्—दधतम् । इस विभक्तिचिह्नका विकास प्रा० प्रा० यू० स्वरीभूत *म् से माना जाता है, जो ग्रीकमें न तथा अ के रूपमें विकसित हुवा है ।

संस्कृत अश्वम्	अवे०	अस्पअम् [aspəm]	ग्री०	हेप्पान्	[heppo-n]
,, पादम्	,,	पाद्अम् [padəm],	,,	पोद	[poda]

यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि जहाँ संस्कृतमें अदन्तोमें म् जोड़ा जाता है, वहाँ ग्रीकमें "न्" पाया जाता है, और हलन्तोंमें संस्कृतमें अम् जोड़ा जाता है, ग्रीकमें केवल अ ही पाया पाता है ।

---

[1] Bloch. L' Indo-Aryen. p 117.

संस्कृतमें नपुंसक लिंगके प्रथमा तथा द्वितीयाके एकवचन दोनों एकसे ही होते हैं। इनमें भी हम दो प्रकारकी कोटियाँ विभक्त कर सकते हैं। अकारान्त शब्दोंमें 'म्' विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, किन्तु अन्य स्वरान्त तथा हलन्त शब्दोंमें "शून्य [zero]" विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है। इस संबंधमें, पदरचनाशास्त्रमें इस "शून्य" के महत्त्वपर दो शब्द कह दिये जायँ। वस्तुतः यह "शून्य [O]" भी ठीक वही कार्य करता है, जैसा कोई विभक्ति चिह्न या प्रत्यय। उदाहरणके लिए संस्कृतके 'क्विप्' प्रत्ययको ले लीजिये। यह क्विप् प्रत्यय वर्तमान काल [लट्] के प्रथम पुरुष एकवचनके रूपको स्वरहीन बना देता है, **पठत्**, **भवत्**, **कुर्वत्**, किन्तु इसके साथ अन्य कोई ध्वनि नहीं जोडी जाती। अर्थात् ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे क्विप्का कोई महत्त्व भले ही न हो, किन्तु पदरचनाकी दृष्टिसे इसका महत्त्व मानना ही होगा। विशेष स्पष्टीकरणके लिए क्विप्-प्रक्रियाको भाषावैज्ञानिक यों व्यक्त करेगा:—

करोति [*कुर्वति] + क्विप् [O] = कुर्वत् + O = कुर्वत्
पठति + क्विप् [O] = पठत् + O = पठत्
भवति + क्विप् [O] = भवत् + O = भवत्

यहाँपर हमें कोई न कोई प्रत्यय मानना पड़ता है, भाषावैज्ञानिक उसे 'शून्य' [zero] कहेगा, पाणिनिने उसके लिए 'क्विप्' संज्ञा दी है। आजसे हजारों वर्ष पूर्व महर्षि पाणिनिने इस "शून्यके" पदरचनात्मक महत्त्वको भली भाँति समझा था। तभी तो ध्वनि, प्रत्यय आदिके लोपकी परिभाषा "**अदर्शनं लोपः**" से उनका तात्पर्य मेरी समझमें यह था कि यद्यपि वह ध्वनि, प्रत्यय या विभक्तिचिह्न दिखाई नहीं देता, तथापि प्रकृतिमें विकार उत्पन्न करनेमें वह पूर्णतः शक्त होता है। हाँ, यह दूसरी बात है कि वह विकार कभी कभी स्पष्ट दिखाई नहीं पडता। नपुंसक लिंगके हलन्त शब्दोंके प्रथमा तथा द्वितीया एकवचन रूपोंमें प्रायः यही "शून्य" विभक्तिचिह्न [zero inflexion] पाया जाता है। **जगत्** शब्दके प्रथमा-द्वितीया एक-

वचनके रूप जगत् मे भाषाशास्त्री स्पष्ट ही "शून्य" [O] विभक्तिचिह्न मानेगा।

शब्द		विभक्तिचिह्न [प्रथमा द्वितीया-ए-व०]		पद
जगत्	+	O	=	जगत्
भवत्	+	O	=	भवत्
गच्छत्	+	O	=	गच्छत्

यदि ऐसे 'शून्य' विभक्तिचिह्नकी सत्ता न मानी जायगी, तो ये पद प्रथमा या द्वितीया एकवचनके रूपका बोध नहीं करा सकेंगे। नपुंसक लिंगके दोनों तरहके रूपोंके उदाहरण ये है:—

स०	क्षत्रम्	अवेस्ता	ख्शथ्र्अम्	[xšaθɪəm]
,,	मधु	,,	मदु	[maδu]
,,	स्वर्	,,	ह्वर्अ	[hwarə]
,,	मनः	,,	मनो	[mano]
,,	महत्	,,	मज़त्	[mazat]

भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे नपुंसक लिंगके प्रथमा-द्वितीया एकवचनमे इ सुप् विभक्तिचिह्न भी पाया जाता है। इस इ सुप् विभक्तिचिह्नको हम अक्षि, सक्थि, अस्थि, दधि मे देख सकते हैं[1]। संस्कृतके इन तथाकथित इ-कारान्त नपुंसक लिंग शब्दोंमे वस्तुतः वह 'शून्य' विभक्तिचिह्न नहीं माना जा सकता, जिसे हम मधु, मनस् [:] या महत् मे देख सकते है। तात्त्विक दृष्टिसे इन प्रथमा-द्वितीया एकवचन रूपोंको अक्ष[–न्], सक्थ [–न्], अस्थ [–न्] दध [–न्] रूपोंमे 'इ' विभक्तिचिह्न जोड़कर बनाया माना जा सकता है। इस प्रकारका इ सुप् प्रत्यय हम वारि मे भी देख सकते है, जहाँ वार् + इ है। वार् शब्द संस्कृतमे स्वतन्त्ररूपमे भी पाया जाता है, जिसका षष्ठ्यन्त रूप 'वारां निधिः' मे देखा जा सकता है। यही कारण है कि इन

1 Wackernagel Altindische Grammatik Vol 2 p 34 § 11(d)

प्राचीन भारतयूरोपीय तृतीया एकवचनकी सुप् विभक्तिकी कल्पना *अ [*ə] के रूपमें की जा सकती है, जिसके कारण ह्रस्व इ, उ दीर्घ होकर तृतीयैकवचनान्त रूप बनेंगे। या तथा वा वाले रूप ईकारान्त देवी जैसे शब्दोंके रूप देव्या के सादृश्यपर पाये जाने लगे होंगे। इसी प्रकार तृतीया एकवचनका ना वाला विभक्तिचिह्न इनन्त शब्दोंके तृतीयैकवचनान्त रूपोंके सादृश्यपर बना होगा, यथा—

करि [न्]–करिणा : : हरि–हरिणा : : भानु–भानुना

चतुर्थी एकवचनमें 'ए' विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, जिसे प्रा० भा० यू० *अइ तथा *एइ का विकसित रूप माना जाता है। ग्रीकमें चतुर्थीके एकवचनमें ओइ का प्रयोग होता है, यथा लोगोइ [logōi] [अर्थ, शब्दके लिए]। अकारान्त शब्दोंके रूपोंमें यह 'ए', 'आय' का रूप धारण कर लेता है, यथा देवाय। ईकारान्त रूपों [स्त्रीलिंग रूपों] में यह ऐ के रूपमें विकसित देखा जाता है, यथा देव्यै [देवीसे चतु० ए० व०]। आकारान्त [स्त्रीलिंग] शब्दोंके चतुर्थी एकवचन रूपोंमें मूल शब्द तथा सुप् प्रत्ययके बीचमें आय अंश जोड़ दिया जाता है, यथा सूर्यायै [सूर्या से चतु० एकवचन]।

पञ्चमी एकवचन तथा षष्ठी एकवचन दोनोंके रूपोंको साथ-साथ ही लिया जा सकता है। जैसा कि स्पष्ट है, इन दोनोंका विभक्तिचिह्न अस् है। इसका अपवाद हम केवल अकारान्त शब्दोंके रूपोंमें पाते हैं, जहाँ पञ्चमीमें आत् तथा षष्ठीमें स्य विभक्तिचिह्न पाये जाते हैं। पञ्चमीके इस आत् को हम प्रा० भा० यू० *ओद् [तथा *एद्] से जोड़ सकते हैं। यह *ओद्, आद् के रूपमें लैतिनमें भी पाया जाता है। ग्रीकमें वस्तुतः पञ्चमी [Ablative] का ही अभाव है[1]। लैतिनमें तो सम्भवतः यह स्त्रीलिंग शब्दोंमें भी पाया जाता होगा। लैतिनके 'मेन्साद् [mensād] [टेबुलसे], अन्नोद् [annōd] [वर्षसे], इन उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि संस्कृतके 'देवात्–द्' के

[1] देखिए परिशिष्ट ख।

सदृश विभक्तिचिह्न वहाँ पाया जाता है[1]। षष्ठीके एकवचनमें प्रा० भा० यू० में *एस् तथा ओस् विभक्तिचिह्न की कल्पना की गई है, जो पञ्चमीका भी विभक्तिचिह्न था। सस्कृतका 'अस्' विभक्तिचिह्न इसीसे विकसित हुआ है, जो हरेः [हरि + अस्], विष्णोः [विष्णु + अस्] में स्पष्ट है। यहाँ यह रूप पञ्चमी तथा षष्ठी दोनोके एकवचनमें पाया जाता है। सस्कृत अकारान्त शब्दोके षष्ठी एकवचनका स्य विभक्तिचिह्न वस्तुतः सर्वनाम शब्दो के षष्ठी एकवचनका विभक्तिचिह्न था। धीरे धीरे तस्य, यस्य के सादृश्य देवस्य आदि रूपोंका विकास हुवा है। षष्ठीका विभक्तिचिह्न स् के रूपमें ग्रीक तथा लैतिनमें भी विकसित हुवा है :—ग्रीक, खोरास् [khōras] [देशका], पोलिओस् [polios] [पुरीका, स० पुरः, पुर्या.], लैतिन, मेन्सास [mensas] [टेबुलका], सिउइस् [ciuis] [नागरिकका]। यह सस्कृत पञ्चमी-षष्ठी विभक्तिचिह्न अस् इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोमें एः तथा ओ रूप धारण कर लेता है। ऋकारान्त शब्दोमें यह उ· [स० पितु] पाया जाता है।

सप्तमी एकवचनका चिह्न 'इ' है। यह 'इ' विभक्तिचिह्न मनसि, नरि, विशि, तन्वि में तथा दूरे, हस्ते, देवे [अ + इ = ए] में स्पष्ट है। हलन्त शब्दोके सप्तम्येकवचन रूपोंमें भी यह 'इ' विभक्तिचिह्न पाया जाता है। इस 'इ' का विकास कहीं-कहीं ग्रीक भाषामें भी मिलता है, यथा ग्रीक पोलि [poli] [सं० पुरि]। वैदिक सस्कृतमें कई ऐसे सप्तम्यन्त [एकवचन] रूप भी मिलते हैं, जिनमें कोई विभक्तिचिह्न नहीं पाया जाता। वस्तुतः इन रूपोमें "शून्य–विभक्तिचिह्न" [zero-inflexion] होता है। वैदिक भाषामें इकारान्त, उकारान्त, ईकारान्त तथा 'अन्' अन्त वाले शब्दोके सप्तमी एकवचनके रूपोंमें कोई ध्वन्यात्मक विभक्तिचिह्न [phonetic inflexion] नहीं पाया जाता, उदाहरणके लिए, "परमे व्योमन्" यहाँ

---

1 Atkinson Greek Language p 82

व्योमन् वस्तुतः सप्तम्यैकवचनान्त रूप है, जो लौकिक संस्कृतमें व्योम्नि बन जाता है। कुछ ऐसे भी हलन्त शब्दोंके सप्तमी ए० व० रूप हैं, जो शून्य रूपोंसे लगते हैं, यथा अहर्। इन अर् अन्तवाले रूपोंको सप्तम्यन्त माना जाय, या स्वर् की भाँति केवल क्रियाविशेषण ? वस्तुतः ये सभी शून्य रूपवाले अथवा शून्य विभक्तिचिह्न रूप आरम्भमें क्रियाविशेषण ही थे। बादमें आकर इनके साथ भी सुप् प्रत्यय इ का प्रयोग होने लग गया होगा। किन्तु अन् अन्तवाले शब्दोंमें भारत-ईरानी वर्गतक यह इ का प्रयोग नहीं पाया जाता। वेदोंमें यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है, यथा अहन्, अज्मन् जो सप्तम्यन्त रूप है। वैदिक भाषामें ईकारान्त तथा ऊकारान्त [स्त्रीलिंग] शब्दोंके सप्तमी एकवचन रूपोंमें "शून्य" [O] विभक्तिचिह्न पाया जाता है, यथा नदी, तनू, चमू। इन रूपोंको अकारान्त शब्दोंके रूपोंके सादृश्यपर जनित माना जा सकता है। उदाहरणके लिए संस्कृत दम शब्दका सप्तमी एकवचनका दमे तथा बहुवचनका दमेषु रूप होता है; इसी आधारपर ये रूप यों बने होंगे—

दमे : दमेषु : : नदी : नदीषु : : चमू : चमूषु : : तनू : तनूषु

संस्कृत इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंके रूपोंमें पाया जानेवाला औ [हरौ, भानौ] प्रा० भा० यू० न होकर भारत-ईरानी वर्गकी विशेषता है। यह *औ अवेस्तामें ओ तथा अव के रूपमें पाया जाता है। यह *औ विभक्तिचिह्न आरम्भमें केवल उकारान्त शब्दोंकी ही विशेषता थी, तथा इकारान्त शब्दोंका विभक्तिचिह्न *आइ रहा होगा। धीरे-धीरे सादृश्यके आधारपर अग्नौ, गिरौ, इष्टौ में भी यह चिह्न पाया जाने लगा। इस *आइ का संकेत हम वैदिक संस्कृतके कुछ सप्तमी ए० व० रूपोंमें, जैसे श्रुता, अग्ना में पा सकते हैं, जहाँ यह चिह्न ध्वनिपरिवर्तनके कारण केवल 'आ' रह गया है। इनका प्राचीन रूप हम *श्रुताइ, *अग्नाइ मान सकते हैं[1]।

---

१ Bloch · L'Indo-Aryen P 119.

सप्तमी विभक्तिके एकवचनमें स्त्रीलिंग रूपोंमें एक और विभक्ति चिह्न पाया जाता है,—"आम्"। यह आम् आकारान्त, साथ ही ह्रस्व एवं दीर्घ इकारान्त तथा उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंके रूपोंमें पाया जाता है। इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० यू० *आइ [आ + इ] से मानी जा सकती है, जिसका प्रयोग आकारान्त शब्दोंमें पाया जाता था। यह *आइ विभक्तिचिह्न भारत-ईरानी वर्गमें आकर *आया के रूपमें विकसित हुआ, तथा अवेस्तामें "अय" के रूपमें पाया जाता है।[1] संस्कृतमें आकर इसमें अम् जोड दिया गया है, और इस तरह यह विभक्तिचिह्न ठीक उसी तरह आयां [आया + अम्] बन गया है, जैसे अवेस्ताका तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी द्विवचनका विभक्ति-चिह्न ब्य [bya] संस्कृतमें भ्याम् हो गया है। सप्तमी एकवचनके ये रूप दोनों भाषाओंके इन समानान्तर उदाहरणोंमें देखे जा सकते हैं :—

सं० ग्रीवायाम् , अवेस्ता ग्रीवय [grīwaya]

सम्बोधन एकवचनके रूपोंमें प्रायः शून्य विभक्ति रूप ही पाया जाता है। संस्कृत अकारान्त शब्दोंके इन रूपोंमें शून्य विभक्तिचिह्न पाया जाता है। किन्तु ग्रीकमें इनके समानान्तर ओकारान्त शब्दोंके सम्बोधनके एकवचन रूपोंमें ए [e] विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, यथा लोगे [loge] [हे शब्द]। किन्तु अन्य अन्तवाले ग्रीक शब्दोंके इस विभक्तिके ए० व० रूपोंमें कोई चिह्न नहीं पाया जाता, जब कि संस्कृतके आकारान्त शब्दोंके रूपोंमें 'ए' अन्तवाले रूप [सं० रमे = रमा + इ], इकारान्त तथा उकारान्तोंमें ए तथा ओ अन्तवाले रूप [हरे ∠ *हरि + आ = *हरा + इ[2]], [भानो ∠ *भानु + आ = *भाना + उ[2]], तथा ईकारान्त रूपोंमें दीर्घ ईकारका ह्रस्व इ पाया जाता है, [देवि, नदि]। हलन्तोंमें ये रूप प्रायः मूल रूप या

---

1 Wackernagel Altindische Grammatik Vol. III P. 43§16 [1]

२. वर्णविपर्यय हो गया है।

शून्य विभक्तिचिह्न युक्त ही पाये जाते है। लैतिन भाषाके सबोधन एक-वचन रूपोमे केवल कुछ ही शब्दोके साथ ए विभक्तिचिह्न पाया जाता है। इस सबधमे '—वन्त' शब्दोमे सबोधन एकवचन रूपोमे प्रायः 'स्' पाया जाता है, यथा इन रूपोमे—चिकित्वः, ऋतत्वः, ओजीयः।

द्विवचन रूप

सस्कृतके द्विवचन रूप, भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे देखा जाय, तो आठ विभक्तियोमे केवल तीन ही तरहके पाये जाते है। प्रथमा, द्वितीया तथा सबोधनमे औ विभक्ति चिह्न [यथा, देवौ], तृतीया, चतुर्थी, तथा पञ्चमीमे भ्याम् विभक्तिचिह्न [यथा, देवाभ्याम्], षष्ठी तथा सप्तमीमे योः विभक्ति चिह्न [यथा देवयोः] पाये जाते है। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि द्विवचन सस्कृतमे एक भिन्न वचनके रूपमे पाया जाता है, फिर भी रूपोकी बहुलता तथा समस्त विभक्तियोमे अलग-अलग रूपोका न होना, भविष्यमे द्विवचन-के लोपका पूर्वचिह्न कहा जा सकता है। लैतिनमे तो यह द्विवचन सर्वथा लुप्त हो गया है। लिथुआनियन, गॉथिक तथा प्राचीन ग्रीकमे इसके चिह्न मिलते है। ग्रीकमे भी सस्कृतकी भॉति द्विवचनके रूप सकुचित ही है। सारी छः विभक्तियोमे केवल दो ही द्विवचन रूप पाये जाते है। उदाहरणके लिए 'लोगोस्' [logos] शब्दके प्रथमा [nominative], द्वितीया [accusative], तथा संबोधन [vocative] के द्विवचनके रूपोमे लोगो [logō], तथा शेष विभक्तियोके रूपोमे लोगोइन् [logoin] रूप पाये जाते है। द्विवचनका रूप वस्तुतः प्रा० भा० यू० मे बहुत कम रहा होगा। इसका प्रयोग उन दो वस्तुओके लिए पाया जाता होगा जो युग्मोमे पाई थीं।[1] दो हाथ, दो पैर, दो कान, दो ऑखके युग्मोके आधारपर द्विवचन-का जन्म हुआ। धीरे धीरे वैदिक सस्कृतमे उन दो देवताओके लिए भी

---

१ Otto Jespersen The Philosophy of Grammar P. 205.

यह द्विवचन प्रयुक्त होने लगा, जो युग्म रूपमे आहूत किये जाते थे, **मित्रावरुणा, नासत्या, अश्विना, इन्द्राग्नी, द्यावापृथिवी**। आगे जाकर माता-पिता, पति-पत्नी आदिके युग्मके लिए भी **पितरौ, दम्पती** जैसे द्विवचनान्त रूपोका प्रयोग होने लगा। इसके बाद तो द्विवचनका प्रयोग किन्हीं दो चीजोंके भाव-बोधनके लिए होने लगा।

संस्कृतके अकारान्त तथा हलन्त शब्दोमे आ [औ] विभक्तिचिह्नका प्रयोग प्रथमा, द्वितीया तथा सबोधनमे पाया जाता है। यह आ प्रा० भा० यू० *ओ [ō] से विकसित हुआ है, जो ग्रीकमे ओ [Ō] तथा भारत-ईरानी वर्गमे आ पाया जाता है। उदाहरणके रूपमे हम इन द्विवचन रूपोंको ले सकते हैं, वैदिक संस्कृतके रूप—**नासा, नरा, श्वाना, पादा [पादौ], पितरा [पितरौ], बृहन्ता, हस्ता [हस्तौ]**[1]। इस सबधमे यह कह दिया जाय कि अवेस्तामे जहॉ आकारान्त शब्दोंके इन विभक्तियोके द्विवचन रूपोमे ओ पाया जाता है, वहॉ हलन्त शब्दोके इन रूपोमे आ पाया जाता है, यथा—

अवेस्ता	**जस्तो** [zasto]	वै० सस्कृत	**हस्ता** [हस्तौ]
,,	**स्पान** [spana][2] [*स्पाना]	,,	**श्वाना**
,,	**नर** [naɪa][3] [*नरा]	,,	**नरा**

इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोकी इन विभक्तियोंके द्विवचनरूपोंमे ई तथा ऊ अन्त वाले रूप पाये जाते हैं। इन्हे हम प्रा० भा० यू० 'श्वा'

---

१. ये सब वैदिक संस्कृतके रूप हैं। लौकिक सस्कृतमें विभक्ति चिह्न सदा 'औ' होता है।

२ अवेस्तामें यह द्विवचन चिह्न 'आ' ह्रस्व होकर अ के रूपमें पाया जाता है जैसे नर [*नरा], स्पान [*स्पाना]। कुछ विद्वानोके मतानुसार यह अवेस्ता ग्रन्थकी लिपिकी विशेषताके कारण हो गया है, वस्तुतः यह दीर्घ [आ] ही है।

*'अ' *[ə] से विकसित मान सकते हैं। **पती, अग्नी, बाहू, भानू** में यह दीर्घत्व पाया जाता है। आकारान्त शब्दोंमें **ए** अन्त वाले रूप पाये जाते है, जो प्रा० भा० यू० *अइ का विकसित रूप है। यह रूप सस्कृतके **यमे, उर्वरे, उभे** मे पाया जाता है। नपुसकलिग शब्दोंमे [अकारान्तको छोड़कर] ई का प्रयोग पाया जाता है, यथा **वचः** से **वचसी**। इकारान्त, उकारान्त तथा ऋकारान्त नपुसक शब्दोके इन रूपोमे बीचमे **'न्'** अन्तःप्रत्ययका प्रयोग होता है, यथा **अक्षि-णी; मधुनी, जानुनी, कर्तृणी**।

तृतीया, चतुर्थी, तथा पञ्चमीका विभक्तिचिह्न **भ्यां** है। अवेस्तामे इसका **ब्यम्** तथा **ब्यां** [*ब्या] रूप पाया जाता है। प्राचीन फ़ारसीमें आकर यह रूप **बिया** हो गया है। जैसा कि हम द्वितीय परिच्छेदमे बता आये है, प्रा० भा० यू० में *"भ्" के साथ ही ऐसे सुप् प्रत्ययोमे *"**म्**" वाले रूप भी पाये जाते थे, तथा ये ***म्** वाले रूप बाल्तो-स्लाविक-वर्गकी भाषाओंमे विकसित हुए है। इस सबधमे अवेस्ता तथा संस्कृतके रूप विशेष समीप है, यथा सस्कृत **पितृभ्याम्**, अवेस्ता **नरब्य** [narabya] [**सं० नराभ्यां; नृभ्यां;**]; **ब्रवत्ब्यम्** [brawatbyam] [**सं० ब्रुवद्भ्याम्**]। अवेस्तामे किन्हीं शब्दों [प्रायः अकारान्त शब्दों] के इन रूपोमे स्वरको दीर्घ करनेके स्थानपर ध्वनियुग्म [diphthong] का प्रयोग पाया जाता है; जब कि सस्कृतमे मूल शब्दका अतिम स्वर दीर्घ हो जाता है, सस्कृत **हस्ताभ्याम्**, अवेस्ता **ज़स्तएब्य** [zastaebya], प्राचीन फ़ारसी **दस्तइबिय** [dastaibiya]।

संस्कृतमे षष्ठी तथा सप्तमी द्विवचनका विभक्ति चिह्न ओस् [अयोः] दो प्रा० भा० यू० विभक्ति चिह्नोका सम्मिलित रूप माना जाता है। भारत-ईरानी *अउ, अवेस्ता ओ तथा भारत-ईरानी *आस् अवेस्ता अस्, जो क्रमशः सप्तमी तथा षष्ठीके विभक्तिचिह्न है, प्राचीन सस्कृतमे अयोः के रूपमे विकसित हो गये थे। अतः इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० यू० –*[ओय],

*ओउस् से मानी जाती है[1]। यह विभक्तिचिह्न ग्रीककी विभाषाओंमें ओइओइस् [OIOIS] के रूपमें विकसित हुवा है।

जैसा कि हम अष्टम परिच्छेदमें देखेंगे भारतीय आर्य भाषाओंमें प्राकृत-कालमें आकर द्विवचन सर्वथा लुप्त हो गया है। वहाँ द्विवचनका स्थान बहुवचनमें ले लिया है। लौकिक संस्कृतमें द्विवचन अवश्य पाया जाता है।

बहुवचन रूप

लौकिक संस्कृतके प्रथमा बहुवचनमें 'अ' [अस्] विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है वैदिक संस्कृतमें अकारान्त शब्दोंमें प्रथमा बहुवचनमें "अस." विभक्तिचिह्न भी पाया जाता है, यथा देवास. [देव + असः] में। संस्कृतके इस अस् को प्रा० भा० यू० *ओस् से विकसित माना जा सकता है। ग्रीकके प्रथमा बहुवचनमें इ तथा एस् दो तरहके विभक्तिचिह्न वाले रूप पाये जाते हैं। जहाँ तक संस्कृतके असस् वाले रूपका प्रश्न है, उसका सबध इस एस् से जोडा जा सकता है। सोस्यूर तथा ब्रुगमानके मतानुसार संस्कृतके ये दोनों चिह्न प्रा० भा० यू० *ओस्-एस् के विकसित रूप है।[2] वैदिक संस्कृतमें अस् तथा असस् वाले दोनों रूप एक साथ पाये जाते है, यथा,

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास [ऋ वे. ५·५९·६]
अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते [ऋ. ५·६०·५]
हर्षमाणासो धृषिता मरुत्व· [ऋ. १०·९४·१]
हर्षमाणा हृषितासो मरुत्वन् [अथ वे ४ ३१·१]

हलन्त शब्दरूपोंमें केवल अस् विभक्तिचिह्न ही पाया जाता है, जो उसी प्रा० भा० यू० चिह्नका रूप है, यथा आप·, धीमन्तः। यह अस् अकारान्त

१ Wackernagel Altindische Grammatik Vol III p 57 § 22 [C]

२ Wackernagel Altindische Grammatik p 101 § 41 [d]

तथा आकारान्त शब्दोके अतिरिक्त अन्य अदन्तोमे भी पाया जाता है, यथा गिरयः, भानवः, गावः, नावः। प्रथमा बहुवचनकी दृष्टिसे नपुसकलिगके रूपोका विशेष भाषावैज्ञानिक महत्त्व है। लौकिक सस्कृतमे इनमे इ विभक्ति-चिह्न पाया जाता है, जिसके पूर्व एक अनुनासिक [न] अन्तःप्रत्ययका समावेश पाजा है। इस प्रकार अदन्तोमे, —"...आनि", .."ईनि" "...ऊनि" "...ऋणि"[1] अन्त वाले रूप पाये जाते है। इन रूपोको हम प्रथम कोटिके नपुसक प्रथमा बहुवचन रूप मानते है। द्वितीय कोटिमे वे शब्द आते है, जो हलन्त हैं। इनके प्रथमा-द्वितीया बहुवचनका विभक्तिचिह्न भी इ ही है तथा उसमे भी अनुनासिक तत्त्व पाया जाता है,—आनि, अञ्चि, अन्ति[2]। जिन नपुसक हलन्त शब्दोमे पदान्त व्यञ्जनके पूर्व कोई अनुनासिक तत्त्व होता है, वहॉ प्रथमा-द्वितीया बहुवचनके रूपोमे पदान्त व्यञ्जनके पूर्व अनुनासिक तत्त्वका समावेश कर दिया जाता है, —"आंसि [यथा पयस्, पयांसि], ईंषि [हविष्, हवींषि], ऊंषि [धनूंषि], यह तीसरी कोटि है। चौथी कोटिमे शक्, युज् जैसे हलन्त शब्द आते है, जिनके शङ्कि, युञ्जि जैसे रूप बनते हैं। ये पहले तृतीय कोटिमे ही रहे होगे।

वैदिक सस्कृतके नपु सक लिंगके प्रथमा तथा द्वितीया बहुवचन सर्वथा भिन्न रूपमे मिलते हैं। प्रथम कोटिके रूपोमे नि के प्रयोगके साथ साथ केवल आ, ई, ऊ अन्तवाले रूप भी मिलते है, जिनमे नि विभक्तिचिह्न नहीं पाया जाता, यथा 'नामानि गुह्या [९.४१.५] अप्रती वृतानि [१.१६५.७]; उरू वरांसि [१०.८९.२]। द्वितीय कोटिके शब्दोमे वेदमे आ तथा आनि दोनो अन्तवाले रूप पाये जाते है, यथा नामा, नामानि। वैदिक सस्कृतमे तृतीय कोटिके रूप तो पाये जाते है, पर चतुर्थ कोटिके नहीं। अतः वैदिक सस्कृतके रूपोंको दो कोटियोमे विभक्त किया जा सकता है :—
[१] हलन्त शब्दोके रूपोमे इ विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, जैसे,

---

१. यथा, ज्ञानानि, वारीणि, मधूनि, कर्तॄणि।
२. यथा नामानि, प्रत्यञ्चि, जगन्ति।

चत्वारि, [२] अदन्त शब्दोमे प्रायः अंतिम स्वर ध्वनिको दीर्घ कर दिया जाता है, किन्तु कभी कभी इ, उ ह्रस्व रूप भी पाये जाते हैं, यथा **भूरि वृतानि** ['भूरीणि वृतानि', के स्थानपर]। इनके अतिरिक्त **नि** [न् + इ] वाले रूप भी पाये जाते हैं, जो सभव है, हलन्त शब्दोके सादृश्यपर बने होंगे, क्योंकि अन्य भाषाओमे इनका कोई चिह्न नहीं मिलता। यह 'इ' अवेस्तामे पाया जाता है, स० **नामानि**, अवे० **नाम॒अनि** [nameni]। यूरोपीय आर्य भाषाओंमे यह इ नहीं मिलता, इसके स्थानपर अ मिलता है, यथा ग्रीक **ओनोमत** [onomata], लै० **नोमिन** [nomina] गॉथिक, **नम्न** [namna]। यह तथ्य इस बातका सकेत करता है कि प्रा० भा० यू० में नपुसक लिग शब्दोंके प्रथमा-द्वितीया बहुवचनका चिह्न "श्वा"—[*अ] [*ə] रहा होगा। सस्कृतमे इस विभक्तिचिह्नमे जो 'न् [+ इ]' पाया जाता है, वह सभवतः उन शब्दोके रूपोके आधारपर जोड़ा जाने लगा होगा, जिनमे मूल रूपमे अनुनासिक ध्वनि अन्तमे थी, यथा **नाम** [न्]—**नामानि : : फल—फलानि**। इस प्रकार **नामानि** के सादृश्यपर **फलानि** रूप बने होगे। धीरे धीरे यह न्, इ मे जुडकर **नि** के रूपमे एक विभक्तिचिह्न ही बन गया। आरभमे आ, ई, ऊ रूप इसी 'श्वा' [ə] के कारण पाये जाते हैं, धीरे-धीरे इनमे भी '**नि**' जोडा जाने लगा।

सस्कृत अदन्त पुल्लिग शब्दोंके द्वितीया बहुवचनके रूपों "**आन्**" विभक्तिचिह्न पाया जाता है। हलन्तोमें यह विभक्तिचिह्न नहीं पाया जाता, वहाँ द्वितीया बहुवचनका विभक्तचिह्न "**अस्**" है, जो प्रथमा बहुवचनमे भी पाया जाता है। स्त्रीलिंग शब्दोंके रूपोंमे भी यह विभक्तिचिह्न "**अस्**" [**स्**] के रूपमे ही पाया जाता है। इस प्रकार सस्कृतमे "**आन्**" विभक्ति-चिह्न केवल अदन्त पुल्लिग शब्दोकी ही विशेषता है। किन्तु भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे यह चिह्न प्रा० भा० यू० मे स्त्रीलिंग शब्दोके रूपोमे भी प्रयुक्त होता रहा होगा। इस विभक्तिचिह्नका विकास प्रा० भा० यू० *म्स् या *न्स् [*ms, *ns] से माना जा सकता है। ग्रीकमे जाकर द्वितीया बहुवचनका

यह विभक्तिचिह्न **अस्** के रूपमें विकसित हो गया, यथा ग्रीक **पतेरस्** [pater-as] [स० **पितृन्**]।

संस्कृतमें अदन्त स्त्रीलिंग शब्दोंके द्वितीया बहुवचनमें एक विशेषता पाई जाती है, जो संस्कृतमें बादमें उत्पन्न हुई है, किन्तु इसके बीज हम प्रा० भा० यू० में ही पा सकते हैं। संस्कृतके इन स्त्रीलिंग शब्दोंमें हम देखते हैं कि द्वितीया बहुवचनमें **न्** अन्तवाले रूप नहीं पाये जाते। वहाँ **आः, ईः, ऊः, ऋः** [यथा **रमाः, रुचीः, उरूः, मातृः**] अन्तवाले रूप पाये जाते हैं। अन्य भारोपीय भाषाओंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि प्रा० भा० यू० **ईन्, ऊन्, ऋन्** का प्रयोग स्त्रीलिंग शब्दरूपोंमें रहा होगा। प्रा० भा० यू० ***आ, *ओ**–कारान्त शब्दोंमें जिनसे संस्कृतमें क्रमशः पुल्लिंग अकारान्त तथा स्त्रीलिंग आकारान्त शब्दोंका विकास हुवा है, द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें परस्पर भेद था। पुल्लिंग शब्दोंके रूपोंमें ***न्स्** विभक्तचिह्नका प्रयोग रहा होगा, जब कि स्त्रीलिंग आकारान्त शब्दोंके द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें अनुनासिक तत्वका अभाव रहा होगा, तथा कोरा ***'स्'** विभक्तिचिह्न ही प्रयुक्त होता होगा। यही विभक्तिचिह्न ग्रीकमें **आस्** तथा गॉथिकमें **ओस्** के रूपमें विकसित हुआ है। किन्तु इकारान्त, उकारान्त, ऋकारान्त शब्दोंके रूपोंमें ऐसा विभक्तिचिह्न प्रयुक्त नहीं होता था, तथा उनमें **न्** वाले रूप ही प्रचलित थे। बादमें संस्कृतमें आकर आकारान्त रूपों के सादृश्य पर इन स्त्रीलिंग शब्दोंसे भी **न्** वाले रूप हटा दिये गये[1]।

तृतीया बहुवचनका विभक्तिचिह्न **भिस्** है। अकारान्त शब्दोंमें यह विभक्तिचिह्न **ऐः** भी पाया जाता है। यह विशेषता अवेस्तामें भी पाई जाती है, जहाँ तृतीया बहुवचनमें **'बिश्'** [bĭš] तथा **'अइश्'** [aiš] दोनों विभक्तिचिह्न पाये जाते हैं, यथा स० **मर्त्यैः, मर्त्येभिः; अवेस्ता मश्यइश्** [mašyaiš], **प्राचीन फारसी मर्तियइबिश्** [martiyaibiš]। होमरकी ग्रीकमें इस **भिस्** के समानातर **फि** रूप मिलता है, बादकी ग्रीकमें

---

१ Wackernagel Altindische Grammatik vol III. p 59 §25

आकर यह तृतीया विभक्ति लुप्त हो गई है। होमरमे 'नउफि' [nauphi] रूप पाया जाता है, जो संस्कृतमे नौभिः है। भिस् के सबधमे एक बात यह बता दी जाय कि अकारान्त शब्दोमे इसका रूप एभिस् [देवेभि] पाया जाता है। यह ए वस्तुतः सर्वनामोमे प्रथमा बहुवचनमे पाया जाता है [सर्व, सर्वे]। यह ए बहुवचन-मात्रका बोधक समझा जाकर एभि, एभ्य॰ के रूपमे तृतीया, चतुर्थी-पञ्चमीके बहुवचनके रूपोमे जोडा जाने लगा। इसी प्रकार द्विवचन रूपोके भ्याम् मे भी आ जोडकर आभ्याम् विभक्तिचिह्न बना दिया गया, जहाँ आ [देवः, देवा] ठीक उसी तरह द्विवचनका बोधक माना गया, जैसे ए बहुवचन का। किन्तु ये वैकल्पिक प्रयोग केवल अकारान्त शब्द रूपोमे ही वैदिक संस्कृतमे पाये जाते है। अन्य शब्दोमे केवल भ्याम्, भिस्, भ्यस्, [विष्णुभ्यां, विष्णुभि॰, विष्णुभ्य] का ही प्रयोग होता है। जैसा कि हम बता आये है, वेदमे अकारान्त शब्दोमे देवै तथा देवेभि जैसे दोनो रूप पाये जाते हैं। ऋग्वेदमे दोनो रूपोका समान प्रयोग पाया जाता है, किन्तु अथर्ववेदमें आकर एभि वाले रूप कम हो गये हैं। तैत्तरीय संहिता [यजुर्वेद] के गद्यभागमे 'एभिः' के रूपोंका सर्वथा अभाव है। लौकिक संस्कृतमे आकर ये रूप सर्वथा लुप्त हो गये है। वेदसे इन वैकल्पिक रूपोंके ये उदाहरण दिये जा सकते है :—

यातं अश्वेभिरश्विना [ऋ० ६.५ ७]
आदित्यै र्यातमश्विना [ऋ० ६.३५.१२]
अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभि [ऋ० १०.१४.५]
अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरा गहीह [अ० वे० २६.१.५६]

चतुर्थी-पञ्चमीका बहुवचन विभक्तिचिह्न भ्यस् है, जो अकारान्त शब्दोंके पूर्व एभ्य पाया जाता है, इसे हम ऊपर स्पष्ट कर चुके है। ग्रीकमे यह रूप नहीं मिलता, क्योकि वहाँ पञ्चमी विभक्ति नहीं पाई जाती, चतुर्थी बहुवचनके चिह्न वहाँ 'अइ', 'एइ' दो तरह के है। लैतिनमे इसका रूप बुस मिलता है, यथा पत्रि-बुस् [patri-bus] [सं० पितृभ्य॰]। बाल्तो-स्ला॰

विकमे **'भ्'** के स्थानपर **म्**—[**मुस्**] रूप पाया जाता है। इसका प्रा० भा० यू० रूप ***भोस्** माना जा सकता है। इस संबधमे यह कह दिया जाय कि तृतीया, चतुर्थी तथा पञ्चमीके द्विवचन तथा बहुवचनके सुप् चिह्नोमे वास्तविक विभक्त्यश **भि** है। यही **भि**, **भ्याम्** [**भि+आम्**], **भ्यः** [**भि+अस्**] के रूपमे पाया जाता है।

षष्ठी बहुवचनका विभक्तिचिह्न **आम्** है, जो प्रा० भा० यू० ***ओम्** से विकसित हुवा है। अवेस्तामे यह **अम्**, ग्रीकमे **ओन्** [ōn], तथा लैतिनमे **उम्** [um] के रूपमे पाया जाता है। संस्कृतके अदन्त शब्दोमे यह **आम्** अनुनासिक अन्तःप्रत्ययसे युक्त होकर **नाम्** के रूपमे मिलता है। इन शब्दोके षष्ठी बहुवचन रूपोमे मूल शब्दकी अतिम स्वर ध्वनि दीर्घ हो जाती है—**देवानाम्, हरीणाम्, भानूनाम्, पितॄणाम्**। अवेस्तामे भी अदन्त शब्दोके रूपोमे यह **'नम्'** पाया जाता है, जब कि हलन्त शब्दोके रूपोमे केवल **अम्** ही पाया जाता है।

स०		अवे०	
	गिरीणाम्	**गइरिनम्**	[gairinam]
	अपाम्	**अपम्**	[apam]
	बृहताम्	**ब्अर्अज़तम्**	[bərəzatam]

सप्तमीका बहुवचन विभक्तिचिह्न **सु** है। यह विभक्तिचिह्न अवेस्ता तथा प्राचीन फारसीमे **सु, शु** तथा **हु** के रूपमे पाया जाता है। ग्रीकमे यह विभक्तिचिह्न **सि** [si] पाया जाता है, जो प्रायः चतुर्थी बहुवचन [Dative plural] के अर्थमे प्रयुक्त होता है। वस्तुतः यह सप्तमीका ही रूप है, जो चतुर्थीमे घुल-मिल गया है। प्राचीन चर्च स्लॉविक [सत वर्गकी एक भाषा] मे यह विभक्तिचिह्न **शु** के रूप मे मिलता है। इस तुलनात्मक अध्ययनसे स्पष्ट है कि सप्तमी बहुवचन का प्रा० भा० यू० चिह्न ***स्** था। इस ***स्** मे बादमे ग्रीकमे इ [स्+इ=सि], तथा सत वर्गकी भाषाओमे उ [स्+उ=सु] जोड दिया गया। थुर्नेसन नामक पाश्चात्य विद्वान्के मतानुसार ये इ, उ वस्तुतः सामीप्य तथा दूरताको बतानेवाले अव्यय थे,

जिनका प्रयोग सप्तम्यन्त रूपोंके साथ हुवा करता था। धीरे धीरे ये सप्तम्यन्तके अग बनकर एक ओर सि तथा दूसरी ओर सु के रूपमें विकसित हो गये।[1] सस्कृतमें यह 'सु' इ, उ, ए, कण्ठ्य ध्वनि तथा रेफसे परे होनेपर षु के रूपमें पाया जाता है। अ तथा आके परे होनेपर यह सु ही रहता है, यथा **देवेषु, हरिषु, भानुषु, पितृषु, पय· सु, रमासु,** ।

सम्बोधन ब० व० के रूप सस्कृतमें ठीक वही हैं, जो प्रथमा ब० व० में पाये जाते हैं।

विशेषण

सस्कृतमें विशेषणके रूप सज्ञा शब्दोंकी तरह ही चलते हैं। विशेषण शब्द सदा अपने विशेष्यके लिंग एव वचनका वहन करता देखा जाता है, यथा, **कृष्ण· सर्प·, कृष्णा सर्पिणी, रक्तो घटः, रक्त पट·, नीलं नभ, नीलं वस्त्रं** आदि में। तुलनाबोधक रूपोंमें सस्कृतमें इनके साथ **तरप्, तमप्; ईयस्, इष्ठ** प्रत्यय जोड़े जाते हैं। सस्कृत शब्द-रचनाका सकेत करते समय हम इन दोनों तरहके प्रत्ययोंका सकेत कर आये हैं। यहाँ उनका सोदाहरण विवेचन किया जा रहा है।

१ [अ] **तर-तम** [तरप्—तमप्], ये दोनो तुलनाबोधक तद्धित प्रत्यय हैं। इनमेंसे प्रथम '**तरप्**' प्रत्यय दो वस्तुओंकी तुलना कर किसी एककी उत्कर्षता द्योतित करता है। ग्रीकमें इसका-'**तेरो**-रूप मिलता है, जो **पिस्तोतेरोस्** [pistoteios], **अलेथस्तेरोस्** [alethesteios] में पाया जाता है। लैतिनमें इसका-**तेर**-' रूप मिलता है, जो **नोस्तेर** [nostei], **देक्स्तेर** [dextei] में पाया जाता है। यही—**तरप्** प्रत्यय सार्वनामिक रूप '**कतर**' में मिलता है। थुम्बने स० **अन्तर** ले० **इन्तेर** [**इन्तेरिओर**], अ० **इटर, इन्टीरियर** [intei, interioi], ग्रीक **एन्तेर** [entera], स० **इतर**,

---

[1] Wackernagel Altindische Grammatik vol III p 72–73 § 29 [e]

लै० इतेरुम् [iterum], तथा संस्कृत क्रियाविशेषण 'नितराम्' तकका संबंध इसी 'तर[प्]' से जोडा है[1] । इनके उदाहरण निम्न है :—

दूरतर, प्रियतर, विलोलतर, शुचितर, धनितर, [धनिन्–] धर्मभुत्तर [धर्मबुध्–], प्रत्यक्तर [प्रत्यञ्च्–], सुमनस्तर [सुमनस्–], उदर्चिष्टर [उदर्चिष्–], सत्तर [सन्त्–] भगवत्तर [भगवन्त्–], विद्वत्तर [विद्वास्–]।

१ [आ] तमप् [तम] की उत्पत्ति प्रा० भा० यू० *तमो से मानी जा सकती है। जैसा कि हम पहले सकेत कर आये है तरप्, तमप् [तर, तम] मे वस्तुतः दो प्रत्ययोका मेल है :—त + र = तर, त + म = तम। त प्रत्ययका सम्बन्ध संस्कृत 'त' [क्त] प्रा० भा० यू० *तो [स्] से जोड़ा जाता है। र तथा म भी दो स्वतन्त्र प्रत्ययके रूपमे पाये जाते है, जिनका विकास संस्कृत तथा यूरोपीय क्लैसिकल भाषाओ दोनोमे देखा जाता है। स० अधर [नीचा], लै० इन्फेरि [inferi], गॉ० उन्दर [undar] अग०, अन्डर [under],स०अधम, लै० इन्फिमुस् [infimus],स० अपर, गॉथिक अफ़र [afar], स० अपम–, स० अवर, अवम–, ग्रीक हुपेरास् [huperos] लै० सुपेरि [superi] अग० सुपर [super], लै० सुम्मुस् [summus] [मि० अ० summit] गॉ० उफ़रो [ufaro], स० परम, मध्यम, चरम; मे ये दोनो प्रत्यय पाये जाते है[2]। तम–[तमप्] प्रत्यय लै० मे 'तिमुस्' तथा गॉथिकमे 'तुम' पाया जाता है। स० अन्तम, लै० इन्तिमुस् [intimus], उल्तिमुस् [ultimus] [मि० अगरेजी, अल्टिमेटम [ultimatum]], गॉथिक, अफ्तुम [aftum] [अन्तिम], इफ्तुम [iftum] [अन्तिम]।

---

१ Thumb Handbuch des Sanskrit. [Formenlehre] § 388 p 267.

२ Thumb . Handbuch des Sanskrit § 388 [footnote] P 268

तम–के उदाहरण निम्न हैं :—

दूरतम, प्रियतम, विलोलतम, शुचितम, धनितम, [धनिन्–], **धर्म-भुत्तम** [धर्मबुध्–], **प्रत्यक्तम** [प्रत्यञ्च्], **सुमनस्तम,** [सुमनस्–] **उदर्चिष्टम** [उदर्चिष्], **सत्तम** [सन्त्–], **भगवत्तम** [भगवन्त्–], **विद्वत्तम** [विद्वास्–]।

तर–, तम–से बने कतिपय सज्ञा शब्द तथा क्रियाविशेषण भी देखे जाते हैं :—**राजतम, उत्तर, उत्तम** [सज्ञा शब्द], **अतितराम्, प्रतराम्, प्रतमाम्, उच्चैस्तराम्, सुतराम्, सुतमाम्, पचतितराम्, पचतितमाम्** [क्रियाविशेषण]। ये क्रियाविशेषण प्रायः उपसर्गों, अव्ययो तथा क्रिया रूपोंसे बने हैं।

२. [अ] **ईयस्** तथा **इष्ठ** प्रत्ययोंका सकेत भी सस्कृत शब्दरचनाके सबधमें किया जा चुका है। **ईयस्** का विकास प्रा० भा० यू० –*यस्, *योस्से माना जाता है। इसके समानान्तर रूप ग्रीक तथा लैतिनमें भी हैं। लैतिनमें इसके **इओर, इउस्** रूप मिलते हैं, **सनिओर** [सेन्योर] [senior] [अगरेजी **सीनियर** [senior], **मलिओर** [मेल्योर] [melior] **मेलिउस्** [मेल्युस्] [melius] [नपु सक रूप]। ग्रीकमें इसके **ईओस्, योस्** रूप मिलते हैं, **हेदीओ** [hēdīo] **हेदीओउस्** [hēdī-ous] ∠ *हेदी [य्] ओ [स्]–अ–एस् [hēdī [y] o [s]-a es] [स० **स्वादीयस्**], **ब्रादीओ** [bradīo] [स० **म्रदीयस्**]। इसके उदाहरण निम्न हैं :—

अल्पीयस्, वरीयस् [उरु–], **क्षेपीयस्** [क्षिप्र–] **गरीयस्** [गुरु–] **द्रढीयस्** [दृढ–], **द्राघीयस्** [दीर्घ–], **पटीयस्** [पटु–], **पापीयस्** [पाप–], **प्रथीयस्** [पृथु–], **प्रेयस्** [प्रिय–], **बलीयस्** [बलिन्–], **महीयस्** [महान्त्–], **म्रदीयस्** (मृदु–], **यवीयस्** [युवन्–], **स्थेयस्** [स्थिर–]।

२. [आ] –इष्ठ का ग्रीक रूप-इस्तो [-isto] मिलता है· क्रतिस्तोस् [kratistos], ओलिगिस्तोस् [oligistos]।

इसके उदाहरण निम्न हैं :—

अल्पिष्ठ, वरिष्ठ [उरु–], क्षेपिष्ठ [क्षिप्र–] गरिष्ठ [गुरु–], द्रढिष्ठ [दृढ–], द्राघिष्ठ [दीर्घ–], पटिष्ठ [पटु–], पापिष्ठ [पाप–], प्रथिष्ठ [पृथु–], प्रेष्ठ [प्रिय–], बलिष्ठ [बलिन्–], महिष्ठ [महान्त्–], म्रदिष्ठ [मृदु–], वसिष्ठ [वसुमन्त्–], यविष्ठ [युवन्–], स्थेष्ठ [स्थिर–]।

इनके अतिरिक्त कुछ अपवाद रूप भी पाये जाते हैं, जिन्हे थुम्बने 'इर्रेग्यूलर' या 'डेफेक्तिव' माना है।[१]

[अंतिक], नेदीयस्, नेदिष्ठ।

[अल्प], कनीयस्, कनिष्ठ।

प्रशस्य, श्रेयस्, श्रेष्ठ, ज्यायस्, ज्येष्ठ।

बहु, भूयस्, भूयिष्ठ,

वृद्ध, वर्षीयस्, वर्षिष्ठ,

संस्कृतमें कतिपय रूप ऐसे भी देखे जाते हैं, जिसमें एक साथ दो-दो तुलनाबोधक प्रत्यय पाये जाते हैं, यथा,

पापीयस्-तर [पापीयस्तर], पापिष्ठतर, पापिष्ठतम, श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर, श्रेष्ठतम।

सर्वनाम शब्दोंके रूप

सर्वनाम शब्दोको हम दो प्रकारकी कोटियोमें विभक्त कर सकते हैः— [१] वैयक्तिक सर्वनाम [अस्मत्, युष्मत्] [२] विशेषणीभूत सर्वनाम, [यत्, तत्, इदं, एतत् आदि]। इनमें वैयक्तिक सर्वनामोंमें लिंग भेद नहीं पाया जाता, जबकि विशेषणीभूत शब्दोंमें तीनों लिंग पाये जाते हैं। सभी सर्वनामोमें संबोधन विभक्ति नहीं होती।

---

१ Thumb : ibid § 389 P. 269

संस्कृतके अहम् तथा त्वम् जो वैयक्तिक सर्वनाम शब्दोंके प्रथमा विभक्तिके एकवचन रूप हैं, अवेस्तामें अज़ॅम् [azəm] तथा तुवम् [tuvam] के रूपमें पाये जाते हैं। ग्रीकमें इनके रूप एगो [egō] तथा 'सु' [प्रा० रूप तु] [su7 *tu] पाये जाते हैं। इस तुलनासे स्पष्ट है कि इनमें प्रयुक्त "अम्" वस्तुतः सर्वनामोंका विभक्तिचिह्न है, जो भारत-ईरानी वर्गमें पाया जाता है। संस्कृतमें 'त्वम्' के स्थानपर केवल तु भी पाया जाता है। वैदिक संस्कृतमें यह प्रयोग मिलता है :—आ तू गहि प्र तु द्रव [६·१३·१४]। द्वितीया एकवचनके रूपोंमें मां, त्वां तथा मा, त्वा जैसे वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं। अवेस्तामें भी ये वैकल्पिकरूप पाये जाते हैं :—

मम्, मा [mam, mā]; थ्वम्, थ्वा [θvam, θvā]। तृतीया विभक्तिके एकवचनमें इनके रूप मया एवं त्वया [तुवया] होते हैं। चतुर्थीमें इनमें भ्य [अवे० व्य] विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है जो संस्कृत तुभ्यं में पाया जाता है, 'अस्मत्' शब्दमें यह 'ह्य' हो जाता है। ऋग्वेदमें कहीं-कहीं तुभ्यं, मह्यं के स्थानपर तुह्य, मह्य रूप भी पाये जाते हैं। अवेस्तामें दोनोंमें 'व्य' पाया जाता है, यथा तइव्य [taibya], मइव्य [maibya]। किन्तु लैतिनमें मत् के साथ 'ह' तथा त्वत् के साथ व विभक्तिचिह्न मिलता है, मिहि [mihi] [सं० मह्यं], तिबि [tibi] [सं० तुभ्यं]। इससे अनुमान होता है कि प्रा० भा० यू० में ही उत्तम पुरुष एकवचन शब्दकी चतुर्थी विभक्ति 'ह' रही होगी, तथा मध्यम पुरुषकी 'भ'। पञ्चमीमें इनमें

अत् पाया जाता है। प्रा० भा० यू० में इसका रूप *एत [et] था, जो संस्कृतमें *आत् होना चाहिए था। अतः संस्कृतके मत्, त्वत् रूपोंको *मात्, *त्वात् जैसे कल्पित रूपोंसे विकसित समझना चाहिए। तव, मम जैसे षष्ठी एकवचनके रूप भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता है। ग्रीकमें इनके रूपोंमें ओस् विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, यही चिह्न लैतिनमें उस् के रूपमें प्रयुक्त होता है, यथा ग्रीक तेओस् [teos] एमोस् [emos],

लैतिन तूस [tūs]। सस्कृतके चतुर्थी षष्ठीके मे, ते जैसे वैकल्पिक रूप अन्य भा० यू० भाषाओमे भी पाये जाते है। ये वैकल्पिक रूप ग्रीक तथा लिथुआनियनमे भी उपलब्ध होते है—ग्रीक माइ [moi] ताइ [toi] तथा लिथुआनियन मि [mi], ति [ti]। सस्कृतमे सप्तमी ए० व० मे 'मयि' रूप पाया जाता है, किन्तु युष्मत् [त्वत्] शब्दका 'त्वयि' वालारूप प्राचीन न होकर बादमे मयि के सादृश्यपर विकसित हुवा है। इसका प्रयोग सर्व प्रथम अथर्ववेदमे मिलता है। ऋग्वेदमे इसका प्राचीन रूप त्वे मिलता है।

सज्ञाओके रूपोंकी भॉति यहॉ भी द्विवचनके रूप सीमित ही पाये जाते हैं। सस्कृतमे इनके प्रथमा-द्वितीया द्विवचनरूप **आवाम्** तथा **युवाम्** पाये जाते है। वस्तुतः ये रूप केवल द्वितीया विभक्तिके ही थे। प्रथमा विभक्तिमे इनके रूप **आव** तथा **युवं** पाये जाते थे, जो प्राचीन वैदिक मन्त्रोमे उपलब्ध होते है, किन्तु बाद के वैदिक साहित्यमे **आवां** तथा **युवां** दोनो ही विभक्तियोमे प्रयुक्त होने लगे हैं। ठीक इसी प्रकार तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमीके प्राचीन रूप **आवभ्यां** तथा **युवभ्यां** है, किन्तु ये भी सादृश्यके आधारपर बादमे **आवाभ्यां** तथा **युवाभ्यां** हो गये है। इन शब्दोके द्विवचन रूपोमे मूल रूप **आव**—तथा **युव**—ही थे, इसकी पुष्टि षष्ठी सप्तमीके द्विवचन रूप **आवयोः**, **युवयोः** से भी हो जाती है। इन विभक्तियोके वैकल्पिकरूप **नौ** तथा **वाम्** पाये जाते है। ये रूप अवेस्तामे भी **ना** [nā] तथा **वा** [vā] के रूपमे मिलते है। सस्कृतके **वां** का अनुनासिक तत्त्व सस्कृतकी निजी विशेषता है। सस्कृत **नौ** के समानान्तर रूपमे ग्रीकमे **नो** [nō] पाया जाता है, जो वहॉ प्रथमा [nominative] तथा द्वितीया [accusative] के द्विवचनमे प्रयुक्त होता है।

इन शब्दोके बहुवचन रूपोमे प्रथमा विभक्तिमे **अम्** विभक्तिचिह्न पाया जाता है, यथा **वयम्**, **यूयम्**। अवेस्तामे मध्यम पुरुष सर्वनाम शब्दका बहुवचनरूप "**यूज़्अम्**" [yūzəm] पाया जाता है। अन्य सभी विभक्ति

रूपोंमे इनमें स्म विभक्तिचिह्नका प्रयोग पाया जाता है,—अस्मान्, युष्मान्; अस्मत्, युष्मत् आदि। यह स्म अवेस्ता तथा ग्रीकमें भी क्रमशः ह्म तथा म्म के रूपमें पाया जाता है, अवे० अह्म [ahma], ग्रीक अम्मे [ámme]। यह विभक्तिचिह्न अन्य सर्वनामोंके एकवचन रूपोंमें भी पाया जाता है, तस्मै, तस्मिन्। किन्तु षष्ठी बहुवचनके रूपोंमें इन उत्तम पुरुष तथा मध्यमपुरुषके रूपोंमें स्म के साथ आकम् भी जोड़ दिया जाता है, अस्माकम्, युष्माकम्। अवेस्ताके अह्माक्अम् [ahmākəm], युश्माक्अम् [yušmakəm] शब्दोंके आधारपर यह कहा जा सकता कि यह स्म+आकं विभक्तिचिह्न भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता रही होगी।

यहाँ इतना कह दिया जाय कि भा० यू० भाषाओंमे अन्य पुरुष [प्रथम पुरुष] के शब्दों को व्यक्तिवाचक या पुरुषवाचक सर्वनामों [Personal-pronouns] की तरह न मानकर पदरचनाकी दृष्टिसे निर्देशात्मक सर्वनामों [demonstrative pronouns] की तरह माना जाता है। संस्कृतमे भी इसीलिए तत् शब्दके रूपमें तीनो लिंग पाये जाते हैं। तत् शब्दके इन रूपोंपर हम आगे संकेत करेंगे।

संस्कृतमें स्व का आत्मने प्रयोग मिलता है। इसका प्रयोग सर्वनामके रूपमे मिलता है। ऐसा प्रयोग ग्रीक, लैतिन तथा अवेस्तामे भी देखा जाता है, ग्रीक हास् [hòs], हुआस् [hèòs], लैतिन सूस [suus], अवेस्ता ह्व [hwa]। इसका प्रयोग प्रायः 'आत्मने' [reflexive] के अर्थमे पाया जाता है। संस्कृतमें इसीके स्वयं, स्वतः आदि रूप मिलते हैं। आधुनिक यूरोपीय भाषाओंमे इसके समानान्तर लैतिन सूस के विकसित रूप से [se] का फ्रेंच भाषामें बहुत प्रयोग मिलता है। फ्रेंचकी कई क्रियाएँ ऐसी हैं, जिनके साथ इस से का प्रयोग अवश्य होता है। ये क्रियाएँ "रिफ्लेक्सिव" [reflexive verbs] कहलाती हैं। यह प्रयोग प्रायः संस्कृतके आत्मनेपदी सा है। यथा, "ऑं से मी ता ताब्ल [on se

mit a table] [प्रत्येक [व्यक्ति] स्वय टेबुलपर बैठ गया अर्थात् सब टेबुलपर बैठ गये ।] मे यह से सस्कृतके स्व का समानान्तर ही है ।

सस्कृतके मध्यम पुरुष 'त्वं' के लिए आदरणीय अर्थमे **भवान्** का प्रयोग पाया जाता है, जो प्रथम पुरुष क्रियाके साथ प्रयुक्त होता है, **भवान्** गच्छति । यह **भवान्** वाकेरनागेलके मतानुसार सस्कृत शब्द **भगवान्** का ही वैकल्पिक सक्षिप्त रूप है। इस वैकल्पिक रूपके लिए उसने फ्रेंच भाषासे एक ऐसा ही उदाहरण दिया है। ठीक इसी आदरणीय अर्थमे फ्रेंच भाषामे **मॉसेञो** [monseigneur] तथा **'मॉश्यो'** [**मॉश्यो**] [monsieur] दोनो प्रकारके रूप पाये जाते है, जहाँ द्वितीय रूप प्रथमका ही सक्षिप्त वैकल्पिक रूप है। इसी प्रकार सस्कृतका **भवान्**, **भगवान्** का ही सक्षिप्त वैकल्पिक रूप है।[1]

निर्देशात्मक तथा विशेषणीभूत सर्वनामो [demonstrative pronouns and articles] मे **स, सा, तत्** का संबध ग्रीकके हो [ho] हे [he] [प्रा० रु० हा–] ha] तथा तो [to] से जोडा जा सकता है, जो क्रमशः पुल्लिग, स्त्रीलिंग तथा नपुसक लिंग शब्दोके मूल रूपोके साथ ग्रीकमे ठीक वैसे ही प्रयुक्त होते है, जैसे अँगरेजीमे ए, एन, दि [a, an, the]। ग्रीकमे ये 'आर्टिकल' कहलाते है। इसका विकास प्राचीन भारत-यूरोपीय **सो-सा** [so,-sa], **तो-ता** [to, ta] से माना गया है। इनके अतिरिक्त कुछ प्रश्नवाचक सर्वनाम भी सस्कृतमे प्रयुक्त होते है। सस्कृतके **कः**, **का, कि, चित्** का सबध ग्रीक पो [po], तिस्, ति [तिद्] [tis.ti [tid]; लैतिन क्वोद् [quo-d], क्विद् [qui-d], क्वि [qui], क्वास् [quos] आइरिश किआ [cia], वेल्श प्वि [pwy], तथा अगरेजी हू [who] से जोडा जा सकता है। इन सबका विकास प्रा० भा० यू० *क्वास्

---

१. Wackernagel: Altindische Grammatik P 487 § 130 [C]

[*k^w os] से हुआ है। सबधवाचक सर्वनाम यः या, यत् का सबध प्रा० भा० यू० यो [yo], [ya] से जोड़ा जाता है। इन शब्दोके विभक्ति चिह्न प्रायः सज्ञाओंके ही विभक्ति चिह्नोसे विकसित हुए हैं।

संख्यावाचक शब्द

प्रा० भा० यू० मे गणनाका ढग 'दस' से होता था। उसमें एकसे लेकर चार तककी सख्याके शब्दोंके रूप सभी लिंगोंमे सविभक्तिक चलते थे, जब कि पॉच से दस तकके शब्द अपरिवर्तित रूप वाले अव्यय थे। १० से १९ तकके शब्द इसके साथ एक, दो, तीन, चार. इत्यादिके वाचक शब्द जोडकर बनाये जाते थे। प्रा० भा० यू० से विकसित भाषाओमें १० से ऊपरके सख्यावाचक शब्द कई ढगसे बनाये जाते हैं। कहीं तो ये समस्त शब्द-से होते हैं, यथा, **एकादश, द्वादश, त्रयोदश** या अ० **थर्टीन** [thirteen], या वेल्श **'पिमथेग'** [pymtheg]। कहीं-कहीं बीचमे समुच्चय बोधक अव्ययका प्रयोग कर इस तरहकी सख्याका बोध कराया जाता था, यथा, सख्या **द्वाविंशत् [द्वे विंशति च पुरुषा]** ग्रीक **एइकोसि-दुओ** [eikosiduo], अथवा **दुओ कइ एइकोसि** [duo kai eikosi]। यद्यपि प्रा० भा० यू० गणना 'दस' से ही होती थी, किन्तु ऐसे भी चिह्न दिखाई पड़ते हैं, जहॉ 'नौ' वाली गणना देखी जाती है। केल्तिक तथा अन्य दूसरी यूरोपीय भाषाओंमें ये सकेत मिलते हैं। वेल्शमें 'अठारह' के लिए **'ध्युनव'** [deunaw] शब्दका प्रयोग होता है, जिसका अर्थ होगा, **"दो नौ"**। ग्रीकमें १९, २९, ३९ आदि के लिए 'एक कम बीस' अर्थवाले प्रयोग मिलते हैं, यथा **'हेनास् दओन्तस् एइकोसिन्'** [hnos deontes eikosin] [स० **एक-ऊन-विंशत्, एकोनविंशत्**]। कुछ लोग यहॉ 'नौ' वाली गणनाका सकेत ढूॅढनेका प्रयत्न करें, पर यह ठीक न होगा, यहॉ पर वस्तुतः 'दस' वाली गणना ही है। वैसे सस्कृतमे "नौ" वाली गणना के सकेत कई स्थानो पर मिलते अवश्य है, यथा—**'नवद्वयद्वीपपृथग्ज-**

यश्रियाम्' [नैषध, प्रथमसर्ग], जहाँ 'अठारह' के लिए 'नवद्वय' का प्रयोग हुआ है, जो वेल्श 'द्योनव' के समानान्तर है।

संस्कृतके एकसे दस तकके संख्यावाचक शब्द तथा सौका संख्यावाचक शब्द प्रा० भा० यू० शब्दोंसे विकसित हुए है। बाकी संख्यावाचक शब्द मिलाकर बनाये हुए शब्द है। हम इन प्रमुख शब्दोंकी तालिका देते हैं :—

१ एक	*ओइनोस्	लै० उनो [uno]	ग्रीक	ओइओस् [oios]
२ द्वि	*दुयोउ	,, दुए [due]	,,	दुओ [duō]
३ त्रि	*त्रेयेस्	,, त्रे [tre]	,,	त्रेइस् [treis]
४ चतुर्	*क्वत्यारस्	,, क्वात्र [quatre]	,,	ततारस् [tetores]
५ पञ्च	*पन्क्वे	,, क्विक्वे [quinque]	,,	पन्ते [pente]
६ षट्	*स्वेक्स्	,, सेइ [sei]	,,	ज़ेस्- [zes-]
७ सप्त	*सेप्तम्	,, सप्त [sept]	,,	हप्त [hepta]
८ अष्ट	*ओक्तोउ	,, ओक्तो [octo]	,,	ओक्तो [octō]
९ नव	*नयून्	,, नोवेम् [novem]	,,	एन्-नेअ [en-nea]
१० दश	*देक्म	,, देकेम [decem]	,,	देक [deka]
१०० शतम्	*क्व्मृतोम्	,, सेन्तुम [centum]	,,	हेकतान् [hekaton]

१००० सहस्र × फारसी हजार ग्रीक खीलिओइ [khılıoı]

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं प्रा० भा० यू० में एकसे चार तकके संख्यावाचक शब्द लिंग व विभक्तिके अनुसार बदलते थे, यथा एकः, एका, एक, द्वौ, द्वे, द्वे, त्रयः, तिस्र., त्रीणि, चत्वार , चतस्रः, चत्वारि। इसी तरह विभक्तियोंमे भी एक , एकं, एकेन आदि द्वौ, द्वौ, द्वाभ्यां, द्वयो', त्रय', त्रीन्, त्रिभि आदि, चत्वार. चतुर , चतुर्भि', चतुर्भ्य , चतुर्णाम्, चतुर्षु रूप चलते है। इसी तरह स्त्रीलिग रूपोंके तथा नपुसकलिंग रूपोके भी विभक्तिरूप पाये जाते हैं। पञ्च तथा अन्य संख्यावाचक शब्दोंमे लिग नहीं होता, **पञ्च पुरुषा , पञ्च नार्य., पञ्च फलानि, दश घटाः, दश लता , दश पुस्तकानि**। किन्तु इनमे विभक्ति रूप पाये जाते है, यथा **पञ्च, पञ्च, पञ्चभि., षट्, षड्भि , षड्भ्यः, षण्णाम्, षट्सु**। अतः यहॉपर इन्हे अव्यय नहीं माना जा सकता। यद्यपि इन शब्दोंमे लिंगका अभाव यह संकेत करता है कि ये मूल रूपमे अव्यय [ındeclınables] थे, तथापि ऐसा अनुमान होता है कि संस्कृतमे आकर ये शब्द एक, द्वि, त्रि, चतुर् के सादृश्यपर सविभक्तिक बन गये। यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि एक के रूप केवल ए० व० मे, द्वौ के केवल द्वि० व० मे, तथा 'त्रि' आदि शेष संख्यावाचक शब्दोंके रूप केवल बहुवचनमे पाये जाते है।

बीससे लेकर नव्वे तकके संख्यावाचक स्त्रीलिंग नाम शब्द है, तथा उनके रूप केवल ए० व० मे ही चलते है। इनके साथ जिस वस्तुकी संख्या बनाना होता है, उसे षष्ठी ब० व० मे रखा जाता है यथा, '**नवति नाव्यानाम्**' "जल–पोतोंकी नवति [नव्वे पोत]", कभी कभी इनका प्रयोग इस तरह भी किया जा सकता है कि [१] संख्यावाचक शब्द वस्तु [विशेष्य] की विभक्तिमे तो हो किंतु वचनमे नहीं, यथा '**विंशत्या हरिभि** ' 'बीस घोडोके साथ', अथवा [२] कभी कभी संख्यावाचक शब्द

विशेषणकी तरह विशेष्यकी विभक्ति तथा वचनका वहन करता है, यथा 'पञ्चाशद्भिर्बाणैः' 'पचास बाणोंके साथ'। इनके समानान्तर रूप ये हैं।

२०-५० सं० विंशति–, अवे० वीसइति, ग्रीक एइकोसि [eikosi], लै० वीगिंती [viginti]

सं० त्रिंशत्, अवे थ्रिसँस् [θrisas] [कर्म ए० व०] थ्रिसतअम् [θrisatəm], लै० त्रीगिंता [triginta]

सं० चत्वारिंशत्, अवे० चथ्वर्‌असतअम् [caθwarəsatəm], ग्रीक तत्तर-कोन्ता [tettara-konta] लै० क्वद्रागिंत [quadraginta]

सं० पञ्चाशत्, अवे० पन्शासत्– [pansǎsat], ग्रीक पन्ते-कोन्ता [pentekonta] लै० क्विंक्वागिंत [quinqua-ginta]

इन सख्यावाचक रूपोंमें '–शत्' तत्त्व पाया जाता है। इसकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० यू० '*क्‌ंमत्' [k̑m̥t] से मानी गई है, जो वस्तुतः *'द्‌क्‌ंमत्' [dkm̥t] का ह्रस्व रूप है, जिसका प्रयोग प्रा० भा० यू० में 'दस' के अर्थ में पाया जाता है।

६०–९०, षष्ठि, सप्तति, अशीति, नवति—इन शब्दोंकी रचना पूर्ववर्ती संख्यावाचक शब्दोंसे सर्वथा भिन्न है। इनमें भाववाचक –'ति' प्रत्ययका प्रयोग पाया जाता है। यह विशेषता केवल भारत-ईरानी वर्ग में ही पाई जाती है। पुरानी स्लावोनिकमें भी 'शेश्ति' [šešti] में इसका चिह्न देखा जा सकता है, जो संस्कृत "षष्ठि' का समानान्तर है। अवेस्तामें इनके रूप ये हैं :–'ख्श्वश्ति' [xšvašti], हप्ताइति [haptaiti], अशाइति [ašaiti], नवइति [navaiti]।

१०० का संख्यावाचक शब्द 'शतम्' प्रा० भा० यू० 'क्म्̥तोम्' [k̥mtom] से विकसित है, जिसके समानान्तर अन्य भाषागत रूपोंके संकेतके लिए दे० पृष्ठ ५१। १००० का संख्यावाचक शब्द 'सहस्र' है, जिसका अवेस्तामें 'हजंग्र' [hazangra] तथा फारसीमें 'हजार' [hazar] रूप मिलता है। ग्रीकमें इसका 'खीलिओइ' [khīlioi] रूप है। इससे स्पष्टतः है कि इसकी आरम्भिक ध्वनि 'स' प्रा० भा० यू० 'स्म्̥' [sm̥] से विकसित है, जो 'एक' का वाचक है। इसी संबंधमें यह भी कह दिया जाय कि प्रा० भा० यू० में 'एक' के प्राचीन रूपके अतिरिक्त इसके बोधनके लिए अन्य शब्द भी था जिसका मूल रूप *'सेम्' [sem] था। इसका विकास ग्रीकके हेइस् [heis] तथा मिआ [mia] में देखा जा सकता है। संस्कृतमें भी इसके चिह्न 'सकृत्' 'एक बार' [अवे० हकॅरॅत hakərət] में देखे जा सकते हैं। 'सहस्र' का संबंध भी इसी *'सेम्–*स्म्' से है।

क्रमात्मक संख्यावाचक विशेषण [ordinals] के रूप संस्कृतमें ये हैं:—

१. सं० प्रथम, अवे० फ्रतॅम [fratəma].

२. ,, द्वितीय, अवे० दइवित्य, वित्य, पु० फार० दुवितिय

३. ,, तृतीय, अवे० थ्रित्य [θritya], लै० तेर्तिउस् [tertius].

४. [क] चतुर्थ, ग्रीक तेतर्तोस् [tetartos], लिथु० केत्विरतस् [ketvirtas]

[ख] तुरीय, तुर्य–, अवे० तूइर्य [tūirya]

५. [क] पक्थ [ऋग्वेद १०, ६१, १], अवे० पुख़्द [puxδa], ग्रीक, पेम्प्तोस् [pemptos]

[ख] पञ्चथ [काठकसंहिता], पुरानी वेल्श पिम्फेत [pimphet].

[ग] पञ्चम, पहलवी [मध्य फारसी] पञ्जुम [panjum]

६. षष्ठ, ग्रीक ह्क्तोस् [hektos], लै० सेक्स्तुस् [sextus]

७. [क] सप्तथ, [ऋग्वेद], अवे० हप्तथ [haptaθa]

[ख] सप्तम, फारसी हफ्तुम, ग्रीक हेब्दोमास् [hebdomos] लै० सेप्तिमुस्

८. अष्टम, अवेस्ता अश्तअम [astəma]

९. नवम, अवे० नओम [naoma], पु० फारसी नवम.

१०. दशम, अवे० दस्अम [dasəma], लै० देकिमुस् [decimus]

इससे स्पष्ट है कि क्रमात्मक सख्यावाचक शब्द बनानेमे मूलतः प्रा० भा० यू० मे 'अ' प्रत्ययका प्रयोग होता है, जैसे सतम्-अ [सतम], दशम्-अ [दशम] मे। इसके बाद 'म' ही प्रत्यय बन गया तथा उनमे भी जोडा जाने लगा, जिनमे मूलतः 'म्' अंश नहीं था, यथा अष्ट-म, नव-ममे। इसके अतिरिक्त सस्कृतमे 'थ' प्रत्यय भी है, इसका विकास प्रो० बरोने 'ता'+अ [थिमेटिक स्वर] से माना है, जिसमे भारतेरानी वर्गमे प्राणताका प्रयोग होने लगा है, वे 'चतुर्थ' की उत्पत्ति *चतुर्ता + अ से मानते है।[1]

---

१. T Burrow· Sanskrit Language. P 262

संस्कृत पद-रचना [क्रिया तथा क्रियाविशेषण]

संस्कृत अभरम्, अभरः, अभार्षम्, ग्रीक एफरान् [epheron], एफरस् [e-phere s], एफ्रान् [e-phro-n]। विकरण संस्कृतमे उन अन्तः-प्रत्ययोंके लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है, जो कई गणोंमे, कई लकारोंमे, तथा कई अन्य प्रकारके रूपोंमे धातु तथा तिङ् प्रत्ययके बीचमे जोडा जाता है। उदाहरणके लिए भू धातुको लीजिये। इसके साथ वर्तमाने लट्का प्रथम पुरुष एक वचनका तिङ् प्रत्यय 'ति' जोडनेपर 'भू + ति' रूप बनेगा। इस गणके [भ्वादिगणके] धातुओंमे बीचमे 'अ' विकरणका प्रयोग पाया जाता है· इससे यह 'भू + अ + ति = भवति' रूप हो गया है, जहॉ धातुकी अंतिम स्वर ध्वनि 'ऊ' मे गुण होकर अव् रूप हो गया है। ये विकरण आरंभसे ही प्रा० भा० यू० की विशेषता रहे है, तथा ये ग्रीक आदि अन्य भारोपीय भाषाओंमे भी पाये जाते है। इन्हींके आधारपर ग्रीकके क्रिया रूपोंको सविकरण [thematic], अविकरण [athematic] इन दो श्रेणियोंमे विभक्त किया जाता है। इन शब्दोंकी रचना 'थेमास्' [themos] से हुई है, जिसका अर्थ वही है, जो संस्कृत वैयाकरणोंके विकरण का। सस्कृतमे ये विकरण संख्यामे २० के लगभग पाये जाते हैं। इन्हीं विकरणोंके आधारपर संस्कृत व्याकरणमे धातुओंको भ्वादि दस गणोंमे विभक्त किया गया है। संस्कृतके दस लकारोंका सार्वधातुक तथा आर्धधातुक श्रेणी विभाजन पाया जाता है। सस्कृत धातुओंमे कुछ ऐसे भी धातु हैं, जिनके साथ किसी भी विकरणका प्रयोग नहीं पाया जाता। सस्कृतके अदादिगणी धातु इस अविकरणात्मक कोटिमे आयेंगे। उदाहरणके लिए इस गणके अस् धातु को लीजिये, जिसके वर्तमानके प्र० पु० एकवचनमे अस् + ति = अस्ति रूप पाया जाता है। इसी विकरण-प्रक्रियाके आधारपर संस्कृतमे एक और विभाजन पाया जाता है, जो अनिट् तथा सेट्के नामसे प्रसिद्ध है। जिन धातुओंके कुछ रूपोंमे 'इ' [इट्] विकरणका प्रयोग पाया जाता है, वे धातु 'सेट्' तथा अन्य 'अनिट्' कहलाते हैं। उदाहरणके लिए भू' तथा 'दा' इन दो धातुओंको ले लीजिये। 'भू' से भविता,

भवितुं, भविष्यति आदि सेट् रूप बनते हैं, किन्तु 'दा' से दाता, दातुं, दास्यति रूप बनते है। अतः प्रथम सेट् है, दूसरा 'अनिट्। इस इ विकरणका प्रा० भा० यू० रूप क्या रहा होगा, इस विषयपर आगे प्रकाश डाला जायगा।

पहले इन क्रिया रूपोंके मेरुदण्ड, धातुपर ध्यान दे लिया जाय। संस्कृतमें सभी धातु एकाक्षर [monosyllabic] पाये जाते है, अर्थात् इन धातुओंमें एक ही स्वर पाया जाता है। यह स्वर व्यञ्जनहीन हो सकता है, अथवा इसके पूर्व तथा परमें एक या दो व्यञ्जन ध्वनियाँ भी पाई जा सकती है। इस प्रकार स्वरध्वनिके लिए V तथा व्यजनध्वनिके लिए C चिह्नका प्रयोग करते हुए, इन संस्कृतके मूल धातु रूपोंको हम इन कोटियोमें विभक्त कर सकते हैं :—

[१] V [यथा 'इ' [इण् गतौ]], [२] VC [आस्, आप्], [३] VCC [उच्च्], [४] CV [कृ], [५] CCV [क्री] [६] CCVC [क्षर्], [७] CCVCC [स्पन्द्], [८] CVCC [मन्द्]।

भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृत धातुओंको निम्न वर्गोंमे बॉटा जा सकता है।

—अर्—ऋ अतवाले धातुः—√ धृ [–धर्], √ स्वर्

—अन् अतवाले धातु · √ क्षन्, √ स्वन्, √ खन्,

—अस्–स् अतवाले धातु. √ त्रस्, √ ग्रस्, √ ध्वस्, √ श्रुष्, [√ श्रु वैकल्पिक रूप] √ अच्च्, √ नच्च्, √ उच्च्, √ निच्च्, √ वच्च्, √ हास्,

—अम् अतवाले धातु · √ द्रम्, √ गम्, √ क्षम्, √ भ्रम्,

—इ अतवाले धातु : √ क्षि, √ श्रि, √ सि [√ सा भी है], √ शि,

—उ अतवाले धातु : √ श्रु, √ स्रु [बहना], √ द्रु [दौडना]

—आ अतवाले धातु, जो प्रा० भा० यू० मे 'अ' + कण्ठनालिक स्पर्श [laryngal] [a H/H] से सबद्ध है। √ गा, √ या, √ प्सा,

[निगल जाना], √द्रा [दौड़ना], √ज्या [√जि] [जीतना], √त्रा [रक्षा करना]

—त् अंतवाले धातु : √कृत् [काटना], √चित् [सोचना], √त्रित् [टुकड़े होना], √श्वित् [चमकना], √द्युत् [चमकना]

—थ् अंतवाले धातु- √प्रथ् [बढ़ना], √व्यथ् [काँपना], √स्तथ् [घुसना], √श्रथ् [ढीला पड़ना], √ग्रथ् [गूँथना]।

—द् अंतवाले धातुः √क्षद् [बाँटना], √छिद् [काटना], √रुद् [रोना], √मृद् [मसलना], √पीड् [दबाना: ∠*पिज़्द्], √स्यन्द् [बहना], √क्रन्द्-√क्रुन्द् [रोना, चिल्लाना]

—ध् अंतवाले धातुः √मृध् [ध्यान न देना], √एध् [बढ़ना], √स्पृध् [स्पर्धा करना], √क्षुध् [भूखा होना]

—प् अंतवाले धातुः √दीप् [चमकना], √म्लुप् [सूर्यास्त होना], √रिप्-√लिप् [लीपना], √रुप्-√लुप् [तोड़ना समाप्त करना], √विप् [काँपना], √स्वप् [सोना]

—भ् अंतवाले धातुः √शुभ् [चमकना], √स्तुभ् [स्तुति करना]

—च् अंतवाले धातुः √म्लुच् [अस्त होना, दे० म्लुप्], √याच् [माँगना], √सिच् [सींचना]

ज् अंतवाले धातुः √तर्ज् [तर्जना देना, डराना], √युज् [जोड़ना], √रुज् [तोड़ना], √विज् [काँपना]

—ह् अंतवाले धातुः √स्पृह् [इच्छा करना], √द्रुह् [नुकसान करना, द्रोह करना]

डॉ० एलनने, प्राचीन भारत यूरोपीय धातुओंके मूल रूपोंके विषयमें, जहाँ तक व्यञ्जन ध्वनियोंका प्रश्न है, एक लेखमें प्रकाश डाला है। उनके मतानुसार इन धातुओंमे प्रायः दो व्यञ्जन [C_1C_2] पाये जाते थे, जिनमें तीसरे व्यञ्जन [C_3] का भी कभी कभी समावेश हो जाता है। इसी धातु-

संघटनाके अन्तर्गत सदा एक ही 'स्वर [V] होता है, जिनमें सन्ध्यात्मक [prosodic] तथा गुणात्मक [qualitative] परिवर्तन, विभिन्न रूपोंमें पाये जाते हैं। अत. व्यञ्जनयुक्त प्रा० भा० यू० धातुओंको डॉ० एलनने मौलिक दृष्टिसे दो तरहका माना है —$C_1VC_2C_3$ तथा $C_1C_2VC_3$ जहाँतक इन प्रा० भा० यू० धातुओंमे प्राप्त 'स्' [s] तथा 'न्' [n] ध्वनियोंका प्रश्न है, वे इन्हे "ध्वनितत्त्व" [phonetic element] न मानकर "सन्ध्यात्मक तत्त्व" [prosodic element] मानते हैं। इन धातुओंमें जहाँ भी कहीं कण्ठनालिक "लेरिंजियल" ध्वनि [*ə] का प्रयोग पाया जाता है, वहाँ उसे ध्वनितत्त्व ही मानना होगा। इस प्रकार वे प्रा० भा० यू० धातुओंके वास्तविक व्यंजन तत्त्व C_1C_2 ही मानते हैं, जहाँ C_3 के होनेकी भी संभावना है, जो कभी स्पष्ट रूपमें और कभी शून्य रूपमें पाया जाता है।[1] इस प्रकार प्रा० भा० यू० धातुओंके मूल रूपोंको वे सेमेटिक धातुओंके मूल रूपोंकी भाँति मानते जान पडते हैं, जहाँ केवल तीन व्यञ्जन ही प्रमुख तत्त्व है, तथा उन्हींमें 'स्वर' तत्त्व जोडकर विभिन्न पदोंकी सृष्टि होती है, उदाहरणके लिए प्रमुख सेमेटिक भाषा अरबीसे 'क्तब्' [पढना], क्तल् [मारना] इन दो धातुओंको लीजिये, इन्हींसे क़िताब, क़ुतुब, मकतब, क़ातिब, यक्तुबु [मैंने पढा], तथा कत्ल, क़ातिल, यक्तुलु [मैंने मारा] आदि रूप बनते हैं।

प्रा० भा० यू० धातुओंके मूल रूपोंका विचार कर लेनेके बाद अब हम उन प्रमुख विशेषताओंकी ओर आयेंगे, जो संस्कृतके क्रियारूपोंमे पाई जाती है। संस्कृतके क्रिया रूपोंमे इन प्रमुख विशेषताओंमेंसे एक द्वित्वकी विशेषता है, जहाँ धातुका द्वित्व रूप पाया जाता है। यह द्वित्व वैसे तो परोक्षभूत, सन्नन्त, यथा यङ् लुङन्तमे प्राय. सभी धातुओंमे पाया जाता है, किन्तु कुछ धातुओंके लट् तथा लुङ् आदिमे भी यह धातुका द्वित्व पाया

१ Dr Allen Indo-European primary Affix B[h] P 3 Transections of Philological society of G B 1950

जाता है। उदाहरणके लिए सस्कृतके अभात् [√भा] तथा अस्थात् [√स्था] को ले लीजिये, जो दोनो लुङ्के रूप है। यहाँ दोनो द्वित्वविहीन रूप है। किन्तु वर्तमाने लट्में स्था को तिष्ठ आदेश होकर तिष्ठति रूप बनता है, जिसका काल्पनिक पूर्व रूप *स्तिष्ठति माना जा सकता है, जहाँ स्पष्ट ही धातुका द्वित्व पाया जाता है। गा, दा, धा, पा [पिबति],[1] स्था आदि वे धातु है, जिनके कई लकारोके रूपोमे द्वित्व पाया जाता है। ठीक यही बात ग्रीकमे पाई जाती है[2]। उदाहरणके लिए सस्कृत दा तथा स्था धातुओके समानान्तर ग्रीक धातुओके इन रूपो को लीजिये—दिदोमि [dıdōmı] [सं० ददामि], हिस्तेमि [hıstemı] [सं० तिष्ठामि], जहाँ धातुका द्वित्व रूप स्पष्ट है। यह द्वित्व दोनों ही भाषाओके परोक्षभूते लिट् [perfect] मे नियत रूपसे पाया जाता है, यथा,

सं०	जजान	ग्रीक	गेगोन	[gegona]
	दिदेश	,,	देदइख	[dedeıkha]
	रिरेच	,,	लेलोइप	[leloıpa]
	बुभोज	,,	पेफेउग	[pepheuga]

सस्कृतके सन्नन्त तथा यङ् लुडन्त रूपोमे भी धातुका द्वित्व पाया जाता है, जो पिपठिषति, बुभुक्षते, जिगमिषति, चिकीर्षति, वेविज्यते [√विज् से यङ् लुङन्त], नेनीयते, मर्मृज्यते, चोक्षूयते आदि रूपोसे स्पष्ट है। इस सम्बन्धमे सस्कृत धातुके द्वित्वके कुछ साधारण नियमोका उल्लेख कर देना आवश्यक होगा।

---

१. ध्यान देने की बात है कि रक्षार्थक 'पा' धातुमें द्वित्व नही होता, वहाँ लट् के रूप 'पाति' आदि बनते है, पानार्थक 'पा' धातुमें द्वित्व होता है।

२ Kıng and Cockson Comparative Grammar of Greek and Latin. p 136

[१] धातुके केवल प्रथम अक्षरको ही द्वित्व होता है, √**बुध्–बुबोध**, √**पठ्–पपाठ**।

[२] धातुके प्रथम ध्वनिके महाप्राण होनेपर द्वित्व रूपमे प्रथम ध्वनि की प्राणता [aspiration] लुप्त हो जाती है, अर्थात् वह अल्पप्राण हो जाती है, यथा, √**भी–बिभीते**, √**धा–दधाति**।

[३] धातुके प्रथम ध्वनिके कण्ठ्य [velar] होनेपर द्वित्व रूपमे प्रथम ध्वनि तालव्य पाई जाती है, यथा, √**गम्–जगाम**, √**हन्** [***घन्**]**–जघान**, √**खन्–चखान**, √**कृ–चकार**। इस ध्वनि परिवर्तनका कारण यह है कि प्रा० भा० यू० मे इन द्वित्व रूपोंमे प्रथम अक्षरमे *ए॒ [अग्र-स्वर] पाया था, जो ग्रीकमें अभी भी पाया जाता है। इस स्वरके परवर्ती होने पर कण्ठ्य तथा कण्ठ्योष्ठ्य ध्वनियाँ सस्कृतमे आकर तालव्य रूपमे विकसित हुई हैं, इसे हम चतुर्थ परिच्छेदमे देख चुके हैं। उदाहृत **हन्** धातुकी **ह** ध्वनि भी वस्तुतः भाषावैज्ञानिक दृष्टि से **घ** है।

[४] यदि धातुके आरभमे दो व्यञ्जन ध्वनियाँ पाई जाती हैं, तो प्रथम ध्वनिका ही द्वित्व होता है, यथा √**क्रम्–चक्राम**।

[५] यदि धातुके आरभकी दो व्यञ्जनध्वनियोंमे प्रथम ध्वनि स है, तथा द्वितीय ध्वनि स्पर्श [अनुनासिक-भिन्न स्पर्श ध्वनि] है, तो द्वित्व उस स्पर्श-ध्वनिका ही होगा, यथा √**स्था–तस्थौ**, √**स्कन्द्–चस्कन्द**। किंतु यदि द्वितीय ध्वनि अनुनासिक [न, म] या अन्तःस्थ है, तो स का ही द्वित्व होगा, यथा √**स्वज्–सस्वजे**, √**स्मि–सिस्मिये**।

[६] धातुका मूल स्वर द्वित्व होनेपर द्वित्वरूपमे [प्रथमाक्षरमे] ह्रस्व हो जाता है, जैसे √**दा–ददाति**, **ददौ**, √**राध्–रराध**।

इस सबधमे यह भी कह दिया जाय कि सस्कृतमे कुछ ऐसी भी धातुएँ है, जिनमे नियत रूपसे द्वित्व पाया जाता है। सस्कृतके वैयाकरणोंने इन्हें तीसरे गण [जुहोत्यादिगण] मे स्थान दिया है। वैसे हम आगे देखेंगे कि कुछ

नियत द्वित्ववाले धातु अन्य गणोमे भी पाये जाते है, जैसे √स्था [तिष्ठति], भ्वादिगणी है, जुहोत्यादिगणी नहीं।

डॉ० अलबेंत थुम्बने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हेन्दबुख देस संस्कृत' मे प्रा० भा० यू० धातुओंको १४ वर्गोंको बॉटा है, जिन्हे हम सस्कृतके दस गणोमे समाहृत रूपमे देखते है। ये चौदह वर्ग निम्न है:—

[१] **प्रथम वर्गः**—इस वर्ग मे शुद्ध धातुके साथ तिङ्प्रत्यय जोड़ा जाता है। यह संस्कृतका अदादि गण है। **अस्ति, स्मः, ग्रीक, एस्ति, लैतिन एस्त, सु-मुस, प्रा० भा० यू० *एस्ति, *स्मस्; सं० स्तौमि, स्तुमः.**

[२] **द्वितीय वर्गः**—इस वर्गमे शुद्ध धातुके साथ 'अ' [विकरण] [प्रा० भा० यू० *ए] का प्रयोग पाया जाता है, तथा धातुका अपश्रुति-जनित रूप पाया जाता है। ग्रीकमे यह कभी ए तथा कभी ओ मिलता है। **भरामि, भरति, भरंति, ग्रीक फेरो, फेरोउसि, लै० फेरो, फेरुंत, प्रा० भा० यू० *भेरो, *भेरति, भेरोन्ति;** सं० वोधति [√बुध्], अजति [√अज्].

[३] **तृतीय वर्गः**—इस वर्गमे धातुका द्वित्व पाया जाता है। यह संस्कृतका जुहोत्यादि गण है:—**पिपर्मि, पिपृमः, ग्रीक पिप्लमेन्** [हम भरते हैं], प्रा० भा० यू० ***पिपेल्मि, *पिप्लृमोस्**, सं० जुहोमि, जुहुमः, ददामि, दद्मः, ग्रीक दिदामि, दिदामेन्, प्रा० भा० यू० *दिदोमि [ददामि], *दिद्मोस् [दद्मोस्]

[४] **चतुर्थ वर्गः**—इस वर्गमे धातुका द्वित्व तथा थिमेटिक 'अ' [विकरण] [प्रा० भा० यू० *ए] भी पाया जाता है:—**तिष्ठामि, अवे० हिस्तइति, लै० सिस्तित्, सं० शश्वति;** [प्रा० भा० यू० ***सस्क्वति**]

[५] **पंचम वर्गः**—इस वर्गमे प्रा० भा० यू० क्रियाओंमे [१]

*ना–न्अ–न् विकरण अथवा [२] *नो-ने विकरण पाया जाता है। प्रथम कोटिमें अश्नामि, अश्नीमः, अश्नन्ति, क्रीणामि, क्रीणीमिः, क्रीणन्ति रूपोंका समावेश होता है, द्वितीय कोटिमें संस्कृतके धातु नहीं पाये जाते, क्योंकि यहाँ आकार वे सभी प्रथम कोटिमें मिल गये हैं ग्रीकमें ऐसे रूपोंका अस्तित्व है। थुम्बने इसके अवशेष दो तीन संस्कृत क्रियाओंमें संकेत किये हैं :—मिनति [वैदिक रूप], घूर्णते, कृपणते, किन्तु इनमें भी अन्तिम रूप तो नामधातुका है, जो 'कृपणवत् आचरति' से बना है।

[६] **षष्ठ वर्गः**—इस वर्गमें भी दो कोटियाँ मानी गई हैः—[१] प्रथम कोटिमें *नेव् [नु] विकरण माना गया है, इसके अपश्रुतिजनित *न्व तथा *नुव रूप भी होते हैः—स्तृणोमि, स्तृणुमः, ग्रीक स्तोर्नुमेन् , प्रा० भा० यू० *स्तृनेव्मि, *स्तृनुमोस्। [२] द्वितीय कोटिमें 'नु' विकरणके साथ थिमेटिक 'अ' का भी प्रयोग पाया जाता है, चिन्वति, ग्रीक [होमर] र्तानो [<*तिन्वो], प्रा० भा० यू० *क्विन्वेति।

[७] **सप्तम वर्गः**—इसमें भी दो कोटियाँ हैः—[१] प्रथम कोटिमें *ने/न् [सं० न] विकरणका प्रयोग पाया जाता हैः—छिनद्मि, छिन्मः, भुनज्मि, भुञ्ज्मः, [२] द्वितीय कोटिमें 'न्' विकरण धातुके मध्यमें पाया जाता है तथा अ विकरण भी जोडा जाता है, विंदामि, लुम्पति।

[८] **अष्टम वर्ग :**—इस वर्गमें धातुके साथ *स् अथवा अस् [əs] या इस् विकरण तथा थिमेटिक 'अ' पाया जाता है। यह विकरण वस्तुतः सन्नन्त [इच्छार्थक] रूपोंमें पाया जाता है, पिपासति, जिजीविषामि।

[९] **नवम वर्ग :**—इस वर्गमें प्रा० भा० यू० धातुके साथ *स्को विकरण पाया जाता था, जो सं० च्छ [छ], ग्रीक स्को, तथा लै० स्क्–के रूपमें विकसित हुआ है, गच्छामि [*ग्व्म्स्को [–स्खो]], पृच्छामि [*पृक्य्स्को]।

[१०] **दशम वर्गः**— इस वर्गका प्रा० भा० यू० विकरण *ता था। **सं० स्फुटति** = *स्फृतति, प्रा० भा० यू० *√स्पूल्ट [स्फूल्ट]+ ता + ति [स्फूल्टताति]। यह विकरण लैतिनकी साक्षीपर माना गया हैः— **लै० प्लु** क्तो, जो ग्रीकमें 'को' के रूपमे विकसित हुआ है, **ग्रीक प्लु** को।

[११] **एकादश वर्ग** :—इस वर्गका विकरण *धा–*दा है, जिसका सस्कृतमे ध–द रूप मिलता है। **सं० योधति; कूर्दति, क्रीडति** [*क्रिज़्–द–ति]।

[१२] **द्वादश वर्ग** :—इस वर्गका विकरण *इओ –ये [स०–य–] है, **सं० पश्यति, अवे० स्पस्येइति, लै० स्पकिओ, ग्रीक पेस्सो- प्रा० भा० यू० *पेक्वो**, स० कुप्यामि, मन्यते, दाम्यति।

[१३] **त्रयोदश वर्ग** :—इस वर्गमे धातुका द्वित्व तथा साथमे *यो–ये विकरण पाया जाता है सस्कृतमे इस वर्गका कोई क्रिया रूप नहीं मिलता। प्राकृत ग्रीक [वल्गार ग्रीक] मे इसका एक रूप मिलता है :— **ग्रीक तितइनो** [tataino̅], प्रा० भा० यू० ***ति–त्न्–यो**। थुम्बने पाद-टिप्पणीमे पृच्छ्यते, वन्द्यते जैसे कर्मवाच्यरूपोके 'य' विकरणका सबध इससे जोडा है।

[१४] **चतुर्दश वर्गः**—इस वर्ग मे *एयो–* एये [स०–अय–] विकरण पाया जाता है। इसका सबध सस्कृतके णिजत रूपोके 'य' विकरण तथा [चुरादि गणके भी विकरण] से जोडा जा सकता है। **संस्कृत तर्षयामि, लै०** तोरेयो [torreo], **प्रा० भा० तार्सेयो**।

स० लोकयामि, लै० लूकेओ [lūceo] प्रा० भा० यू० लोवक्वेयो स० स्पृहयामि, प्राकृत [वल्गार] ग्रीक, स्पेर्खोमइ [sperkhomai]

संस्कृतमे ये सभी वैयाकरणोंके दस गणों समाहित हो जाते है।

यहाँ इन विभिन्न गणोंपर थोडा विचार कर लिया जाय। हम बता चुके है कि विकरणोके आधारपर संस्कृत वैयाकरणोने धातुओ को दस गणोंमे विभक्त कर दिया है :—१. भ्वादि गण, २. अदादि गण, ३. जुहोत्यादि गण, ४ दिवादिगण, ५. स्वादिगण, ६. तुदादिगण, ७ रुधादिगण, ८ तनादिगण, ९. क्र्यादिगण, १०. चुरादिगण। वैसे कई ऐसे भी धातु है, जिनमे इनके अतिरिक्त स्वतन्त्र विकरणोका प्रयोग पाया जाता है, किन्तु उनका समावेश इन्हींमेसे किसी एकमे कर दिया गया है।

भ्वादिगण :—प्रथम गणके धातुओंका विकरण 'अ' है इन धातुओंमे धात्वशमे उदात्त स्वर पाया जाता है, तथा उसकी स्वर ध्वनिमे गुण हो जाता है। इसे हम √जि, √भू, √बुध् के जयति, भवति, बोधति रूपोमे देख सकते है, जहाँ वस्तुत. जि + अ + ति, भू + अ + ति, बुध् + अ + ति का विकास है। यह 'अ' विकरण ग्रीकमे भी पाया जाता है, किन्तु वहाँ यह कभी ए होता है कभी ओ, यथा, ग्रीक फरेत [pherete] [सं० भरत], फरोमेन् [phero men] [सं० भराम]। इस तथ्यसे यह स्पष्ट है कि प्रा० भा० यू० मे यह विकरण कभी *ए तथा कभी *ओ रहा होगा। संस्कृतमे आकर ये दोनों अ के रूपमे विकसित हुए हैं। इसी सबधमे भ्वादिगणके दो धातु √यम् तथा √गम् का उल्लेख कर दिया जाय, जिनके वर्तमाने लट्मे यच्छति तथा गच्छति रूप पाये जाते हैं। इन्हींके आधारपर प्रा० भा० यू० मे एक विकरण *स्ख [*skh] की की कल्पना की जाती है। इन धातुओंके लुङ् [aorist] तथा लुङ् तिङ् चिह्नोंके आधारपर बने लकारोंमे यह विकरण नहीं पाया जाता, यथा अगमत्, गम्यात्, जगाम मे। संस्कृत मे यह *स्ख विकसित होकर छ [च्छ] हो गया है, जो √यम्, √गम्, √प्रश् के यच्छति, गच्छति, पृच्छति जैसे रूपोंमे पाया जाता है। चूँकि यह विकरण संस्कृतके बहुत कम धातुओंमे

पाया जाता है, अतः इसके आधारपर कोई अलगसे गण नहीं माना जाता, तथा इन्हें प्रथम या षष्ठ गणके अंतर्गत ही समाविष्ट कर दिया गया है। गम् तथा यम् भ्वादिगणी धातु हैं, तो प्रश् तुदादिगणी धातु। ग्रीक आदि भाषाओंमें भी इस "स्छ विकरणके चिह्न मिलते हैं। ग्रीकमें यह स्क के रूपमें विकसित हुआ है।[1] संस्कृत गच्छामि के समानान्तर रूप बस्को [baskō] में यह विकरण स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

संस्कृतमें भ्वादिगणी धातु सबसे अधिक पाये जाते हैं। प्रायः संस्कृत धातुओंमें आधे भ्वादिगणी हैं। प्राकृत तथा अपभ्रंश कालमें भी यही गण धातुओंमें प्रधान रहा है तथा शेष गण वहाँ लुप्त हो गये हैं। प्रा० भा० यू० भाषाओंमें भ्वादिगणीमें थिमेटिक 'अ' [विकरण] का प्रयोग पाया जाता है, जो प्रातिपदिक [nominal stems] में भी पाया जाता है। इसके समानान्तर कतिपय उदाहरण निम्न हैं :—

सं० प्लवते, प्रवते [तैरता है], ग्रीक प्लेवो [plewō] [मैं तैरता हूँ]
,, स्रवति [बहता है], ,, ह्रएइ [rheei]
,, स्नवति [शब्द करता है], लैटिन सोनित् [sonit]
,, स्तनति [गर्जता है], ग्रीक स्तनइ [stenei]
,, बोधति [समझता है], ग्रीक पउफोमइ [peuphomai]
,, सर्पति [रेंगता है], ,, हर्पेइ [herpei], लै० सर्पित [serpit]
,, त्रसति [काँपता है, डरता है], ग्रीक त्रेओ [treō] [मैं डरता हूँ]
,, पतति [गिरता है], ,, पेतोमइ [petomai]
,, हवते [हवन करता है], अवेस्ता ज़वइति [zavaiti], प्रा० स्ला० ज़ोवेतु [zovetu]

---

1. Atkinson : Greek Language p. 47.

हम देख चुके हैं कि इस गणमे धात्वशपर उदात्त स्वर तथा धात्वशके स्वरका गुण पाया जाता है, किंतु कभी-कभी कुछ धातुओंमे वृद्धि भी होती है, जैसे बाधते, भ्राजते, धावति, क्रामति [इसके आत्मनेपदीरूप क्रमते हैं], आचामति मे। इस गणके धातुओंको पुन. चार वर्गोंमे बाँटा गया है:— [१] अनुनासिक तत्त्व वाले धातु जैसे, 'निन्दति' [√निद्], [२]—व प्रत्यय वाले धातु, जैसे 'जीवति' तूर्वति, [३] च्छ विकरण वाले धातु गच्छति, यच्छति, [४] धातुके द्वित्वरूप वाले जैसे, तिष्ठति [√स्था], पिबति [√पा], जिघ्रति [√घ्रा]।

भ्वादिगणी धातुके रूपोके निदर्शनके लिए हम √भू [होना] धातुके परस्मैपदी तथा आत्मनेपदीके मुख्य तथा गौण तिङ् चिह्नोंवाले रूप दे रहे है :—

परस्मैपदी, कर्तृवाच्य, वर्तमाने लट् :—

	प्रथम पु०	भवति	भवत.	भवन्ति
	मध्यम पु०	भवसि	भवथ	भवथ
	उत्तम पु०	भवामि	भवाव	भवाम
आत्मनेपदी	प्र० पु०	भवते	भवेते	भवन्ते
	म० पु०	भवसे	भवेथे	भवध्वे
	उ० पु०	भवे	भवावहे	भवामहे

परस्मैपदी, कर्तृवाच्य, अनद्यतनभूते लङ् [Imperfect]

	प्र० पु०	अभवत्	अभवताम्	अभवन्
	म० पु०	अभवः	अभवतम्	अभवत
	उ० पु०	अभवम्	अभवाव	अभवाम
आत्मनेपदी	प्र० पु०	अभवत	अभवेताम्	अभवन्त
	म० पु०	अभवथा	अभवेथाम्	अभवध्वम्
	उ० पु०	अभवे	अभवावहि	अभवामहि

अदादि गणः—इस गणके धातुओंमें कोई विकरण नहीं पाया जाता, धातुके साथ ही तिङ् चिह्नोंका प्रयोग पाया जाता है। संस्कृतमें लगभग १३० धातु इस गणमें पाये जाते हैं। अन्य भा० यू० भाषाओंमें ये अविकरण धातु प्रायः लुप्त हो गये हैं, तथा इनके स्थानपर सविकरण [थिमेटिक] रूप पाये जाते हैं। वैसे अविकरण धातुओंके कुछ अवशेष अन्य भा० यू० भाषाओंमें छुटपुट मिलते अवश्य हैं। जैसे, सं० अस्ति, ग्रीक एस्ति, लै० इस्त्; सं० एमि, इमः, ग्रीक एइमि, [मैं जाता हूँ] इमेन् [हम जाते हैं]; लिथु० एइमि; सं० अत्ति, लै० इस्त्, रूसी जेस्त्य [jest] [वह खाता है], सं० आसते, ग्रीक हेस्तइ [hestai] [वह बैठता है], सं० शेते, ग्रीक केइतइ [वह सोता है]। इस प्रकारके अविकरण धातुओंकी स्थिति हित्ताइत भाषामें स्पष्टतः देखी जाती है, जैसे सं० हन्ति, घ्नन्ति, हित्ताइत कुएन्ज़ि [kuenzi] [वह मारता है], कुनन्ज़ि [kunanzi] [वे मारते हैं]; सं० वष्टि [√वश्], हित्ताइत वेक्ज़ि [wekzi] [वह चाहता है], सं० शस्ति [√शस्], हित्ताइत शेश्ज़ि [वह सोता है]।

इस गणके धातुओंमें परस्मैपदी रूपोंमें धातुपर उदात्त स्वर पाया जाता है, तथा स्वरका गुण भी होता है, आत्मनेपदी रूपोंमें यह नहीं होता, वहाँ धातुका दुर्बल या मूल रूप [weak form] ही पाया जाता है तथा उदात्त स्वर तिङ् चिह्न पर पाया जाता है। हन्ति, घ्नन्ति, वश्मि, अस्मि, स्मः; किंतु आस्ते, द्विष्टे, शेते, आसते, द्विषते, शेरते।

इस गणके उन धातुओंमें जिनमें आरंभमें व्यञ्जन ध्वनि तथा बादमें 'उ' स्वर पाया जाता है, गुणके स्थानपर वृद्धि होती है:—स्तौति [√स्तु], यौति [√यु]। वैसे कुछ अन्य धातुओंमें भी वृद्धि होती है, जैसे मार्ष्टि [√मृज्], प्र० पु० ब० व० रूप मृजन्ति।

इस गणमें विकरणका प्रयोग न होनेके कारण तिङ् चिह्नोंके साथ धात्वंशकी संधि होनेसे नये ढगके रूप देखनेमें आते हैं, जो ध्वनिसंबंधी

दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। इसके कतिपय उदाहरण ये हैं :—√दुह् : दोह् + सि = धोक्षि, दोह् + ति = दोग्धि, √लिह् : लेह् + ति = लेढि, √शास् शास् + धि = शाढि।

इस गणमे कतिपय धातु ऐसे भी है, जो मूलत. अविकरण धातु नहीं थे, यथा √त्रा [रक्षा करना], √शास् [शासन करना], √वस् [वस्त्र धारण करना]। ये धातु स्वर प्रक्रियाकी दृष्टिसे अपवाद रूप [इर्रेग्यूलर] है। कई द्वित्व रूपवाले धातु भी इस गणमें संगृहीत हो गये है, जैसे √घस् [खाना] [घस्ति, घसति, घस्त] [जो वस्तुत. एक विकृत [defective] धातु है], √जक्ष् [निगलना, खाना [जक्षिति, जक्षित, जग्ध] [यह भी विकृत धातु है]। इस गणमे कतिपय धातु ऐसे है, जिनमें धातुके साथ 'इ' अन्त प्रत्यय या विकरणका प्रयोग पाया जाता है, जैसे √रुद् [रोदिति], √स्वप् [स्वपिति], √अन् [साँस लेना] [अनिति], √श्वस् [श्वसिति] √जक्ष् [जक्षिति]। कुछ ऐसे भी धातु है, जिनमें वैदिक रूप 'इ' अन्त प्रत्ययवाले मिलते है, किंतु लौकिक रूपोमे 'इ' का प्रयोग नहीं मिलता। वमिति [लौ० स० वमति], जनिष्व [लौ० स० जनस्व], वशिष्व, स्तनिहि, स्तथिहि, महाभारतमें शोचिमि रूप मिलता है। 'इ' के अतिरिक्त इस गणमें 'ई' विकरण भी पाया जाता है, जो केवल √ब्रू धातुमे पाया जाता है, पर यहाँ भी यह केवल सबल रूपोंमे ही होता है, दुर्बल रूपोमे इसका 'ब्रव्–' रूप ही मिलता है, यथा ब्रवीति, अब्रवीत् [सबल रूप], अब्रवम्, ब्रुवन्ति [दुर्बल रूप]। इस धातुके समानान्तर अवेस्ता धातु √म्रव् के रूपोमे यह 'ई' अन्तःप्रत्यय नहीं पाया जाता, अवेस्ता म्रओइते [mraoite] [वह बोलता है], म्रओत् [mraot] [वह बोले] [आज्ञा रूप]। वैसे इस अन्तःप्रत्ययके चिह्न अन्य यूरोपीय भाषाओमे मिलते हैं :—लै० अउदीरे [audīre] प्रा० स्लावोनिक सुपितु [supitu] [वह सोता है], म्लुवितु [mluvitu] [बड़बड़ाता है]। ह्रस्व 'इ' अत.प्रत्ययकी भाँति यह प्रत्यय भी लौकिक

संस्कृतमें प्रायः लुप्त हो गया है—केवल √ब्रू धातुमें ही इसका प्रयोग पाया जाता है। वैदिक संस्कृतमें कुछ छुटपुट निदर्शन देखे जा सकते हैं:—अमीति [√अम् 'हानि पहुँचाना'], तवीति [√तू 'बलवान् होना'] शमीष्व [√शम् 'परिश्रम करना']।

अदादि गणके रूपोंके लिए निम्न निदर्शन देना पर्याप्त होगा:—धातु √द्विष् [द्वेष करना]।

कर्तृवाच्य, परस्मैपदी वर्तमाने लट्

प्र० पु० द्वेष्टि, द्विष्टः, द्विषन्ति; म० पु० द्वेक्षि, द्विष्ठः, द्विष्ठ; उ० पु० द्वेष्मि, द्विष्वः, द्विष्मः।

आत्मनेपदी, वर्तमाने लट्:—प्र० पु० द्विष्टे, द्विषाते, द्विषते; म० पु० द्विक्षे, द्विषाथे, द्विड्ढ्वे; उ० पु० द्विषे, द्विष्वहे, द्विष्महे।

परस्मैपदी, अनद्यतनभूते लङ्:—प्र० पु० अद्वेट्, अद्विष्टाम्, अद्विषन्, म० पु० अद्वेट्, अद्विष्टम्, अद्विष्ट; उ० पु० अद्वेषम्, अद्विष्व, अद्विष्म।

आत्मनेपदी, अनद्यतनभूतेलङ्:—प्र० पु० अद्विष्ट, अद्विषाताम्, अद्विषत; म० पु० अद्विष्ठाः, अद्विषाथाम्, अद्विड्ढ्वम्; उ० पु० अद्विषि, अद्विष्वहि, अद्विष्महि।

जुहोत्यादिगणः—इस गणमें लगभग ५० धातु पाये जाते हैं, जिनमेंसे लौकिक संस्कृतमें केवल १६ ही धातु इस गणके रूपोंका निर्वाह करते देखे जाते हैं। इस गणकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ धातुका द्वित्व हो जाता है। ग्रीक भाषामें भी ऐसे द्वित्व रूपवाले धातु पाये जाते हैं:—ग्रीक, पि [म्] प्लेमि, [मैं पूर्ण करता हूँ, मैं भरता हूँ], [सं० पिपर्मि], ग्रीक, पि [म्] प्लमेन् [हम भरते हैं] [सं० पिपृमः], ग्रीक एइस्पिफनइ [धारण करना, परिचय देना] [सं० बिभर्मि, बिभृमः], ग्रीक दिदोमि. [मैं देता हूँ] [सं० ददामि], ग्रीक तिथेमि [धारण करता हूँ] [सं० दधामि], ग्रीक हिस्तेमि [ठहरता हूँ] [सं० तिष्ठामि] [संस्कृतमें √स्था धातु भ्वादि-गणी है]। अन्य भा० यूरोपीय भाषाओंमें ये रूप प्रायः लुप्त हो गये हैं।

धातुके द्वित्वरूपमे, जिन धातुओमे मूलतः इ या उ स्वर ध्वनि पाई जाती है, ठीक वही ध्वनि रहती है, चिकेति [√कि], जिहेति [√ह्री], विवेष्टि [√विश्], बिभेति [√भी], युयोक्ति [√युज्]। अन्य धातुओमे द्वित्वरूपकी प्रथम स्वर ध्वनि या तो इ या अ पाई जाती है:— [१] जिघ्रति [√घ्रा], पिपर्ति [√पृ], बिभर्ति [√भृ], जिगाति [√गा जाना], मिमाति [√मा बैलकी तरह शब्द करना], शिशाति [√शा शस्त्रको तेज करना] सिषक्ति [√सक्] [२] ददाति [√दा], दधाति [√धा], जहाति [√हा], बभस्ति [√भस् खाना], ववर्ति [√वृ], ससस्ति [√सस् सोना]।

इस गणके धातु रूपोमे उदात्त स्वरका कोई निश्चित स्थान नहीं है। यह कभी तो धातुके सबल रूपोंमे धात्वशपर पाया जाता है, जुहोति, जो धातुके गुणवाले अपश्रुति जनित रूपमे पाया जाता है, अथवा यह कुछ धातुओमे द्वित्वरूपपर भी पाया जाता है, जहाँ यह सदा प्रथमाक्षरपर होता है, दधाति। वैदिक सस्कृतमे प्रायः उदात्त स्वर इनके प्रथमाक्षर पर ही पाया जाता है, जब कि परवर्ती सस्कृतमे यह वास्तविक धात्वशपर पाया जाता है,— बिभर्ति [वैदिक रूप], बिभर्ति [लौकिक रूप]। ग्रीकमे उदात्त स्वर द्वित्वरूप या प्रथमाक्षरपर ही होता है, दिदोमि [dıdomı]। विद्वानोने यह अनुमान किया है कि मूलत. इस गणके धातुओंमे कर्तृवाच्य [परस्मैपदी] रूपोके तीनो पुरुषोंके ए० व० मे उदात्त स्वर धात्वशपर ही पाया जाता था, तथा इसके ब० व० रूपोमें धातुके दुर्बल रूप होनेके कारण यह उदात्त स्वर द्वित्व अशवाले प्रथमाक्षरपर रहता था: ददति, सश्चति।[1]

धातुके द्वित्व रूपोंमे, उन धातुओंमे जहाँ य् या व् ध्वनि पाई जाती है, इनका सम्प्रसारण हो जाता है:—√व्यच् [विविक्त.], √ह्वर्

१ T Burrow Sanskrit Language P 322

[जुहूर्थाः], तथा √सच् [सश्चति] और √भस् [बप्सति] धातुमे एक अक्षरका लोप हो जाता है। 'आ' स्वरध्वनिवाले धातुओके रूप अनेक तरहसे चलते है। इनमे साधारण कोटिके धातु √दा तथा √धा है, जिनके दुर्बलरूपमे स्वरध्वनि लुप्त हो जाती है :—दद्वः, दद्मः, दध्वः, दध्मः। अन्य प्रकारके आ स्वरध्वनिवाले धातुओमे धातु तथा तिङ् चिह्नके बीच इ या ई जोड़ दिया जाता है। जहिमः, जहिहि [√हा]; शिशीहि [√शा], मिमीते [√मा], ररीथाः [√रा 'देना']।

इस गणके रूपोका सकेत √धा [धारण करना] धातुके निम्न रूपोसे किया जा सकता है।

परस्मैपदी कर्तृवाच्य वर्तमाने लट् :—प्र० पु० दधाति, धत्तः, दधति, म० पु० दधासि, धत्थः, धत्थ; उ० पु० दधामि, दध्वः, दध्मः।

आत्मनेपदी, वर्तमाने लट् :—प्र० पु० धत्ते, दधाते, दधते; म० पु० धत्से, दधाथे, धद्ध्वे; उ० पु० दधे, दध्वहे, दध्महे।

परस्मैपदी कर्तृवाच्य, अनद्यतनभूते लङ् :—प्र० पु० अदधात्, अधत्ताम्, अदधुः, म० पु० अदधाः, अधत्तम्, अधत्त; उ० पु० अदधाम्, अदध्व, अदध्म।

आत्मनेपदी, अनद्यतनभूते लङ् :— प्र० पु० अधत्त, अदधाताम्, अदधत, म० पु० अधत्थाः, अदधाथाम्, अधध्वम्; उ० पु० अदधि, अदध्वहि, अदध्महि।

दिवादिगण :—सस्कृतमे चतुर्थ या दिवादि गणके धातुओकी संख्या लगभग १३० है। इस गणके धातुओमे य विकरणका प्रयोग पाया जाता है। यह य विकरण नामधातुओमे भी प्रयुक्त होता है। कर्मवाच्य रूपोमे भी य विकरणका प्रयोग पाया जाता है, किंतु दिवादिगणके आत्मनेपदी रूपो तथा कर्मवाच्य क्रिया रूपोमे यह वैषम्य है कि यहॉ उदात्त स्वर धात्वश पर पाया जाता है, जब कि कर्मवाच्य रूपोमे उदात्त स्वर विकरण पर पाया

जाता है, यथा तप्यते [आत्मनेपदी, दिवादिगण], पठ्यते [भ्वादिगणी √पठ् धातुका कर्मवाच्य रूप]। दिवादिगणी धातुओंके रूपोंका निदर्शन यह है :—कुप्यति, नृत्यति, दीव्यति, तुष्यति, क्रुध्यति, युध्यति, विध्यति [√व्यध्], हृष्यति, पश्यति, नह्यति, तप्यते।

'य' विकरणवाले धातुरूपोंके समानान्तर रूप हित्ताइत तथा ग्रीकमें भी पाये जाते हैं:—हित्ताइत वेमिएज्जि [wemiezzi] [ढूँढता है] [सम्भवतः स० विन्दति], ज़हिएज़्जि [zahhiezzi] [युद्ध करता है] [स० युध्यति], ग्रीक मइनतइ [पागल होता है] [सं० मन्यते 'मानता है']। लैटिन में 'य' विकरणवाले थिमेटिक रूपोंके स्थानपर 'इ' वाले अथिमेटिक रूप पाये जाते हैं·—कुपिओ, कुपित् [मै कुपित होता हूँ, वह कुपित होता है], [स० कुप्यति]

इस गणके कतिपय धातुओंमें धातुके मूलस्वरकी वृद्धि पाई जाती है:—माद्यति, [√मद्] श्राम्यति [√श्रम्]। कुछ ऐसे भी आ ध्वनिवाले धातु है, जिन्हे वैयाकरणोंने गलतीसे भ्वादिगणी मान लिया है, जैसे गायति [√गा], ग्लायति [√ग्ला], त्रायति [√त्रा], ध्यायति [√ध्या]। भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे ये धातु वस्तुतः दिवादिगणके ही माने जाने चाहिये, जहाँ य विकरण पाया जाता है,[1] किन्तु सस्कृत वैयाकरणोंने इनमें आ स्वर-ध्वनि न मानकर ऐ स्वरध्वनि मानी है तथा इनके धातु रूप क्रमश' √गै, √ग्लै, √त्रै, √ध्यै माने हैं।[2]

---

१ T Burrow Sanskrit Language p 330

२. देखिये.—ग्लै-म्लै हर्षक्षये। ग्लायति [सिद्धांतकौमुदी उत्तरार्ध ७.२.७३ पृ० १८२], गै शब्दे। गेयात् [दे० वही पृ० १८४], ध्यै चिन्तायाम् [वही पृ० १८३], त्रैङ् पालने त्रायते [वही पृ० १९७]। सिद्धांतकौमुदीमें ये सभी धातु भ्वादिगणके ही प्रकरणमें निर्दिष्ट हुए हैं।

इस गणमे कतिपय आ ध्वनि वाले धातु ऐसे भी है, जिनमे उदात्त स्वर विकरणाशपर पाया जाता है, तथा धात्वशकी स्वर ध्वनिका लोप हो जाता है। द्यति [√दा], [बाँधता है] छ्यति [√छा], [काटता है] स्यति [√सा], [बाँधता है] श्यति [√शा] [शस्त्र तेज करता है]। इस सबध मे भी यह सकेत कर देना आवश्यक होगा कि यहाँ भी वैयाकरणोने इन धातुओका मूलस्वर आ न मानकर ओ माना है:—√दो [अवखण्डने], छो [छेदने], √शो [तनूकरणे], √षो [√सो] [समापने]। वैसे सस्कृत वैयाकरणोने इन्हे दिवादिगणमे ही माना है![1] इनके रूपोका उदाहरण निम्न है :—

प० वर्तमाने लट् :—प्र० पु० दीव्यति, दीव्यतः, दीव्यन्ति; म० पु० दीव्यसि, दीव्यथः, दीव्यथ, उ० पु० दीव्यामि, दीव्यावः, दीव्यामः। [√दिव्: 'जुआ खेलना']

आ० वर्तमाने लट् :—प्र० पु० दीप्यते, दीप्येते, दीप्यन्ते, म० पु० दीप्यसे, दीप्येथे, दीप्यध्वे, उ० पु० दीप्ये, दीप्यावहे, दीप्यामहे,। [√दीप्: चमकना]।

परस्मै० लङ् :—प्र० पु० अदीव्यत्, अदीव्यताम्, अदीव्यन्, म० पु० अदीव्यः, अदीव्यतम्, अदीव्यत, उ० पु० अदीव्यम्, अदीव्याव, अदीव्याम।

आ० लङ् :— प्र० पु० अदीप्यत, अदीप्येतां, अदीप्यन्त म० पु० अदीप्यथाः, अदीप्येथाम्, अदीप्यध्वम् उ० पु० अदीप्ये, अदीप्यावहि, अदीप्यावहि।

इसके पूर्व कि हम पचम गण [स्वादि गण] को ले, सुविधाकी दृष्टिसे हम षष्ठ तथा दशम गणोको पहले निबटा देना ठीक समझेगे, क्योकि ये गण भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे इतने जटिल नही हैं।

---

१. देखिये : सिद्धांतकौमुदी. दिवादिप्रकरण. सूत्र. ७.६.७१. पृ० २८१—८२.

षष्ठगण, तुदादिगण :—इस गणके धातुरूप प्रायः भ्वादिगणके धातु रूपोंकी तरह ही चलते है। सस्कृतमे इस गणके धातु बहुत हैं, जिनकी सख्या लगभग १५० हैं। इसके उदाहरण ये है :—रुजति, विशति, तुदति, किरति, सृजति, लिखति, सुवति, स्पृशति, मृषति, पृच्छति, दिशति। अन्य भारोपीय भाषाओंमे इस ढंगके धातु प्रायः नहीं पाये जाते। इस गणके कई धातुओंमे धात्वशमे अनुनासिक तत्त्वका प्रयोग पाया जाता है, जैसे सिञ्चति [√सिच्], मुञ्चति [√मुच्], विन्दति [√विद्], कृन्तति [√कृत्], लुम्पति [√लुप्], लिम्पति [√लिप्]। इस गणके कतिपय धातुओंमे 'च्छ' [*स्ख, *स्क] विकरण भी पाया जाता है, जिसका सकेत हम पहले दे चुके है—इच्छति [√इष्], उच्छति [√वश् 'चमकना'], ऋच्छति [√ऋ 'जाना']। पृच्छति [√प्रश्] मे यह विकरण धातुका ही अग बन गया है, जो लिट्के रूप पप्रच्छ से स्पष्ट है, तथा इस तरह सस्कृत वैयाकरणोंने इस धातुका मूल रूप ही √प्रच्छ् मान लिया है, यद्यपि भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे यह √प्रश् है, जो सस्कृतके इसी धातुसे बने अन्य रूप 'प्रश्न' से स्पष्ट है। इस बातका पुनः सकेत करना अनावश्यक न होगा कि भ्वादिगणी धातुके रूपोसे इसमे यह अतर है कि वहाँ उदात्तस्वर धात्वश पर पाया जाता है, जब कि यहाँ [तुदादिगणी धातु रूपोमे] वह विकरणाशपर पाया जाता है। भवति, पठति, गच्छति [भ्वादिगणी रूप], लिखति, तुदति, दिशति [तुदादिगणीरूप]। इनके रूप प्रायः भ्वादिगणी जैसे ही होते हैं, अतः रूपोका सकेत करना अनावश्यक होगा।

दशम गण, चुरादिगण :—इस गणके धातुरूप भी भ्वादिगणी रूपोकी तरह ही पाये जाते है। इस गणका विकरण 'अय' है तथा उदात्त स्वर इस विकरणाशके प्रथमाक्षर पर पाया जाता है। संस्कृतमे यह 'अय'

विकरण णिजंत [causative] तथा नाम धातु [denominative] क्रिया रूपोंमे भी पाया जाता है।[1] वैदिक संस्कृतमें इस गणके मूल धातु रूपोको इन गौण क्रियारूपोंसे अलग रखनेका एक ढग पाया जाता है। मूल धातुरूपोंमें वहाॅ धातुके स्वरका गुण नहीं होता, जब कि नामधातु या णिजत वाले गौण क्रियारूपोंमे धातुके स्वरका गुणीभाव पाया जाता है, **चितयति, इषयति, तुरयति, द्युतयति रुचयति, पतयति, स्पृहयति, मृडयति, शुभयति।** चुरादिगणसे ही संबद्ध कुछ धातु ऐसे भी है, जिन्हे वैयाकरणोने भ्वादिगणी मान लिया है।

ह्वयति [√ह्व], श्वयति [√श्व], धयति [√ध], जिनमें वैयाकरणोने हमारे द्वारा कोष्ठकमें निर्दिष्टधातु न मानकर क्रमशः √ह्वे, [ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च] √श्वि [श्वि गतिवृद्ध्योः] √धे [धेट् पाने] धातुरूप माने है।

संस्कृतके णिजंत तथा नाम धातुओंके रूप भी इसी गणके अंतर्गत आते है :—**कामयते, चोरयति, छादयति, अवलोकयति, दूष्यति, भूषयति, ताडयति, गमयति, तर्पयति, तोषयति, शायचति, चूर्णयामि, वर्णयामि, विघ्नयामि,** आदि।

पाश्चात्य भाषाशास्त्रियोंने संस्कृत धातुओंको ग्रीक धातुओंकी तरह दो वर्गोंमें बाॅटा है :—१. थेमेटिक [thematic] वर्ग, वे गण जिनमें अ विकरण [जिसे ग्रीकमें थेमा [thema] कहते हैं] पाया जाता है। इस वर्गमें प्रथम गण [भ्वादि], चतुर्थ गण [दिवादि], षष्ठ गण [तुदादि] तथा दशम गण आते है। हम देख चुके है कि चतुर्थ तथा दशम गणमें भी अ पाया जाता है:—य् + अ = य [चतुर्थ गण का विकरण], अय् + अ = अय [दशम-

---

१. यह विकरण 'या' के रूपमें लैतिनमें भी णिजंत तथा नाम धातुओंके साथ पाया जाता है, इस धातु वर्ग को वहाँ Yod-class कहा जाता है। दे० King and Cockson p 149

गणका विकरण]। २. दूसरा वर्ग उन धातुओंका है, जिनमें यह अ विकरण [थेमा] नहीं पाया जाता। इन्हे ग्रीकमें 'अथेमेटिक' [athematic] कहा जाता है। इसके अंतर्गत द्वितीयगण, तृतीयगण, पञ्चमगण, सप्तमगण, अष्टमगण तथा नवमगण आते हैं। हमने यहाँ पाश्चात्य भाषाशास्त्रियोंके ढगपर इन दो वर्गोंमें इनका वर्णन न कर सुविधाकी दृष्टिसे द्वितीय [अदादि] तथा तृतीय [जुहोत्यादि] गणका विवेचन पहले ही कर दिया है। अब हमारे सामने चार गण बचे रहते हैं, जो ग्रीकके ढगपर 'अथेमेटिक' कहे जा सकते हैं। इनके विकरण क्रमशः ये हैं —'नु' [पंचमगण, स्वादि], 'न्' [सप्तमगण, रुधादि] 'उ' [अष्टमगण, तनादि], ना [नवमगण, क्र्यादि]। इन चारों गणोंके विकरण यद्यपि एक दूसरेसे भिन्न हैं, पर भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे परस्पर संबद्ध हैं। पञ्चम तथा अष्टमगण दोनोंमें 'उ' विकरण समान है, यद्यपि पञ्चममें उसके साथ 'न्' [नु = न् + उ] भी है। इसी तरह पञ्चम, सप्तम एव नवम तीनों गणोंमें यह समानता है कि इनमें सभीमे अनुनासिक तत्त्व 'न्' विकरणांशमें पाया जाता है :—नु [न् + उ], न्, ना [न + आ]। अतः इसके पहले कि प्रत्येक गणका विवेचन किया जाय, इन विकरणोंकी भाषाशास्त्रीय व्युत्पत्तिपर एकसाथ संकेत कर देना आवश्यक होगा।

पहले हम पञ्चम, सप्तम तथा नवम इन तीन गणके धातुओंके विकरणोंको ले ले। भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे इन तीनो गणोंमें एक समानता पाई जाती है, इन तीनोंमें ही विकरणमें अनुनासिक ध्वनि 'न्' होती है। पञ्चमगणका विकरण नु, सप्तमगणका न, तथा नवमगणका ना है। इन सभीको प्राचीन भा० यू० विकरण *ने [*ना] से विकसित माना जा सकता है। यह न् विकरण ग्रीक तथा लैतिनमें भी पाया जाता है, किन्तु वहाँ इसका संस्कृत जैसा बाहुल्य नहीं है। उदाहरणके लिए ग्रीक तिनो [ti-n-ō] [मैं चुनता हूँ, स० चिनोमि] को ले सकते हैं।[1] सबसे पहले

1 Atkinson Greek Language pp 86-7

सप्तमगण को लीजिये। इस गणके **युनक्ति, भुनक्ति** आदि रूपोमे जो अनुनासिक तत्त्व पाया जाता है, वह वस्तुतः एक **गौण** तत्त्व है; क्योकि इन्हींके **युयोज, युयुजे; बुभोज, बुभुजे** जैसे रूपोमे इसका सर्वथा अभाव है। किन्तु पञ्चमगणके रूपोमे, जैसे **शृणोति** मे, यह अनुनासिक तत्त्व वस्तुतः धात्वंशका अभिन्न अंग-सा बन गया है। यहॉ यह '**नु**' अक्षर है, जो सबल-रूप [वृद्धि, strong form] मे '**नो**' हो जाता है, तथा दुर्बलरूप [मूलरूप] मे केवल '**न्**' रह जाता है। किन्तु यहॉ भी लुङ् [Aorist] के रूपोमे यह अनुनासिक तत्त्व नहीं पाया जाता, जो [श्रुधि], **अश्रौषीत्** आदि रूपोमे स्पष्ट है। वस्तुतः इस प्रकारके धातुओमे, आरभमे, प्रा० भा० यू० मे न् विकरण नहीं पाया जाता था। उदाहरणके लिए संस्कृतके √ **स्तृ** धातुको लीजिये, इसका प्राचीनरूप ***स्तर्** [***स्तरव्**] रहा होगा। इसी रूपसे एक ओर गॉथिक [Gothic] भाषामे अनुनासिक विकरणविहीनरूप **स्त्रौज** [strauz] का विकास हुवा है, दूसरी ओर सस्कृतमे **स्तृणोमि, स्तृणुमः** [**स्तृण्मः**] जैसे रूपोका, जिन्हे क्रमशः प्रा० भा० यू० ***स्तृ-नव्—, *स्तृ-नु—** , ***स्तृ-न्**—से विकसित माना जायगा। इसके विषयमे यह कहा जा सकता है इस **नु** मे वस्तुतः **न्** तथा **उ** इन दो विकरणोका समावेश है। गॉथिकमे यह केवल **उ** रूपमे ही पाया जाता है। यही **न्** जो सस्कृतके पञ्चमगणमे **उ** से मिलकर **नु** बन गया है, नवमगणमे **आ** विकरणसे मिलकर **ना** हो गया है। यह **ना** दुर्बल रूपोमे, व्यञ्जनके पूर्व **नी** तथा स्वरके पूर्व **न** हो जाता है, यथा **गृभ्णामि, गृभ्णीमः, गृभ्णन्ति, क्रीणाति, क्रीणीतः, क्रीणन्ति**।

तात्त्विक दृष्टिसे अष्टमगणके धातुओमे भी अनुनासिक तत्त्व पाया जाता है, किन्तु यहॉ यह अनुनासिक तत्त्व विकरण न होकर धातुका ही अंश है। इस कोटिके अधिकतर धातुओमे यह '**न्**' धात्वंशमे पाया जाता है, जो √ **क्षन्**, √ **मन्**, √ **तन्** आदि धातुओमे स्पष्ट है। ये धातु लुङ् तथा उसके आधारपर बने लकार रूपोमे भी अनुनासिक तत्त्वको नहीं छोड़ते,

घनिष्ठाः, अमंस्त, अतन्। वस्तुतः संस्कृतके तनोति का तनो—प्रा० भा० यू० *तनव् से विकसित न होकर *तनू-नो से विकसित हुवा है। इससे यह स्पष्ट है कि मूलतः अष्टमगणके ये धातु पञ्चमगणके ही अग हैं। किन्तु, धीरे-धीरे सादृश्यके आधारपर कृणोमि जैसे रूपोके वैकल्पिकरूप करोमि के रूपमे पाये जाने लगे, और उन्हे तनोमि के समान मानकर इस अष्टमगणमे रख दिया गया।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह 'नू' ही वास्तविक विकरण था, या यह *ने / *नो का दुर्बलरूप [weak form] था। इस सबधमे रुधादि गण [सप्तमगण] के रूपोंपर थोड़ा दृष्टिपात कीजिये। उदाहरणके लिए रुणद्धि तथा मुञ्चति [जो वस्तुतः षष्ठगण—तुदादिगणका धातु है] इन दो रूपोंको लीजिये। आरभमे ये दोनो रूप कुछ भिन्न प्रतीत होंगे, किन्तु इनके बहुवचन [प्र० पु० ब० व०] रूप रुन्धन्ति तथा मुञ्चन्ति इस बातको स्पष्ट करते हैं, कि रुणद्धि वस्तुतः न विकरणयुक्त रूप है, जब कि मुञ्चति, न् [ञ्] विकरणयुक्त है। अर्थात् एकका अनुनासिक विकरण 'न' [ण] है, दूसरे का केवल न् [ञ्]। इस सबधमे एक और महत्त्वपूर्ण बात ध्यान देनेकी यह भी है कि 'अ' विकरणका प्रयोग मुञ्चति वाले रूपमे अधिक पाया जाता है। यही कारण है कि यहाँ उदात्त स्वर इस अ विकरणपर पाया जाता है, मुञ्चति, किन्तु रुणद्धि मे उदात्त स्वर 'न' [ण] पर पाया जाता है। और अधिक स्पष्टीकरणके लिए हम यह कह सकते है कि यदि रुध् का वर्तमान प्र० पु० ए० व० रूप अ विकरणसे युक्त पाया जाता अर्थात् यदि यह षष्ठगणका धातु होता, तो *रुन्धति रूप बनता, इसी प्रकार यदि √मुच् का यही रूप अ विकरण विहीन पाया जाता अर्थात् यदि यह सप्तमगणका धातु होता, तो *मुनक्ति रूप बननेकी सभावना थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रुधादि धातुओंके रूप वस्तुतः मुचादि धातुओंके

ही 'अ'-विकरणहीन रूप है, तथा यहाँ वास्तविक अनुनासिक तत्त्व **'न'** [*ने/*न] ही है, केवल 'न्' नहीं।

पंचमगण, स्वादिगणः—संस्कृतमें इस गणके लगभग **५०** धातु पाये जाते है। जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं, इस गणका विकरण **'नु'** [न्+उ] है। इस **'नु'** का सबल रूपमें 'नो' हो जाता है। ग्रीकमें इसका **'नु'** [नू] रूप पाया जाता है:—सं० **ऋणोमि,** ग्रीक **ओर्नूमि** [ornūmi], स० **स्तृणोमि,** ग्रीक **स्तोर्नूमि** [stornūmi], स० **क्षिणोमि,** ग्रीक **फ्थिनो** [phthino], **मिनोमि,** लैतिन **मिनुओ** स० **धूनोमि,** ग्रीक **थूनो** [thūnō] संस्कृतसे इस गणके धातुओंके अन्य उदाहरण ये हैः—**चिनोति, हिनोति, वृणोति, धृष्णोति, अश्नोति, आप्नोति, राध्नोति।** इनमें से कई धातु ऐसे भी है, जिनमें **'नु'** के स्थानपर **'ना'** [नवमगणके विकरण] का वैकल्पिक प्रयोग पाया जाता हैः—**वृणोति-वृणाति, स्तृणोति-स्तृणाति, क्षिणोति-क्षिणाति।**

अन्य भा० यू० भाषाओंमें इन धातुओंमे से कई के समानान्तर रूपोंमें 'नु' के स्थानपर केवल **'उ'** विकरण पाया जाता है। इसमें **स्तृणोति** के समानान्तर गॉथिक रूप **'स्त्रौज'** का संकेत हम कर चुके हैं, अन्य रूप ये हैंः—स० **ऋणोति** [वैकल्पिक ग्रीकरूप **'ओराउओ** [orouo]], **धृष्णोति** [ग्रीक **थ्रासुस्** thrasus]। स्वयं संस्कृतमें ही इनसे व्युत्पन्न कई नाम शब्दोंमें यह **'न्'** वाला विकरणांश नहीं पाया जाताः—**वृणोति—वस्त्र, जिनोति—जीव, साध्नोति—साधु।** एक धातुमें यह **'उ'** विकरणांश स्वयं धातुका ही अंग बन गया है, जो √श्रु धातुमें पाया जाता है। भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे यहाँ √श्ऋ [शर्—] धातु माना जाना चाहिये, जो इसके वर्तमानकालके रूपसे स्पष्ट हैः—**'श्ऋ-णो-ति'** [√श्ऋ—विकरण न्+उ—[तिङ् प्रत्यय] [प्रा० भा० यू० ***क्लऌ-न्-एउ-ति** [kl̥-n-eu-ti]। इस वर्गके कुछ धातु

ऐसे भी है, जिनमे साथ ही साथ 'अ' विकरण भी पाया जाता है:—
'पिन्वति' [दि० पिनुते, अवे० पिनओइति], इन्वति [वै क० रू० इनोति],
हिन्वति [वैक० रू० हिनोति], जिन्वति [-जिनोति]।

रूपः—धातु √सु [उभयपदी] 'निचोडना, नहाना, मथना'।

वर्तमान, परस्मैपदी.—प्र० पु० सुनोति, सुनुत., सुन्वन्ति., म० पु० सुनोषि, सुनुथ , सुनुथ, उ० पु० सुनोमि, सुनुव -सुन्व , सुनुम -सुन्मः।
वर्तमान, आत्मनेपदीः—प्र० पु० सुनुते, सुन्वाते, सुन्वते, म० पु० सुनुषे, सुन्वाथे, सुनुध्वे, उ० पु० सुन्वे, सुनुवहे-सुन्वहे, सुनुमहे-सुन्महे।
लङ्, परस्मैपदीः—प्र० पु० असुनोत्, असुनुताम्, असुन्वन्; म० पु० असुनोः, असुनुतम्, असुनुत, उ० पु० असुनवम्, असुनुव-असुन्व, असुनुम-असुन्म।

लङ्, आत्मनेपदीः—प्र० पु० असुनुत, असुन्वाताम्, असुन्वत, म० पु० असुनुथा, असुन्वाथाम्, असुनुध्वम्, उ० पु० असुन्वि, असुनुवहि-असुन्वहि, असुनुमहि-असुन्महि।

सप्तमगण, रुधादिगण :—इस गणके लगभग ३० धातु है। इस गणका विकरण अनुनासिक तत्त्व [न्] है। अन्य प्रा० भा० यू० भाषाओमे इस गणके धातुओमे अ विकरण जोड दिया गया है, तथा वे 'अथेमेटिक' [athematic] वर्गके धातु नहीं रहे है। यह प्रवृत्ति कतिपय धातुओमे सस्कृतमे भी पाई जाती है, स० विन्दति, जब कि अवेस्तामे इसका समानान्तर रूप 'विनस्ति' है। यद्यपि इस गणको पचम तथा नवम गणसे सर्वथा भिन्न माना गया है, किंतु मूलत. यह गण उन्हींका एक अग है। इनमे भेद केवल इतना है कि यहाँ 'न्' विकरण धातुमे घुल मिल-सा गया है। इसीलिये प्रो० टी० वरो ने इन तीनोका विश्लेषण एक सा माना है :—पचमगण :—कृ-न्-एव्-ति [kl̥-n-nw-ti] [स० श्रृणोति],

नवम गण—*प्ल-नू-ए?-ति[1] [pl̥-n-e'H-ti] [सं० पृणाति], सप्तम गण *-यु-नू-एग्-ति [yu-n-e'g-ti] [सं० युनक्ति]।[2] प्रो० बरोने बताया है कि ये धातु मूलतः व्यञ्जनान्त न होकर स्वरात थे। इसकी पुष्टि इस तथ्यसे होती है कि संस्कृतमें ही यातो इनके वैकल्पिक स्वरात रूप पाये जाते है, या इनसे व्युत्पन्न रूपोमे अंतिम व्यञ्जन ध्वनि नहीं पाई जाती है :—स० √युज्, के साथ ही स० √यु [यौक्ति] भी उसी अर्थमे प्रयुक्त होता है। √छिद् से वैक० रूप 'छ्यति' [काटता है] पाया जाता है, तथा इसका 'क्त' प्रत्ययांत रूप 'छित' [*छित्त नहीं, वैसे इसका वैक० रूप 'छिन्न' भी है, जो *छित्त का स्थानापन्न] है।

इस वर्गके धातुओंके कतिपय रूप ये है :—छिनद्मि [√छिद्] [लै० स्किन्दो], भिनद्मि [√भिद्] [लै० फिन्दो]; पिनष्टि [√पिष्] [लै० पिंसो], शिनस्ति [√शिष्], भुनक्ति [√भुज्], रुणद्धि-रुन्धन्ति [√रुध्], वृणक्ति-वृञ्जन्ति [√वृज्]।

रूप :—√भुज् [परस्मैपदी 'पालन करना', आत्मनेपदी 'खाना']।

वर्तमानः परस्मैपदी :— प्र० पु० भुनक्ति, भुङ्क्तः, भुञ्जन्ति, म० पु० भुनक्षि, भुङ्क्थः, भुङ्क्थ, उ० पु० भुनज्मि, भुञ्ज्वः, भुञ्ज्मः।

वर्तमान आत्मनेपदी :—प्र० पु० भुङ्क्ते, भुञ्जाते, भुञ्जते, म० पु० भुङ्क्षे, भुञ्जाथे, भुङ्ग्ध्वे, उ० पु० भुञ्जे, भुञ्ज्वहे, भुञ्ज्महे।

लङ्-परस्मैपदी :—प्र० पु० अभुनक्, अभुङ्क्ताम्, अभुञ्जन्, म० पु० अभुनक् अभुङ्क्तम्, अभुङ्क्त, उ० पु० अभुनजम्, अभुञ्ज्व, अभुञ्ज्म।

---

१. हमने ? चिह्नका प्रयोग Laryngeal Sound के लिए किया है, जिसे प्रो० बरोने H चिह्न के द्वारा व्यक्त किया है।

२ T Burrow . Sanskrit Language P. 327.

लङ् आत्मनेपदी—प्र० पु० अभुङ्क्त, अभुञ्जाताम्, अभुञ्जत, म० पु० अभुङ्क्थाः, अभुञ्जाथाम्, अभुङ्ग्ध्वम्, उ० पु० अभुञ्जि, अभुञ्ज्वहि, अभुञ्ज्महि।

अष्टमगण, तनादि गण :—इस गणका विकरण नो-नु के स्थानपर ओ-उ पाया जाता है। इस गणके कई धातुओंमें धात्वंशमें 'न्' पाया जाता है, यथा √तन् धातुमें जिसका 'तनोति' रूप बनता है। इसी तरह अन्य धातुओंके उदाहरण ये हैं :—सनोति [√सन्], वनोति [√वन्], मनुते [√मन्], क्षणोति [√क्षन्]। इनके अतिरिक्त इस गणमें एक धातु ऐसा भी है, जिसमें धात्वंशमें 'न्' नहीं है, यथा—√कृ [करोति, कुरुते]। इससे हम यह अनुमान लगा सकते है कि यह 'न्' मूलतः धात्वंश न होकर विकरणांश ही था। इस तरह 'तनोति' का विकास *तन्-नेउ-ति [tn̥-neu-ti] से माना गया है, जहाँ प्रा० भा० यू० धात्वंश 'न्' [तन्] का संस्कृतमें 'अ' हो गया है। जहाँ तक '√'कृ' [करोति] धातुके रूपोंका प्रश्न है, वहाँ 'नो' नहीं पाया जाता, किंतु वेद तथा अवेस्ता दोनोंमें ही यहाँ भी 'नु'-'नो' विकरण देखा जाता है :—सं० कृणोति-कृणुते, अवे० कृअर्अनओइति [kərən-aoiti], प्राचीन फारसी, अकुनवम्। इससे यह अनुमान होता है कि 'करोति' जैसे संस्कृत रूप वस्तुतः 'कृणोति' के ही वैकल्पिक रूप है, जिन्हे हम प्राकृत रूप मान सकते हैं। किंतु मजेकी बात तो यह है कि प्राकृतमें वैदिक रूपोंसे विकसित 'कुणइ' रूप भी मिलते है, जब कि लौकिक संस्कृतमें 'कृणोति' जैसे 'नु-नो' विकरणवाले रूप सर्वथा लुप्त हो गये है।

रूप :—√'कृ' 'करना' [उभयपदी]।

लट्, परस्मैपदी '—प्र० पु० करोति, कुरुतः, कुर्वन्ति, म० पु० करोषि, कुरुथः, कुरुथ, उ० पु० करोमि, कुर्वः, कुर्मः।

लट्, आत्मनेपदी :—प्र० पु० कुरुते, कुर्वाते, कुर्वते, म० पु० कुरुषे, कुर्वाथे, कुरुध्वे, उ० पु० कुर्वे, कुर्वहे, कुर्महे।

लङ्, परस्मैपदी :—प्र० पु० अकरोत्, अकुरुताम्, अकुर्वन्, म० पु० अकरोः, अकुरुतम्, अकुरुत, उ० पु० अकरवम्, अकुर्व, अकुर्म।

लङ्, आत्मनेपदी :—प्र० पु० अकुरुत, अकुर्वाताम्, अकुर्वत, म० पु० अकुरुथाः, अकुर्वाथाम्, अकुरुध्वम्, उ० पु० अकुर्वि, अकुर्वहि, अकुर्महि।

नवमगण क्र्यादिगणः—इस गणका विकरण '**ना**' है। इस गणमें लगभग ५० धातु पाये जाते हैं। इनके उदाहरण ये हैः—**क्रीणाति** [√क्री] [आयरिश '**क्रेनइद**' [crenaid], **लिनाति** [√ली श्लेषणे], [आयरिश '**लेनइद**' [lenaid] [चिपकता है], **शृणाति** [√शृ] 'नाश करना' [आयरिश **अर्-श्रिनत्** [ar-chrinat] [वि नष्ट होते हैं]], **अश्नामि** [√अश्], **जानामि** [√ज्ञा], **पुनामि** [√पू], **लुनामि** [√लू], **प्रीणामि** [√प्री], **वृणामि** [√वृ], **बध्नामि** [√बन्ध्], **मथ्नामि** [√मन्थ्], **स्तभ्नामि** [√स्तम्भ्]।

इस विकरणमें मूलतः दो विकरण हैंः—**ना = न् + आ** [प्रा० भा० यू० न् + अ ? [n+aH-]]। सस्कृतमें '**आ**' विकरण [अन्तः प्रत्यय] कई रूपो में पाया जाता है; जो –'आय' वाले रूपोमें पाये जाते हैंः—**गृभायति**, **मथायति**, **स्कभायति**। ये वस्तुतः **गृभ्णाति**, **मथ्नाति**, **स्कभ्नाति** के वैकल्पिक रूप हैं, तथा चुरादिगणके रूप है। यह '**–आ**' विकरण कतिपय स्थानोपर धातुका ही अग बन गया है, जैसे √**ज्या** [**जिनाति**], √**प्रा** [**पृणाति**] में।

इस गणके उन धातुओमें जिनमे ह्रस्व 'इ, उ, ऋ' स्वर पाये जाते है, दुर्बल प्रत्ययो के साथमे दीर्घ ई, ऊ, ॠ हो जाते है।[१] यथा—**पुनाति-पूत**, **पृणाति-पूर्ण**। तिङ् रूपोमें भी इन धातुओमें कई का मूल स्वर दीर्घ हो जाता है। इस तरह इन्हे दो वर्गोंमें बॉटा जा सकता हैः—[१]–**ना** के पूर्व ह्रस्व इ-उ स्वरवाले धातु, **जिनाति**, **पुनाति**, **लुनाति** आदि, [२]–**ना** के

---

१ T. Burrow: Sanskrit Language p 325

पूर्व धातुके मूल स्वरको दीर्घ करनेवाले, प्रीणाति, श्रीणाति, आदि। इनमे द्वितीय वर्गमे केवल 'इ' कारात धातु ही पाये जाते है। कईमे दोनों तरहके रूप पाये जाते हैः—ब्लिनाति–ब्लीनाति [√ब्ली] 'दबाता है'। हम बता चुके हैं कि –ना– विकरण दुर्बल तिङ्रूपोंमे –'नी'– तथा स्वर वाली तिङ विभक्तिके पूर्व –'न'– हो जाता है। यह विशेषता केवल सस्कृतमे ही पाई जाती है, अन्य किसी भा० यू० भाषामे नहीं।

रूप.—√क्री 'खरीदना' [उभयपदी]

लट्, परस्मैपदी.—प्र० पु० क्रीणाति, क्रीणीत., क्रीणन्ति, म० पु० क्रीणासि, क्रीणीथ, क्रीणीथ, उ० पु० क्रीणामि, क्रीणीवः, क्रीणीमः।

लट्, आत्मनेपदीः—प्र० पु० क्रीणीते, क्रीणाते, क्रीणते, म० पु० क्रीणीषे, क्रीणाथे, क्रीणीध्वे, उ० पु० क्रीणे, क्रीणीवहे, क्रीणीमहे।

लङ्, परस्मैपदीः—प्र० पु० अक्रीणात्, अक्रीणीताम्, अक्रीणन्, म० पु० अक्रीणाः, अक्रीणीतम्, अक्रीणीत; उ० पु० अक्रीणाम्, अक्रीणीव, अक्रीणीव।

लङ्, आत्मनेपदीः—प्र० पु० अक्रीणीत, अक्रीणाताम्, अक्रीणत, म० पु० अक्रीणीथा., अक्रीणाथाम्, अक्रीणीध्वम्, उ० पु० अक्रीणि, अक्रीणीवहि, अक्रीणीमहि।

अब हम उन विकरणोकी ओर आते है, जो किन्हीं विशेष लकारोंमे प्रयुक्त होते हैं। जिस प्रकार न् विकरणके कई रूप हम अभी-अभी देख चुके हैं, उसी प्रकार सस्कृत धातुओके लुङ् रूपोंमे स् विकरणके कई रूप पाये जाते हैं। इस विकरणके चार रूप पाये जाते हैः—[१] स्, [२] इष्, [३] सिष्, [४] स। वैसे लुङ् लकारके कई रूपोमे [५] विकरणहीन रूप, तथा [६] द्वित्ववाले रूप भी मिलते हैं।

इसके पूर्व कि हम लुङ्के रूपोंपर भाषावैज्ञानिक सकेत करें, हमें इस बातकी ओर ध्यान दे लेना होगा कि तिङ् चिह्नोको भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे हम दो कोटियोमे विभक्त कर सकते है, मुख्य तथा गौण। प्रथम परिच्छेदमे हम

इन दोनों प्रकारके तिङ् चिह्नोंका जिक्र प्रा० भा० यू० क्रियाओंके संबंधमें कर चुके है। इस संबंधमे पहले यह समझ लिया जाय कि प्रमुख तथा गौण चिह्न दोनोका प्रयोग वर्तमान कालके रूपोमे पाया जाता है, जब कि लुङ् [अयोरिस्ट] के साथ केवल गौण तिङ् चिह्नोंका ही प्रयोग होता है। इस दृष्टिसे इन दोनोमे इसके अतिरिक्त कोई भेद नहीं माना जा सकता। वस्तुतः ये 'अ' विकरण वाले लुङ् रूप वे वर्तमान रूप ही है, जिनमे गौण चिह्न प्रयुक्त होते है। यही कारण है कि इस प्रकारके लुङ्रूप उन्हीं गणोमे पाये जाते है, जो '[य्] अ—' विकरणसे युक्त पाये जाते है। स् विकरणवाले लुङ् रूपोंका संबंध इसी प्रकार स् विकरणवाले वर्तमान रूप वाले धातुओंसे जोड़ा जाता है, किन्तु संस्कृतमे शुद्ध स् विकरणवाले धातु नहीं पाये जाते। यह स् वस्तुतः य से मिलकर स्य के रूपमे पाया जाता है, जो संस्कृतमें भविष्यत् के रूपोंमे प्रयुक्त होता है। संस्कृतमे यह स्य, वक्ष्यामि, तथा रेक्ष्यति मे स्पष्ट है। वस्तुतः आरंभिक स्थितिमें ये स्य वाले रूप भविष्यत्के अर्थमें प्रयुक्त न होकर [सन्नन्त] वर्तमानके अर्थमे प्रयुक्त होते थे। इन्हींसे स्य विकरणवाले लुङ्रूपोंका संबंध माना जाता है। आगे जाकर यह स्य भविष्यत्के अर्थमें प्रयुक्त होने लग गया। स् की मीमांसा हो जानेपर स की भी समस्या सुलझ जाती है, जो स् तथा अ विकरणके योगसे बना है। स विकरणवाले लुङ्रूपोंकी एक विशेषता है कि यह केवल नौ ही धातुओंमे पाया जाता है, तथा उन धातुओंके अन्तमे ज् , श् , स्, ह् ध्वनियाँ पाई जाती है। उदाहरणके लिए हम इन रूपोको ले सकते है:—

√मृज्-अमृक्षत् , √स्पृश्- अपृक्षत्, √रुह्-अरुक्षत्।

संस्कृतमे स्य वाले भविष्यत् रूपोंमे सेट् रूप भी पाये जाते है, जिन्हे हम करिष्यति, भविष्यति आदिमे पा सकते है। अर्थात् भविष्यत्के इन रूपोंमे 'इस्य' [इष्य] विकरण पाया जाता है। जिस प्रकार स् [लुङ् का विकरण] स्य से सम्बन्धित है, उसी प्रकार इष् [लुङ् का विकरण] *इस्य' [इष्य] से सम्बद्ध है, जो वस्तुतः स् का ही 'सेट्' रूप है। असलमे यह

अलगसे विकरण न होकर स् के ही अन्तर्गत है। इस सेट् लुङ् रूपका उदाहरण हम √'स्तर्' [-स्तृ]–**अस्तरिषम्** दे सकते हैं। संस्कृतमें **सिष्** विकरणवाले लुङ् रूप भी पाये जाते हैं, किन्तु ये रूप बहुत कम पाये जाते है। इसकी उत्पत्ति एक समस्या है। सभव है, यह विकरण **स्** तथा इष् दोनोके सम्मिश्रणसे बना हो। इसके रूप **अयासिषम्, अयासिष्टाम्** आदिमें देखे जा सकते हैं। इस सम्बन्धमें यह भी कह दिया जाय कि स् विकरणयुक्त लुङ् रूप ग्रीकमें भी पाये जाते हैं, तथा वहाँ कई धातुओंमें, लुङ्में, यह **स्** प्रयुक्त होता है। किन्तु जिन ग्रीक धातुओं के अन्तमें **र, ल** या **अनुनासिकध्वनि** होती है, वहाँ यह **स्** लुप्त हो जाता है। **स्** विकरण-वाले रूप ग्रीकमें दुर्बल लुङ् [weak Aorist] कहलाते हैं, यथा **ए-लु-स्-अ [ऍलुस]** [e-lu-s-a]।[1] दूसरे प्रकारके सबल "अयोरिस्टोमें" यह **स्** नहीं पाया जाता। यह उन धातुओंमें नहीं पाया जाता, जिनके वर्तमानमें किसी विकरणका प्रयोग पाया जाता है। जहाँ वर्तमानके रूपोमें कोई विकरण पाया जाता है, वहाँ लुङ् रूप सीधे मूल [धातु] रूपसे बनाये जाते हैं। वर्तमानके रूपोंसे भूतकालके द्योतनके लिए [अनद्यतनभूते] लङ् [imperfect] के रूप बनाये जाते हैं।[2] ठीक यही बात कई धातुओंमें सस्कृतमें पाई जाती है। उदाहरणके लिए √**गम्** धातुको लीजिये। इसके वर्तमानके रूपोंमें 'च्छ्' [*स्ख] विकरणका प्रयोग होता है, किन्तु लुङ्में इसके रूप सीधे **गम्** से ही बनते हैं, जब कि लङ्में वर्तमाने लट्के रूपोकी तरह ही स विकरणवाले रूप पाये जाते हैं। उदाहरणके लिए निम्न रूपों को लीजिये—

---

१ **इन्हें ग्रीकमें सिगमेटिक अयोरिस्ट** [Sigmatic Aorist] **भी कहते हैं।** दे० King and Cockson Comparative Grammar of Greek and Latin p 140

२ Atkinson Greek Language pp 90-91

√गम्-गच्छामि [लट्], अगच्छम् [लङ्], अगमम् [लुङ्]। इसी धातुके समानान्तर ग्रीक धातुके निम्न रूपोमे भी हम यही बात देख सकते है :—बास्को [boskō] [मै जाता हूँ], बा स्कोन् [boskon] [Imperfect] [मै गया, लङ् रूप], बो-ओन् [bo-on] [Aorist] [मै गया, लुङ् रूप]। इस प्रकार सबल 'अयोरिस्ट' [लुङ्] प्रायः वही तिङ् चिह्न प्रयोगमे लाते है, जो 'इम्परफेक्ट' [लङ्] मे होते है। इन दोनो का खास भेद यही है कि एकमे वर्तमानवाला विकरण प्रयुक्त नहीं होता, दूसरेमे वह प्रयुक्त होता है। उत्तम पुरुष एकवचनका 'लुङ्' [Aorist] का तिङ् चिह्न संस्कृतमे अम् है, ग्रीकमे 'ओन्' [on]।

लुङ् रूपोमे अब जो श्रेणी बची रही, वह द्वित्ववाली है, उदाहरणके लिए हम √जन् धातुके अजीजनत् रूपको ले सकते है। सर्वप्रथम, यह द्वित्व एक समस्या उत्पन्न कर देता है, क्योकि प्रायः लुङ् रूपोकी रचना धातुके मूल रूपके आधारपर ही बनती है, साथ ही जिन धातुओ [जुहोत्यादि गण] के वर्तमाने लट्वाले रूपोमे द्वित्व पाया जाता है, वहाँ लुङ्मे द्वित्वका अभाव है। वैसे पदरचनात्मक दृष्टिसे इनका सबध गौण तिङ् चिह्न युक्त वर्तमानके द्वित्व रूपोसे जोडा जा सकता है, या द्वित्ववाले [परोक्षभूते] लिट्के रूपोसे। फिर भी ये रूप एक समस्या ही बने रहते है। इनके समानान्तर रूप केवल अवेस्तामे ही देखे जाते है, यथा, ज़ीज़नत् [zizanat] [स० अजीजनत्]। सभवतः इस तरहके लुङ् रूप भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता है।

लुङ् के इन विभिन्न रूपोके दिङ्मात्र उदाहरण ये है :—

[अ] मूल धातुवाले लुङ् :—√दा-अदात्, अदाताम्, अदुः; √भू-अभूत्, अभूताम्, अभूवन् आदि रूप।

[आ] अ विकरणवाले लुङ् :—√सिच्-[परस्मैपदी] असिचत्,

असिचताम्, असिचन् , [आत्मनेपदी] √ असिचत, असिचेताम्, असिचन्त आदि रूप ।

[इ] द्वित्ववाले लुङ् रूप :—√ श्रि–अशिश्रियत् , अशिश्रियताम् , अशिश्रियन् , √ मील्–अमिमीलम् [उ० पु० ए० व०], √ द्रु–अदुद्रुवम्, √ जन्–√ अजीजनम्, √ मर्–अमीमरम्, √ दर्श–अदीदृशम्, √ विश्–अवीविशम्, √ युज्–अयूयुजम् ।

[ई]–स्–वाले लुङ् रूप :—√ रुध्–अरौत्सीत् , अरौत्ताम्, अरौत्सुः [परस्मैपदी], अरुत्त, अरुत्सताम्, अरुत्सत [आत्मनेपदी], √ नी–अनैषीत् , अनैष्टाम्, अनैषु [परस्मैपदी], अनेष्ट, अनेषाताम्, अनेषत [आत्मनेपदी]

[उ]-इष्–वाले लुङ् रूप :—√ बुध्–अबोधीत् , अबोधिष्टाम्, अबोधिषुः [परस्मैपदी], अबोधिष्ट, अबोधिषाताम्, अबोधिषत [आत्मनेपदी] ।

[ऊ] –सिष् वाले लुङ् रूप :—√ या–अयासीत् , अयासिष्टाम् , अयासिषुः, ।

[ए] –स-वाले लुङ् रूप :—√ दिश्–अदिक्षत् , अदिक्षताम्, अदिक्षन् [परस्मैपदी], अदिक्षत, अदिक्षाताम्, अदिक्षन्त [आत्मनेपदी] ।

[ऐ] –इ वाले कर्मवाच्य क्रियाओंके लुङ् रूप .—यह 'इ' विकरण केवल प्रथम पुरुषके ए० व० मे ही प्रयुक्त होता है, जो उपर्युक्त विकरणोसे सर्वथा भिन्न है । 'अज्ञायि' [√ ज्ञा से कर्मवाच्य रूप], अदर्शि [√ दृश् से कर्मवाच्य रूप] । इ, उ या ऋ स्वर ध्वनिवाले धातुओंमे इन लुङ् रूपोमे स्वरध्वनिका गुणीभाव पाया जाता है—अचेति [√ चित् से कर्मवाच्य], अबोधि [√ बुध्], असर्जि [√ सृज्]। अन्य स्थानोंपर वृद्धि रूप अधिक पाया जाता है—अगामि [√ गम्], अकारि [√ कृ], √ अस्तावि [√ स्तु], √ अश्रायि [√ श्रु], गुणरूप कम [अजनि–√ जन्, अवधि–√ वध्]। यह 'इ' ईरानी वर्ग मे पाया जाता है, यथा अवे०

स्गावि [सं० श्रावि]; पु० फारसी अदारिय् [सं० अधारि], किन्तु अन्यत्र नहीं पाया जाता।

दिवादिगणके संबधमे हम एक विकरणका उल्लेख कर आये है। यह विकरण 'य' है। वैसे यह विकरण हम **पश्यति** मे भी देख सकते है, जो संस्कृतमे दिवादिगणका धातु न होकर भ्वादिगणका धातु है। यह **पश्यति** सस्कृतमे √दृश् धातुका रूप माना जाता है, पर भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिसे इसका मूलरूप अलग धातु √*पश् रहा होगा। यह **य** विकरण, जो इस धातुके वर्तमान रूपोमे स्पष्ट है प्रा० भा० यू० से ही विकसित हुआ है, यह तथ्य अवेस्ता **स्पसयइति** [spasayeiti], तथा लैतिन **स्पेक्इओ** [specio] से स्पष्ट है। किन्तु सस्कृतके लुङ् रूपोमे यह **य** नहीं पाया जाता, इससे यह अनुमान होता है कि यह **य** वस्तुतः **अ** विकरणका ही विकसित रूप है। इसीलिए कई धातुओमे **अ** तथा **य** दोनो प्रकारके वर्तमान रूप पाये जाते है, यथा, **राधति, राध्यति; तृषति, तृष्यति।** आगे जाकर यह **य** सस्कृतके कर्मवाच्य [भाववाच्य] रूपोमे प्रयुक्त होने लग गया, **पठ्—पठ्यते, भुज्—भुज्यते,** √**दा—दीयते,** √**भू—भूयते।** यह **य**, [**अ + य**] के रूपमे णिजन्त रूपोमे भी पाया जाता है, यथा **पाठयति, भोजयति, दापयति, भावयति।**

अब तक हमने वर्तमाने लट् तथा लुङ्का विचार किया, क्योंकि ये ही धातुओके दो प्रकारों—सार्वधातुक तथा आर्धधातुक रूपोके निर्णायक है। एक कोटि सार्वधातुक रूपोकी भित्ति है, तो दूसरी आर्धधातुक रूपो की। ये रूप निर्देशात्मक है। अब हम हेतुहेतुमत्के रूपोको लेगे। इन रूपोमे, वेदमे, प्रायः अ विकरणका प्रयोग पाया जाता है। इस संबंधमे यह बात ध्यान देने की है कि हेतुहेतुमत् [conditional] के रूपोमे गौण तिङ् चिह्नोका प्रयोग होता है। उदाहरणके लिए **शृण्वद् वचांसि मे,** मे [शृणु + अ + त्] पाया जाता है। सैद्धान्तिक दृष्टिसे वर्तमाने लट् तथा लुङ् दोनोके समान हेतुहेतुमत् रूप संस्कृतमे पाये जाने चहिए थे, किन्तु ऐसे रूप

वेदमें बहुत कम पाये जाते हैं, इसका एक उदाहरण ऊपर दिया गया है। भविष्यत् [लृट्] से प्रभावित हेतुहेतुमत् वाला [लृङ् वाला] रूप वेदमें केवल एक बार ही प्रयुक्त हुआ है, जो 'करिष्यः' [लौ० सं० अकरिष्य., √कृ] है। लुङ्के आधारपर बनाये गये हेतुहेतुमत्रूप भी बहुत कम पाये जाते हैं, उदाहरणके लिए 'नेषत्' [√नी] को ले सकते है। लौकिक संस्कृतमें आकर हेतुहेतुमत्में केवल भविष्यत् [लृट्] से प्रभावित रूप ही पाये जाते हैं, जिनमें आरभमें भूतकाल [लङ् तथा लुङ्] की तरह अ का आगम तथा अन्तमें गौण तिङ् विभक्तियाँ पाई जाती है।

भविष्यत्के लिए संस्कृतमें दो लकार पाये जाते है :—लृट् तथा लुट्। लृट्में धातुके गुणीभूत रूपके साथ स्य या–इष्य जोड दिया जाता है, यथा दास्यति, [√दा] धोक्ष्यति, [√दुह्] पठिष्यति [√पठ्] गमिष्यति [√गम्]। लृट्के[1] तिङ् चिह्न ठीक वही होते है, जो वर्तमाने लट्में पाये जाते है। स्य तथा इष्य वाले रूपोंके समानान्तर रूप केवल अवेस्ता तथा लिथुआनियनमें पाये जाते हैं, जैसे :—अवेस्ता वख्स्या [vaxsˇya̅] [मैं कहूँगा] [स० वक्ष्यामि], लिथुआनियन दुओसिउ [du'osiu] [मैं दूँगा] [स० दास्यामि]। ग्रीकमें इसके –सो–या–से–वाले रूप मिलते है :—ग्रीक स्तेसो [ste̅-so̅] [स० तिष्ठामि], दो-सो [do̅-so̅] [संस्कृत दास्यामि] तनेसो [teneso̅] [स० तनिष्यामि]।[1] आरभिक संस्कृत भाषामें यह लकार अवेस्ताकी भाषाकी भाँति बहुत कम पाया जाता है, तथा भविष्यत् कालके बोधनके लिए वहाँ हेतुहेतुमत्का प्रयोग देखा जाता है, धीरे धीरे परवर्ती कालकी भाषामें इसका प्राचुर्य हो गया है।

इसके अतिरिक्त संस्कृतमें लुट्का प्रयोग भी भविष्यत्में पाया जाता है। इसका विकास संस्कृतके –तर् [–तृ] प्रत्ययवाले कर्तृबोधक प्रत्ययसे

---

१ King and Cockson Comparative Grammar of Greek and Latin p 141

हुआ है, जिनके साथ √असू धातुके रूपोका प्रयोग सहायक क्रियाके रूपमे पाया जाता है। प्रथम पुरुष ए० व०, द्वि० व० तथा ब० व० के रूप ठीक वही होते है, जो नाम शब्दके प्रथमा विभक्तिके रूप है :—कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः, दाता, दातारौ, दातारः, गन्ता, गन्तारौ, गन्तारः। शेष रूपोमे प्रथम पुरुप ए० व० के रूपके साथ सहायक क्रिया जोड दी जाती है :—म० पु० कर्तासि [कर्ता + असि], कर्ता-स्थः कर्ता स्थ, उ० पु० कर्तास्मि [कर्ता + अस्मि], कर्ता-स्वः, कर्ता-स्मः। इसके आत्मनेपदी रूपोमे प्र० पु० के रूप ठीक वही है, म० पु० तथा उ० पु० के रूप कुछ भिन्न है :—म० पु० कर्तासे, कर्तासाथे, कर्ताध्वे, उ० पु० कर्ताहे, कर्तास्वहे, कर्तास्महे। डॉ० चाटुर्ज्याने बताया है कि भविष्यत्के लिए प्रयुक्त ये यौगिक [भविष्यत्] रूप वस्तुतः सस्कृतपर प्राकृतका प्रभाव है। वैदिक संस्कृतमे ये रूप नहीं पाये जाते। यही नहीं, परवर्ती सस्कृतमे लिट् [या सम्पन्न भूतकाल] तथा हेतुहेतुमत् या संभाव्य भविष्यत्के रूप, जो क्रमशः आमंत्रमामास, आमंत्रयाञ्चकार, कारयामास, कारयाम्बभूव, कारयाञ्चकार तथा अभविष्यत्, अकरिष्यत् जैसे उदाहरणोमे पाये जाते है, यौगिक रूप है, इन्हे भी डॉ० चाटुर्ज्याने आदिम प्राकृतोका प्रभाव माना है।[1] यहाँ यह सकेत करदेना अनावश्यक न होगा कि इनमेसे वैदिक भाषामे केवल लिट् के यौगिक रूप मिलते है, जो सबसे पहले यजुर्वेदमे पाये जाते है।

विधिलिङ् [optative] का प्रयोग दो अर्थोमे पाया जाता है। प्रथम यह किसी ऐसी सभावनाके भावको घोषित करता है, जो निर्देशात्मक [Indicative] कोटिके द्वारा अभिव्यक्त तथ्य से विरुद्ध है, दूसरे यह किसी इच्छाकी अभिव्यजना करता है। इन दोनो प्रकारके उदाहरण ये है:—

[१] विश्वे च क्षत्राय च समदं कुर्याम्। [मै समाज तथा क्षत्रोमे परस्पर कलह कराऊँ।]

[२] दम्पती अश्नीयाताम्। [पति-पत्नी भोजन करे।]

---

१. डॉ० चाटुर्ज्या : भारतीय आर्यभापा और हिंदी पृ० ९६।

विधिलिङ्का विकरण य है, जो दुर्बल रूपोंमें ई [>* iə] हो जाता है, यथा दद्याम् [दद् [√दा]+य+अम्]; ददीत [दद्+इ+त]। यही विकरण लैतिनमें भी पाया जाता है। ग्रीकमें यह विकरण ओ से युक्त होकर ओइ [oi] के रूपमें पाया जाता है, यह ग्रीक फेरोइ [pheroi] [सं० भरेत्]। संस्कृतमें यह *ओइ, ए [अ+इ] हो गया है, जो भरेत् में स्पष्ट है। वैदिक संस्कृतमें लुङ् के आधारपर स् विकरण युक्त विधिलिङ् के रूप भी पाये जाते हैं, जिनमें धातुका स्वर 'इ' बना दिया जाता है, यथा, दिषीय [√दा]। संस्कृतका आशीर्लिङ् विधिलिङ्से केवल इसी बात में भिन्न है कि इसके रूप सदा लुङ् रूपोंके ही आधारपर बनते हैं, जब कि विधिलिङ् वाले रूप वर्तमान रूपोंके आधारपर बनते हैं। वैसे इन दोनोंके तिङ् चिह्न गौण हैं, तथा प्रायः एकसे ही होते हैं। उदाहरणके लिए गच्छति [लट्], गच्छेत् [विधिलिङ्], तथा अगमत् [लुङ्], गम्यात् [आ० लिङ्] रूपों को देखिये, जिनसे यह भेद स्पष्ट हो जायगा।

विधिलिङ्में अ-विकरणहीन तथा अविकरणयुक्त रूपोंमें उदात्त स्वरकी दृष्टिसे भिन्नता पाई जाती है। अ-विकरणहीन धातुओंमें उदात्त स्वर तिङंशपर पाया जाता है, जब कि अ-विकरणयुक्त धातुओंमें वह धात्वंश पर पाया जाता है:—भवेत्, भवेताम्, भवेयुः [पर०], भवेत, भवेयाताम्, भवेरन्, [आत्म०] द्विष्यात्, द्विष्याताम्, द्विष्युः [पर०], द्विषीत, द्विषीयाताम्, द्विषीरन् [आत्म०]

संस्कृतके लोट्वाले रूपोंमें वस्तुतः कई रूपोंकी खिचड़ी पाई जाती है। इसके प्रथम पुरुषके तीनों वचनके रूप हेतुहेतुमत् वाले [subjective] वैदिक रूप हैं, तथा मध्यम पुरुष तथा प्रथम पु० के द्वि० व० एवं म० पु० ए० व० के रूप निषेधार्थक वैदिक रूप [injunctive

forms]। म० पु० ए० व०, प्रथम पुरुष ए० व० तथा ब० व० के रूप विशेष महत्त्वपूर्ण है। म० पु० ए० व० मे थिमेटिक क्रियाओमे क्रियाका मूलधातु रूप ही प्रयुक्त होता है, वस्तुतः यहाँ 'शून्य' तिङ् चिह्न पाया जाता है। यह विशेषता यहीं नहीं अन्य भारतयूरोपीय भाषाओंमे भी पाई जाती है :—**सं० भर अवे० वर, ग्रीक फेरे, आर्मीनियन बेर, गॉथिक बइर, आयरिश बेइर।**

स० पृच्छ, लै० पोस्के; सं० अज, ग्रीक, अगे, लै० अगे।

किंतु अथेमेटिक धातुओमे यहाँ –हि [–धि] वाले रूप पाये जाते हैं:— **सं०इहि, अवे० इदि, ग्रीक इथि; सं० विद्धि, ग्रीक इस्थि।** इस –धि के अन्य उदाहरण **जुहुधि** [√हू], **शृणुधि** [√श्रु], **गधि** [√गा], **वृधि** [√वृ] है। प्रथम पु० ए० व० ब० व० मे गौण तिङ् चिह्न-त्, –न्त् के साथ–उ जोडा जाता है:—'भवत्-उ' [भवतु], भवन्त्-उ [भवन्तु]। यह-उ तिङ् चिह्न हित्ती भाषामे पाया जाता है:—**एश्तु** [स० अस्तु], **कुएन्दु** [सं० हन्तु], **कुनन्दु** [स० घ्नन्तु]। आत्मनेपदी रूपोमे म० पु० ए० व० मे –'स्व' चिह्न पाया जाता है। यह तिङ् चिह्न केवल अवेस्तामे मिलता है:— अवे० **क्अर्अश्वा** [सं० कुरुष्व], **बरङ्ह** [भरस्व]। प्रथम पु० ए० व० ब० व० मे–**आम्** तिङ् चिह्न पाया जाता है। यह अवेस्तामेमे–अम् पाया जाता है:—वॅरॅज्यतम्, खओसॅन्तम्।

सस्कृत लिट् लकारके रूपोंकी दो प्रमुख विशेषताये है, प्रथम तो इसमे धातुका द्वित्व पाया जाता है, दूसरे तिङ् चिह्न वर्तमानके मुख्य तथा लुङ् के गौण तिङ् चिह्नोसे भिन्न होते है। लिट् लकारमे द्वित्ववाले अक्षर [पाणिनिने इसकी पारिभाषिक संज्ञा, 'अभ्यास' दी है][1] मे प्रायः 'अ' स्वर [प्रा० भा० यू० *ए] प्रयुक्त होता है, किंतु जिन क्रियाओमे मूल स्वर इ या उ होता है, वहाँ द्वित्ववाले अक्षरमे 'अ' के स्थानपर क्रमशः इ या उ स्वर

---

१. पूर्वोऽभ्यासः। पाणिनिसूत्र ६·१·४.

पाया जाता हैः—**पपाठ** [√पठ्], **बभाज** [√भज्], **दिद्वेष** [√द्विष्], **लिलेह** [√लिह्], **बुबोध** [√बुध्], **चुक्रोध** [√क्रुध्]। लिट् के द्वित्वीकरणकी दृष्टिसे इन रूपोंको निम्न वर्गोंमें बाँटा जा सकता हैः—

[१] वैदिक संस्कृतमें कतिपय लिट् रूपोंमें द्वित्वाक्षरमें 'अ' 'इ' 'उ' के स्थानपर दीर्घ स्वर 'आ' 'ई' 'ऊ' पाया जाता है, यथा **दाधार** [√धृ], **जागार** [√गृ], **मामृजे** [मृज्], **पीपाय** [√पा], **तूताव**। वस्तुतः ये पौनःपुन्यार्थक बोधक द्वित्वके रूप हैं।

[२] 'ऊ' स्वरवाले दो धातुओंमें द्वित्वरूपमें 'अ' स्वर पाया जाता हैः—**बभूव** [√भू], **ससूव** [√सू]।

[३] आदिमें 'अ' स्वर ध्वनिवाले धातुओंमें लिट् में आ [अ+अ] पाया जाता है। यथा, **आद** [∠*अअद] [√अद्], **आस** [∠*अअस] [√आस]। आदिमें अ ध्वनिवाले कतिपय धातुओंमें द्वित्व रूपमें 'न्' ध्वनि भी पाई जाती है, **आनञ्ज**, **आनजे** [√अञ्ज्], **आनंश**, **आनशे** [√अश्]। इसके सादृश्यपर आदिमें ऋ ध्वनिवाले धातुओंमें भी यह 'न्' तत्त्व पाया जाने लगा हैः **आनर्च**, **आनृचे** [√ऋच् अथवा √अर्च्]।

[४] आदिमें इ या उ ध्वनिवाले धातुओंमें इ-उ का द्वित्व होता है, द्वितीय अक्षरमें इ, उ का गुण रूप 'ए'-'ओ' पाया जाता है तथा प्रथम अक्षर एवं द्वितीय अक्षरके स्वरोंमें संधि रोकनेके लिए 'य' अथवा 'व' श्रुतिका प्रयोग किया जाता है, दुर्बल रूपमें इ तथा उ को ई तथा ऊ बना दिया जाता है। **इयेष** [इ+य्+एष], **ईषे** [इ+इषे] [√इष्], **उवोच** [उ+व्+ओच], **ऊचे** [उ+उचे] [√उच्]।

[५] **य** तथा कतिपय **व** वाले धातुओंमें भी इसी तरहका द्वित्व पाया जाता है, यहाँ भी दुर्बल रूपमें क्रमशः ई-ऊ पाये जाते हैंः—**इयाज-ईजे** [√यज्], **उवाच – ऊचे** [√वच्]।

[६] जिन धातुओंमें 'अ' ध्वनि व्यञ्जन-मध्यग है, वहाँ द्वित्वरूपमें 'अ'

ही पाया जाता है, पपात, बभाज, बभार [√भृ-भर्], पपाठ, जगाम। इसके दुर्बल रूपमे वहाँ धातुके 'अ' के स्थानपर 'ए' हो जाता है: तेने, पेचे।

[७] सस्कृतमे एक धातु ऐसा भी है, जिसमे लिट् मे धातुका द्वित्व नहीं होता : स० वेद [√विद्]। इसके अन्य भा० यू० समानान्तर रूप भी द्वित्वहीन ही है : ग्रीक ओइद [oida], गॉथिक वइत [wait]। वैदिक सस्कृतमे कतिपय अन्य द्वित्वहीन लिट् रूप भी मिलते हैं:—तक्षथुः, तक्षुः, स्कम्भथुः, स्कम्भुः।[1]

भा० यू० परिवारकी कई भाषाओमे लिट् [परिपूर्ण भूत] मे यह द्वित्व प्रक्रिया नहीं पाई जाती। लैतिन तथा जर्मनीय वर्गमे द्वित्व प्रक्रिया नहीं है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि जिस तरह लुङ् एव लङ्के रूपोमे प्रा० भा० यू० मे 'अ' आगमका प्रयोग अत्यावश्यक था उस तरह लिट्के रूपोमे द्वित्व प्रक्रिया आवश्यक नहीं मानी जाती थी। वैसे ग्रीक तथा सस्कृतने लिट् रूपोमे द्वित्व प्रक्रियाका पालन किया है, किंतु यहाँ भी स० वेद्, ग्रीक ओइद् जैसे द्वित्वहीन छुटपुट रूप मिल ही जाते है। भा० यू० भाषाओके लिट्के समानान्तर रूपोके कतिपय उदाहरण ये है :—

स० जजान, ग्रीक गगान, स० ददर्श, ग्रीक देदोर्के; स० चिच्छेद, चिच्छिदे, लै० स्किकिदी [scicidī], गॉथिक स्कइस्कइथ् [skaiskaiθ], दिदेश, दिदिशे, ग्रीक ददइख [dedeikha], ददइग्मइ [dedegmai], रिरेच, रिरिचे, ग्रीक लेलोइप, लै० लीक्वी [līquī], गॉथिक लइह्व [laihw], स० निनेज, निनिजे, आयरिश नेनइग [nenaig]।

स० तुतोद, तुतुदुः, लै० तुतुदी [tutudī] गॉ० स्तइस्तौत [staitaut]।

---

[1] T Burrow Sanskrit Language p. 342

सं० वर्तते, लै० वोर्ती, वर्ती [vorti, verti], गॉथिक वर्थ [warþ]।

सं० दधर्ष, गॉथिक गदर्स [ga-dars]

सं० जघान, आयरिश उ० पु० ए० व० गेगोन [gegon], प्र० पु० ए० व० गेगोइन [gegoin]।

तिङ् चिह्न :—सम्प्रयुक्त तिङ् प्रत्यय अनुबन्ध्य [परस्मैपद] तथा स्वबन्ध्य [आत्मनेपद] के आधार पर दो तरहके होते हैं। इसके बाद प्रत्येक कोटिके मुख्य तिङ् चिह्न तथा गौण तिङ् चिह्न इन दो कोटियोंमें और बाँटा जा सकता है। ये तिङ् चिह्न पुरुष तथा वचनके अनुसार भिन्न भिन्न हैं, तथा प्रा० भा० यू० में 'अथेमैटिक' तथा 'थेमैटिक' रूपोंमें भी ये तिङ् चिह्न भिन्न-भिन्न प्रकारके थे। किन्तु संस्कृतमें आकर यह दूसरा भेद नहीं पाया जाता। [प्रोटोयूरो] लिट्के तिङ् चिह्न संस्कृतमें बिल्कुल अलग तरहके हैं। मुख्य चिह्नों तथा गौण चिह्नोंमें जो प्रमुख भेद है, वह यह है कि मुख्य चिह्नोंमें तिङ् चिह्नोंका सबल रूप [strong form] पाया जाता है, जब कि गौण चिह्नोंमें उनका दुर्बल रूप [weak form] पाया जाता है। उदाहरणके लिए, उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष, तथा प्रथम पुरुष एकवचनके मुख्य तिङ् चिह्न क्रमशः मि, सि, ति [भरामि, भरसि, भरति] हैं, जब कि गौण तिङ् चिह्नोंमें इनके दुर्बल [स्वरहीन] रूपः म्, स्, त् [अभरम्, अभरः, अभरत्] पाये जाते हैं। यह दुर्बल रूप प्रा० भा० यू० में भी पाया जाता था। ग्रीकमें भी इसका अस्तित्व है। संस्कृतके एक और चिह्नको ले लें—प्रथम पुरुष बहुवचनका तिङ् चिह्न 'न्ति' है, जब कि गौण रूपमें वह *न्त् पाया जाता है। इस *न्त् का त् अंश लुप्त हो जाता है, और इस तरह केवल न् बचा रहता है, यथा भरन्ति; अभरन् [*अभरन्त्]। विकरणहीन धातुओंमें यह न्ति प्रायः अति के रूपमें परिवर्तित हो जाता है, यथा √दा—ददति। वस्तुतः व्यञ्जनके बाद यह न्ति, अति हो जाता है [*दद्+न्ति ⟩दद्-न्ति]—दद्+

अति = ददति]। उत्तम पुरुष बहुवचनका मुख्य तिङ् चिह्न मसि है, जो संस्कृतमें मस् [मः], [यथा, पठामः में] पाया जाता है। अवेस्तामें यह 'महि' [mahı] हो गया है। ग्रीकमें इसका समानान्तर 'मेन्' [men] बादमें विकसित हुआ है। ग्रीककी एक विभाषा दोरिक [Doric] में यह मेस् [mes] पाया जाता है। इसीका गौण रूप केवल 'म' [आम] रह गया है, जो अपठाम, अभराम, अगच्छाम आदि रूपोंमें स्पष्ट है। वर्तमाने लट्के मध्यम पुरुष ब० व० का 'थ' तिङ् चिह्न संभवतः लिट्का प्रभाव हो, मिलाइये—भरथ, पठथ। द्विवचनके तिङ् चिह्नोंका विकास प्रत्येक भाषामें स्वतन्त्र रूपसे पाया जाता है, अतः भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे इनके विकासपर कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता। वैसे ये चिह्न तस्, थस्, वस् [तः, थः, वः] तथा ताम्, तम्, व है।

परोक्षभूते लिट्के तिङ् चिह्न सर्वथा भिन्न है और ये चिह्न प्रा० भा० यू० लकार चिह्नो से ही विकसित हुए है। प्रथम तथा उत्तम पुरुष ए० व० का चिह्न अ है, जो सं० वेद, ग्रीक [वो–] ओइदा [w]oida] में पाया जाता है। इसका प्रा० भा० यू० रूप *ओ [*o] था। मध्यम पुरुष ए० व० का चिह्न थ है, जो ग्रीकमें भी थ ही है; किन्तु ग्रीक थ का विकास प्रा० भा० यू० *ध से भी हो सकता है, अतः इसका प्रा० भा० यू० रूप अनिश्चित ही है। संस्कृतमें लिट्के प्रथम पुरुष ए० व० का चिह्न उः [>उर्] है, जो जग्मुः, पेठुः आदि रूपोंमें स्पष्ट है। यह 'उर्' अवेस्तामें अर्‌अश् तथा लैतिनमें एरे पाया जाता है। लिट्के अन्य चिह्न प्रायः वर्तमानके चिह्नोंसे विकसित हुए है।

प्रा० भा० यू० में स्ववाच्य [आत्मनेपद] ए० व० के तिङ् चिह्न *अइ, *सइ, *तइ है। इन्हींसे संस्कृतके ए [भाषे], से [भाषसे], ते [भाषते] विकसित हुए है, किन्तु ग्रीकमें अइ, सइ, तइ ही रहे है। प्र० पु० ब० व० में प्रा० भा० यू० तिङ् चिह्न *न्तइ है, जो संस्कृतमें—न्ते

[भाषन्ते] पाया जाता है, किन्तु जुहोत्यादि धातुओंमे यह चिह्न केवल **अते** [दद् + अते = ददते] ही है। उत्तम पु० बहु० व० मे मुख्य तिङ् चिह्न महे [भाषामहे, भरामहे], तथा गौण तिङ् चिह्न 'महि' [अभाषामहि] है। मध्यम पु० बहु० व० का मुख्य तिङ् चिह्न ध्वे [प्रा० भा० यू० *ध्वइ] है, जो अवेस्तामे दुये हो गया है। इसीका गौण चिह्न **ध्वम्** है, जो अवेस्तामे '**दूम्**' है। आत्मनेपदके गौण तिङ् चिह्नोंमें संस्कृतमे लुङ्के उ० पु० ए० व० का चिह्न इ पाया जाता है, जो अ विकरणसे मिलकर ए भी हो जाता है, यथा √कृ–अक्रि, √भृ–अभरे। यह इ वस्तुतः भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता है।

आज्ञार्थे लोट्के म० पु० ए० व० मे सविकरण धातु प्राय. शून्य तिङ् चिह्न होता है, यथा **भृ + अ + 0 = भर**, किन्तु अविकरण धातुमें यह तिङ् चिह्न –द् [हि] होता है, यथा इहि, अद्धि। यह चिह्न प्रा० भा० यू० *धि से विकसित हुआ है। लोट्के प्रथम पु० तथा मध्यम पु० के एकवचनमे **ताद्** तिङ् चिह्न भी पाया जाता है, यथा **पठतु–पठतात्**, **पठ–पठतात्**। यह **ताद्** लैतिनमे **तोत्** [tōt] के रूपमे पाया जाता है, अतः इसका विकास प्रा० भा० यू० *तोत् [*tōt] से माना जा सकता है, लै० वेहितो [vehitō], स० वहतात्, लै० एस्तो [स० स्तात्] संस्कृतके आत्मनेपदी धातुओंके कई रूपोंमें प्रथम पुरुष एकवचनमें एक 'र्' ध्वनि तिङ् चिह्नके साथ-साथ पाई जाती है। यह ध्वनि **दुह्राम्, दुह्रताम्, असृग्रम्, अदुह्रन्, अशेरन्** आदिमें देखी जा सकती है। यह 'रेफ' तत्त्व केल्तिक परिवारकी आयरिश तथा वेल्शमे विशेष पाया जाता है, वैसे लैतिनमें भी यह 'र्' मिडिल' तथा 'पैसिव' वॉयस के लिए प्रयुक्त होता है।[1]

---

१. उदाहरणके लिए lueto का मिडिल वायसका रूप lueto–r = lucitur पाया जाता है। दे० King and Cockson P 148–49

इसके कुछ रूप इलेतिक परिवारकी भाषाओमे तथा तोखारिशमे भी पाये जाते है। सस्कृतके परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी रूपोमे कई स्थानपर 'र्' पाया जाता है, यह हम देख चुके है। इतालिक तथा आयरिशके 'मिडिल' तथा 'पेसिव' रूपोमे यह 'र्' तिङ् चिह्नोके साथ प्रयुक्त होता है। कुछ उदाहरण ये है :—

आयरिश बेरि-र् [berı-ı] [उसे ले जाया गया है।]
,, बेर्ति-र् [bertı-ı] [उन्हे ले जाया गया है।]
वेल्श केनिर् [cenır] [सगीत चल रहा है, या सगीत चलेगा।]
,, दिवेदिर [dywedıı] [लोग कहते है।][1]

वस्तुतः यह र् पुरुषहीन [ımpeısonal] प्रत्यय [अथवा विकरण] था, जिससे केवल क्रियामात्रका बोध कराया जाता था।

यहॉ पर दो शब्द गौण धातुरूपो पर कह दिये जायॅ। सस्कृतके गौण धातु रूपोको पॉच वर्गोंमे बॉटा जा सकता है—[१] कर्मवाच्य रूप, [२] यङन्त तथा यङ्लुगन्तरूप, [३] सन्नन्तरूप, [४] णिजतरूप, तथा [५] नामधातु। कर्मवाच्य रूपोमे 'य' विकरण पाया जाता है, इसका सकेत हम कर चुके है। इस दृष्टिसे ये रूप दिवादिगणी रूपोके समान होते है। दूसरी विशेषता कर्मवाच्य रूपोकी यह है कि ये सदा आत्मनेपदी ही होते है। इन रूपोमे उदात्त स्वर सदा य विकरण पर पाया जाता है, जब कि दिवादिगणी रूपोमे यह स्वर धात्वश पर होता है—म्रियते, ध्रियते, मुच्यते, क्षीयते। इस ढगके कर्मवाच्यरूप केवल अवेस्तामे ही मिलते है, अन्यत्र नहीं—अवे० किर्यइन्ते [kıryeınte] [सं० क्रियन्ते]। कर्मवाच्यके लिट् तथा लृट्के रूप प्रायः वही होते है, जो आत्मनेपदी क्रिया रूपोके पाये जाते है,

---

[1] T. Hudson-Wıllıams A short Introductıon to the study of Comparative Grammar. p 75.

विकरण पर ही होता है :—दण्डयामि, अर्थयते, चूर्णयति, दोलायते, भिषज्यति, तपस्यति।

इस संबंधमे थोडा विचार ऐसे धातुओपर कर लिया जाय, जो आरभमे भिन्न थे, किन्तु बादमे जाकर परस्पर समाहित हो गये है। वैदिक सस्कृतमे कई ऐसे धातुओका सकेत मिलता है, जो एक ही अर्थमे प्रयुक्त होते थे। वैसे मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे इनके अर्थोमे थोडा सूक्ष्म भेद अवश्य था। धीरे धीरे वह भेद लुप्त हो गया तथा ये धातु एक दूसरेमे समाहित हो गये। उदाहरणके लिए √भू–अस्; √पश्–दृश्–स्पश्; √गम्–गा–इण् इन तीन वर्गोंको ले लीजिये। भू तथा अस् दोनो धातु सत्तार्थक है। आरभिक स्थितिमे दोनो धातुओके सभी रूप भिन्न भिन्न पाये जाते होगे। धीरे-धीरे √अस् धातु √भू मे समाहित होने लगा, और आज इसके अस्ति, अस्तु, आसीत्, स्यात् ये ही रूप पाये जाते है, बाकी रूपोमे √भू के रूपोका ही प्रयोग होता है। यदि √अस् का भविष्यत् [लृट्] पूछा जाय, तो वैयाकरण भविष्यति बतायेगा, *अस्स्यति नहीं। किन्तु √भू धातुके त्वयके सभी रूप सुरक्षित है, तथा वहाँ **भवति, भवतु, भवेत, अभवत्, भविष्यति, भविता, अभविष्यत्, भूयात्, बभूव, अभूत्** सभी रूप पाये जाते हैं।

√पश्–दृश् तथा √स्पश् तीनो धातुओका अर्थ 'देखना' है। √स्पश् धातु वेदमे पाया जाता है, किन्तु लौकिक सस्कृतमे इसका प्रयोग एक प्रकारसे नहीं पाया जाता, वैसे इससे बना नाम शब्द **'स्पशः'** [स्पश्+अच्] संस्कृतमे प्रयुक्त होता है, यथा **'शब्दविद्येव नो भाति राजनीति रपस्पशा'** [माघ, २ सर्ग]। √पश् तथा दृश् दो अलग अलग धातु थे। किंतु वेदमे ही आकर हम देखते है कि √पश् के लुङ्वाले रूप नहीं पाये जाते। धीरे धीरे पश् [पश्य] वर्तमान तथा उससे संबद्ध लकारोमे √दृश् के स्थानपर आदेश माना जाने लगा, **पश्यति, पश्यतु, पश्येत्,**

अपश्यत्। किन्तु लुङ् तथा उससे सबद्ध लकारोमे यह दृश् ही रहा, जैसे, द्रक्ष्यति, अद्राक्षीत् आदि।

√गम्, गा तथा √इण् इन तीनों धातुओंका अर्थ 'जाना' है। √'गा' [गमनार्थक] धातु वेदमे पाया जाता है तथा यह 'जुहोत्यादिगण' का धातु है, जिसके रूप जिगाति, जिगातु आदि पाये जाते हैं। √गम् धातु सस्कृतमे स्वतन्त्र रूपमे पाया जाता है, किंतु √गा धातु व्याकरणमे √इण् मे आकर समाहित हो गया है। सस्कृत व्याकरणके अनुसार √इण् धातुके लुङ्मे 'गा' आदेश हो जाता है। पाणिनिके प्रसिद्ध सूत्र 'इणो गा लुङि' के अनुसार √इण्–गतौ धातुके लुङ्के रूप अगात् आदि बनते हैं। यहाँ एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है, क्या इस √गा का √गम् से कोई सबध है? हमारे मतानुसार इस √गा को भी उसी प्रा० भा० यू० धातु *ग्व्म् से विकसित मानना सगत है। इस *ग्व्म् के, जो स्वय शून्यरूप [zero-form] है, *ग्वम् तथा *ग्वेम् क्रमश. गुण तथा वृद्धि रूप माने जा सकते हैं। यह वृद्धि रूप *ग्वेम् सस्कृतमे आकर ध्वनि-शास्त्रीय नियमोके अनुसार गा हो जायगा।

असमापिका क्रिया [infinite verbs]:—अब तक हमने समापिका क्रियाओ [finite verbs] का उल्लेख किया है। यहाँ सक्षेपमे असमापिका क्रियाओंका सकेत कर देना आवश्यक होगा। इन्हे मोटे तौरपर तीन वर्गोंमे बॉट सकते हैं:—[१] वर्तमानकालिक, भूतकालिक तथा भविष्यत्कालिक कृदन्त प्रत्यय, [२] तुमन्तरूप, [३] पूर्वकालिक क्रिया रूप।

१. [अ] वर्तमानकालिक कृदन्त प्रत्यय **–न्त्[–त्–]**, **–मान**, तथा **–आन** हैं। इनमे '–न्त्' परस्मैपदी रूपोके साथ जुडता है, शेष दो आत्मनेपदीरूपोंके साथ। सस्कृत वैयाकरण इन्हें क्रमश. 'शतृङ्' तथा 'शानच्' कहते है। आन अथेमेटिक [अ-विकरणहीन] आत्मनेपदी धातुओंमे प्रयुक्त होता है, **शयान**, **ददानः**, **दधान**, जबकि–**मान** थेमेटिक [अ–विकरणयुक्त] आत्मनेपदी धातुओंमे प्रयुक्त होता है.—**भाषमाण**, **भरमाण**,

वर्तमानः, । इन प्रत्ययोकी व्युत्पत्तिका सकेत हम कर चुके है। लैतिनमे इसके समानान्तर रूप क्रमशः–'एन्त्' [–न्त्] तथा –मिनि, 'म्नुस्' पाये जाते हैं:— रेगेन्त स् [reg-ent-es], अलुम्नुस् [alumnus]। ग्रीकमे कर्तृवाच्य परस्मैपदी क्रियाओमे–ओन्–ओन्त् वाले कृदत रूप पाये जाते है:—फरान्त्; एसान्त्। कर्मवाच्य तथा आत्मनेपदी रूपोमे ग्रीकमे –'मेनास्' तथा–म्ना प्रत्यय पाये जाते है:—फरामनास् [स० भरमाणः], बेल-म्नान्। सस्कृतसे इन प्रत्ययोके उदाहरण ये हैं:—

भवत् [भवन्त्–], **भवमान, द्विषन्त्, द्विषाण, यन्त्, इयान, जुह्वत्, जुह्वान** ।

[आ] **भूतकालिक कर्मवाच्य कृदंतः**—'त [क्त]' तथा '**न**'। इनकी व्युत्पत्तिका सकेत हम कर चुके है। इनका ग्रीकमे –'तास्' तथा लैतिनमे '–तुस्' रूप मिलता है:—ग्रीक '**बतास्**' [स० गतः], **क्लुतास्** [स० श्रुतः], लै० (इन–) **क्लुतुस्** [स० श्रुतः]। सस्कृतमे इस प्रत्ययसे निष्पन्न रूपोमे ध्वन्यात्मक तथा सन्ध्यात्मक [prosodic] परिवर्तन पाये जाते है:—

दग्ध [√दह्], **नद्ध** [√नह्], **मत्त** [√मद्], **लब्ध** [√लभ्], **दिष्ट** [√दिश्], **सिक्त** [√सिच्], **श्रुत** [√श्रु], **मूढ** [√मुह्], **पृच्छ** [√पृच्छ्], **जात** [√जन्], **खात** [√खन्], **हित** [=*धित; √धा], **मित** [√मा], **दत्त** [√दा], **शयित** [√शी], **गलित** [√गल्], **मिलित** [√मिल्] **गृहीत** [√ग्रह्]

कतिपय धातुओमे कर्मवाच्य भूतकालिक कृदत रूपोमे 'न' प्रत्यय मिलता है। इसका ग्रीकमे 'नास्' तथा लैतिनमे 'नुस्' रूप पाया जाता है:— ग्री०, **हग्नास्**, **स्तुग्नास्**; लै० **प्लेनुस्**, **दिग्नुस्**। सस्कृतमे इस प्रत्ययके उदाहरण ये है:—**खिन्न** [√खिद्], **भिन्न** [√भिद्], **विषण्ण** [√सद्], **आपन्न** [√पद्], **क्षीण** [√क्षी], **हीन** [√ही], **गीर्ण**

[√गिर्], जीर्ण [√जर्], भग्न [√भञ्ज्], भुग्न [√भुज्], **मग्न** [√मज्ज्], लग्न [√लग्]

[इ] **कर्तृवाच्य भूतकालिक कृदंतः**—इनमें–तवत् [तवन्त्] [स० क्तवतु] प्रत्यय पाया जाता है। जो वस्तुतः उक्त 'त' वाले रूपोंके साथ –'वन्त्' [वत्] जोड़कर बनाया जाता है। उक्त-उक्तवन्त् [उक्तवान्], चिन्तित–चिन्तितवन्त् [चिन्तितवान्], आदिष्ट-आदिष्टवन्त् [आदिष्टवान्]।

[ई] **भविष्यकालिक कर्मवाच्य कृदंत** [Gerunds]:—इसमें संस्कृतमें तीन प्रत्यय पाये जाते हैं:— –य–, –तव्य–,–अनीय–। इनमें प्रथमका संबंध प्रा० भा० यू० *या [10] से जोड़ा जाता है, जो ग्रीक हग्यास् ['agios] से स्पष्ट है। इसके संस्कृत उदाहरण ये हैं:—ज्ञेय [√ज्ञा], ध्येय [√ध्या], विक्रेय [वि+√क्री], नेय [√नी], भाव्य [√भू], पाक्य [√पच्], वाच्य [√पच्]। द्वितीय प्रत्ययका संबंध प्रा० भा० यू० *–तवो [teuo] से जोड़ा जाता है, जो ग्रीक 'दोतेओस्' [doteos] [स० दातव्यम्] से स्पष्ट है। इसके उदाहरण ये हैं —

स्थातव्य [√स्था], कर्तव्य [√कृ], वर्तितव्य [√वृत्]। 'अनीयर्' [अनीय] की व्युत्पत्ति संदिग्ध है, वैसे इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० यू० –*एना, –*आनासे मानी गई है, जो संस्कृतमें 'अन'– [ल्युट्] के रूपमें भी पाया जाता है [पचनम्, मननम्, पठनम् आदिमें]। इसके उदाहरण हैं:—करणीय [√कृ], दर्शनीय [√दृश्], भोजनीय [भुज्], पठनीय [√पठ्], पानीय [√पा]।

संस्कृतमें भविष्यत्के कर्तृवाच्य कृदंत रूप भी मिलते हैं, जो वस्तुतः वर्तमानकालिक कृदन्तोंमें ही –'स्य'– जोड़कर बनाये जाते हैं:—भविष्यत्, करिष्यमाणः।

[२] **तुमन्त कृदंत प्रत्यय** [Infinitives]:—वेदोंमें तुमन्त अर्थमें कई प्रत्यय पाये जाते हैं, जिनका संकेत हम कर चुके हैं। लौकिक

संस्कृतमे -'तु' ही बचा है। इससे मिलता-जुलता तुमन्त कृदन्त केवल लैतिन तथा लिथुआनियनमें पाया जाता है:—लै० दतुम् [सं० दातुम्], लिथु० देतुम् [सं० धातुं], । इसके रूप ये है:—जेतुम् [√जि], भेतुम् [√भी], श्रोतुम् [√श्रु, वक्तुम् [√वच्], गन्तुम् [√गम्], रोढुम् [√रुह्], द्रष्टुम् [√दृश्], भवितुम् [√भू], शयितुम् [√शी], वर्तितुम् [√वृत्], चेष्टितुम् [√चेष्ट्], ग्रहीतुम् [ग्रह्]।

[३] पूर्वकालिक क्रिया रूप [Absolutives]:—पूर्वकालिक क्रियार्थमें संस्कृतमें दो प्रत्यय पाये जाते हैं:— -'त्वा', -'य' [ल्यप्]। इनमें प्रथम शुद्ध [अनुपसर्ग] धातुके साथ जोड़ा जाता है, द्वितीय सोपसर्ग धातुके साथ। दोनोंके उदाहरण क्रमशः ये हैं:—

जित्वा [√जि], नीत्वा [√नी], श्रुत्वा [श्रु], भूत्वा [भू], मुक्त्वा [√मुच्], लब्ध्वा [√लभ्], त्यक्त्वा [√त्यज्], ज्ञात्वा [√ज्ञा], दत्त्वा [√दा], हित्वा [√धा], पीत्वा [√पा]।

उपनीय [उप+√नी], अव-तीर्य [√तॄ], नि-पत्य [√पत्], प्र-विश्य [√विश्], आ-हूय [√हू], आ-ज्ञाय [√ज्ञा], आ-दाय [√दा], आ-गम्य [√गम्], अनु-मत्य [√मन्]।

क्रियाविशेषण :—

संस्कृत क्रियाविशेषणोंको हम दो वर्गोंमें विभक्त कर सकते हैं :— एक वे क्रियाविशेषण जो मूलतः सविभक्तिक रूप थे, ये वस्तुतः संज्ञा शब्द, विशेषण या सर्वनामसे बने वे सविभक्तिक रूप हैं, जो धीरे धीरे अव्ययके रूपमें प्रयुक्त होने लगे हैं; दूसरे वे क्रियाविशेषण जो किन्हीं प्रत्ययोंसे बने हैं। ग्रीक तथा लैतिनमें दोनों तरहके क्रियाविशेषण पाये जाते हैं। वहाँ भी कई सविभक्तिक शब्द क्रियाविशेषणोंके रूपमें प्रयुक्त देखे जाते हैं।[१]

---

१ Atkinson Greek Language Pp. 100–101 साथ ही Papillon Comparative Philology applied to Greek and Latin Inflexions. Appedix II C-D P 253

१. सविभक्तिक क्रियाविशेषण :—

[अ] द्वितीया विभक्तिवाले क्रियाविशेषण :—

[i] संज्ञा रूपोंसे बने क्रियाविशेषण —**कामम्, समकालम्, अहर्निशम्, सुखम्, रहः** ।

[ii] विशेषणोंसे बने क्रियाविशेषण :—**अनन्तरम्, चिरम्, नित्यम्, प्रत्यक्षम्, बाह्यम्, साम्प्रतम्, आशु, साधु** ।

[iii] सर्वनाम शब्दोंसे बने क्रियाविशेषण:—**तत्, यत्, किम्, यावत् तावत्** । ग्रीकमें भी द्वितीया विभक्तिवाले क्रियाविशेषण पाये जाते हैं :—**दिकेन्, खरिन्**, इनके साथ ही तुलनात्मक विशेषण रूपोंके द्वितीया ए० व० ब० व० के रूप ही क्रियाविशेषणके रूपमें प्रयुक्त होते हैं :—**मक्रोन्** । लैतिनमें भी संज्ञा सर्वनाम तथा विशेषणोंके द्वितीया ए० व० ब० व० के रूप क्रियाविशेषणोंके रूपमें प्रयुक्त होते है :—**क्वाम्, क्वम्**, [ए० व०] **क्विअ, अलिअस्** [ब० व०] ।

[आ] तृतीया विभक्तिवाले क्रियाविशेषण :—

[i] संज्ञावाले रूप :— **क्षणेन, दिष्ट्या, सहसा** ।

[ii] विशेषणोंसे बने रूप :— **दूरेण, दूरतरेण, तिरश्चा, उच्चैः, प्रोच्चैः, शनैः** ।

[इ] चतुर्थी विभक्तिवाला केवल एक ही क्रियाविशेषण संस्कृतमें पाया जाता है :—**अर्थाय** ।

[ई] पञ्चमी विभक्तिवाले क्रियाविशेषण प्रचुर है :—

[i] संज्ञावाले रूप :—**बलात्, संक्षेपात्** ।

[ii] विशेषणवाले रूप :—**अचिरात्, दूरात्, कृच्छ्रात्, साक्षात्** ।

[iii] सर्वनामवाले रूप :—**तात्, कस्मात्**, ग्रीक तथा लैतिनमें अपादान [Ablative] वाले सविभक्तिक विशेषण प्रचुर हैं, कतिपय उदाहरण ये है :—ग्रीक **होस्** [सं० तात्]; **हापोस्** [सं० कस्मात्],

लैतिन रेक्तेद् [rectēd], फकिल्लूमेद् [facillumēd], मेरितोद् [meritōd]

संस्कृतमें षष्ठी विभक्तिवाले क्रियाविशेषण नहीं पाये जाते, लैतिनमें भी इनका अभाव है, ग्रीकमें कतिपय सर्वनाम शब्दोंके संबंध कारकीय [genitive] क्रियाविशेषण पाये जाते है, जैसे—होउ [सं० तस्य], हेपोउ [सं० कस्य]।

[ऊ] सप्तमी विभक्तिवाले क्रियाविशेषण :—

अग्रे, अर्थे, ऋते।

ग्रीक तथा लैतिनमें अधिकरण [locative] कारकवाले क्रियाविशेषण पाये जाते है; कुछ उदाहरण ये है :—ग्रीक होइ [सं० तस्मिन् अथवा तत्र], पोइ [कस्मिन् अथवा कुत्र], होथि [स० तत्र] पोथि [स० क्व, कुत्र]; लैतिन उबि, इबि [स० तत्र, अत्र]।

२. सप्रत्यय क्रियाविशेषण :—

[अ]–वत् प्रत्यय, जो सादृश्यके अर्थमे पाया जाता है :—खगवत्, पुत्रवत्, मूकवत्, चित्रकर्णवत्, यथावत्। इस प्रत्ययका संबंध पूर्वोक्त तद्धित प्रत्यय 'वत्'–'वन्त्' से जोडा जा सकता है।

[आ] –तः [तसिल्] प्रत्यय :—अतः, इतः, ततः, यतः, कुतः, परतः, पुरतः, सर्वतः, दूरतः, आदितः, अर्थतः, दैवतः।

इसकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० यू० *तास् से मानी गई है, जिसका रूप ग्रीकमें *तास् तथा लैतिनमे *तुस् पाया जाता है। यथा, ग्रीक एन्तास्, एक्तास्, लैतिन इन्तुस्, रादिकितुस्।[1]

[इ] –ति प्रत्यय—'इति'।

[ई] –त्र प्रत्यय :—अत्र, कुत्र, तत्र, यत्र, अन्यत्र, सर्वत्र।

---

१ Thumb. Handbuck des Sanskrit § 403 p. 276.

इस प्रत्ययका वैदिक भाषामें –त्रा रूप भी मिलता है, यत्रा। अवेस्तामें इसका थ्र रूप पाया जाता है :—अथ्र [aθra], यथ्र [yaθra]। इसका विकास गॉथिकमें भी पाया जाता है :—विथ्र [viθia] हिद्रे [hidie] [यहाँ, मि० अँगरेजी हिदर [hither]]। थुम्बने संस्कृत अन्तः [अन्तर्] [लै० इन्तेर [inter], प्रातः [प्रातर्] का भी इस 'त्र' से संबंध जोडा है, जिसका यहाँ 'तर्' रूप पाया जाता है, वस्तुतः ये दोनों [त्र तथा तर्] मूलतः प्रा० भा० यू० *तेरो, तेर' से संबद्ध हैं।[1]

[उ]–था प्रत्यय [प्रकारबोधक].—कथा, तथा, यथा, अन्यथा, सर्वथा। इस प्रत्ययका अवेस्तामें था-थ रूप पाया जाता है।

[ऊ]–थम् प्रत्यय [प्रकारबोधक] :—कथम्, इत्थम्, [इद् + थम्]।

[ए]–दा प्रत्यय [कालबोधक] :—तदा, यदा, कदा, एकदा, सदा [स + दा]।

–दि प्रत्यय :—यदि [प्राचीन फारसी यदिय्]।

ग्रीकमें इससे मिलते जुलते प्रत्यय रूप पाये जाते हैं :—दोन्,–देन्,–द, यद्यपि वहाँ ये प्रत्यय प्रकारबोधक हैं :—अपोस्त-दान् [अलगसे], इल-दोन् [झुण्डमें]।

[ऐ]–श. प्रत्यय :—खण्डश, गणशः, शतशः, भागश. नित्यशः। प्राकृत ग्रीक [Vulgar Gieek] में इसका 'खस्' रूप मिलता है :—अन्द्रोखस् [andiokhas], हेकस् [hekas]।

[ओ]–व प्रत्यय.—इव, एव।

–ह प्रत्यय :—इह, कुह।

वैदिक संस्कृतमें इस 'ह' प्रत्ययका ध रूप भी मिलता है :—सध [लौ० सं० सह]। प्राकृतमें भी ह के स्थान पर ध प्रत्यय ही मिलता है,

---

१ Thumb · p 277

इध [महाराष्ट्री प्रा०] [स० इह]। इससे यह अनुमान होता है कि ये दोनो मूलतः एक ही प्रत्यय है, वैभाषिक भेदसे वैदिक कालमे इसके दोनो रूप रहे होगे। प्राकृतने ध वाला रूप सुरक्षित रक्खा है, लौकिक संस्कृतने ह वाले रूपको अपनाया है। भाषाशास्त्रियोने इनका सम्बन्ध ग्रीकके –थ प्रत्यय तथा लैतिनके –दे प्रत्ययसे जोडा है जो–ग्रीक, पोथि [pothi], प्रोस्थ [न] [prosthen], एन्थ [entha] लैतिन इन्दे [inde] मे पाये जाते है[१]।

---

१. Thumb. Handbuch des Sanskrit § 407 p. 278

संस्कृत वाक्य-रचना

जैसा कि हम प्रथम परिच्छेदमें बता आये हैं, प्रा० भा० यू० भाषा की वाक्य रचनाके विषयमें भाषाशास्त्रियोंने कोई अनुमान नहीं लगाये हैं। यद्यपि ध्वनि तथा पदरचनाकी दृष्टिसे इस काल्पनिक भारोपीय भाषा [Grundsprache] का अत्यधिक विवेचन हो चुका है, किन्तु इसकी वाक्यरचनापर कोई कार्य नहीं हुआ है। वैसे कुछ विद्वानोंने, जिनमें प्रमुख नाम श्लेखर [Schleicher] का लिया जा सकता है, इस काल्पनिक भाषामें हमें "एक भेड तथा एक घोडेकी कहानी" देनेकी चेष्टा की है। इसका एक वाक्य यहाँ इसलिए दिया जाता है कि इस काल्पनिक वाक्य-रचनाका थोड़ा संकेत पाठकोंको मिल जाय। यद्यपि श्लेखरने इसकी ध्वनियोंका प्राचीन रूप दिया है, पर हम यहाँ पर नये संकेतोंका प्रयोग करेंगे, जो ध्वनिशास्त्रीय दृष्टिसे विशेष शुद्ध हैं:—

[*ओविस् . ददोके एक्वम्स् तम् बाघे गेरुम् वघेन्तम्, तम् भारे मघेम् . ..ओविस् एक्वभ्यम्स् अ ववेकेत् ।]

[*owis dedoike, ek^{w}ms, tem, baghem, gerum, weghentem tem bhaiem, meghem,...owis ek^{w}mb^{h}yms a weweket]

स० [अवि .. ददर्श अश्वं तं वाहं गुरुम् वहन्तं, तं भारं महान्तं,... अवि· अश्वं अवोचत् ।]

किन्तु जैसा कि हम बता चुके हैं इस काल्पनिक भाषाके रूप सूत्रमात्र [formulae] है। अत· इस प्रकारके पुनर्निर्मित [reconstucted] वाक्योंकी कल्पना वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती, न इससे भाषाविज्ञानमें

तब तक कोई सहायता ही पहुँच सकती है, जब तक कि इस वाक्यरचनात्मक विशेषताकी पुष्टि हम किसी बाह्य प्रमाणसे न दे सकें। अतः ऐसी कल्पनाओं की अवहेलना करना ही विशेष श्रेयस्कर तथा वैज्ञानिक है। वस्तुतः प्रा० भा० यू० भाषाकी वाक्यरचनाके विषयमें हम कुछ भी नहीं कह सकते।

संस्कृतकी वाक्य-रचना विशेष जटिल नहीं है। प्रत्येक वाक्यमें प्रायः एक क्रिया तथा एक कर्त्ता होता है, यदि क्रिया सकर्मक है, तो कर्म भी होता है। विशेषण संज्ञाके साथ प्रयुक्त होते हैं तथा क्रियाविशेषणोंका भी प्रयोग होता है। प्रत्येक नाम शब्द वचन, लिंग, तथा कारकसे युक्त होता है। प्रत्येक क्रियामें वाच्य, लकार, पुरुष एवं वचन रहता है। कुछ ऐसे भी अव्यय संस्कृत वाक्योंमें प्रयुक्त होते हैं, जिन्हें वैसे तो हम संबंधबोधक परसर्ग [postpositions] कह सकते हैं, किन्तु संस्कृत वैयाकरणोंकी परिभाषामें इन्हें 'कर्मप्रवचनीय' कहना अधिक उपयुक्त होगा। ये 'कर्मप्रवचनीय' वाक्यकी क्रियाके साथ किसी कर्तृभिन्न संज्ञा या सर्वनामका संबंध व्यक्त करते हैं। शब्दों तथा वाक्योंको परस्पर कुछ अन्य प्रकारके अव्ययोंसे जोड़ा जाता है, जो समुच्चय बोधक होते हैं, यथा, **च, पर, तथा, अथवा**।

संस्कृतकी सबसे बड़ी वाक्यरचनात्मक विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक पदका पारस्परिक संबंध विभक्तिके द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसीलिए संस्कृत वाक्यमें किसी पदका ठीक उसी तरह नियत स्थान नहीं होता, जैसा हिंदी आदि आधुनिक भाषाओंमें है। उदाहरणके लिए एक वाक्य ले लीजिये—"**स पुरुषः तं श्वानमताडयत्**" इस वाक्यको हम "**स पुरुषोऽताडयत्तं श्वानं**" अथवा "**तं श्वानमताडयत् स पुरुषः**" के रूपमें भी रख सकते हैं। प्रत्येक दशामें इसका ठीक वही अर्थ होगा—उस आदमीने उस कुत्तेको पीटा। ठीक यही बात ग्रीक या लैटिनमें पाई जाती है। संस्कृतके इसी वाक्यके समानान्तर वाक्यको ले लें।

हो अन्थ्रोपास् तान् कुन् एपताजन्।
[ho anthropos ton kun eptazen]

[उस आदमीने उस कुत्तेको पीटा।]

इस वाक्यको यों भी रख सकते हैं:—[१] तोन् कुन् एपताज़ेन् हो अन्थ्रोपास् अथवा [२] हो अन्थ्रोपास् एपताजेन् तोन् कुन।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आरम्भिक स्थितिमें प्रा० भा० यू० वाक्य-रचनाकी एक विशेषता यह रही होगी कि वहाँ पदोंकी कोई नियतस्थिति न थी, उनका प्रयोग वाक्यमें कहीं भी हो सकता था, उनके संबंधका बोध विभक्तिके द्वारा करा दिया जाता था।

वाक्यरचनाकी दृष्टिसे सर्वप्रथम हम नाम शब्दोंको लेंगे। नाम शब्दोंकी पदरचनाको हम पूर्ववर्ती परिच्छेदमें देख चुके हैं। नाम शब्दोंके वचनके विषयमें दो बातें कह देना आवश्यक होगा। संस्कृतमें द्विवचन पाया जाता है। वैसे बादमें प्राकृतमें आकर यह वचन ठीक उसी तरह लुप्त हो गया है, जैसे 'हेलेनिस्टिक' कालमें आकर ग्रीकका द्विवचन लुप्त हो गया है। जैसा कि हम बता चुके हैं द्विवचनका बीज उन दो वस्तुओंके वर्णनमें था, जो युग्म रूपमें पाई जाती थीं। दूसरी विशेषता यह है कि वैदिक संस्कृतमें कहीं कहीं नपुंसक लिंगके बहुवचन कर्ताके साथ एकवचन क्रियाका प्रयोग पाया जाता है। यह सम्भवतः इसलिए कि नपुंसक लिंग ब० व० के 'आकारान्त' वैकल्पिक रूपको 'आकारान्त' स्त्रीलिंगके प्रथमा ए० व० के तुल्य माना जाता हो। यह हम देख चुके हैं कि नपुंसक लिंगके प्रथमा-द्वितीया ब० व० का विभक्तिचिह्न 'आ' भी था [भुवनानि विश्वा]। यह विशेषता ग्रीकमें भी पाई जाती है। होमरकी भाषामें तथा ग्रीककी एक विभाषा 'एतिक' [Attic] में यह विशेषता पाई जाती है[१]। 'हेलेनिस्टिक' कालमें आकर यह प्रयोग बहुत कम हो गया। संस्कृतमें भी इस तरहके प्रयोगका धीरे-धीरे लोप हो गया, तथा लौकिक संस्कृतमें यह प्रयोग नहीं पाया जाता।

संस्कृतमें वाक्यके कर्त्ताके लिए प्रथमा तथा तृतीया दोनों विभक्तियोंका प्रयोग पाया जाता है। तृतीयाका प्रयोग कर्मवाच्यमें होता है, प्रथमाका

१ Atkinson Greek Language p 104

कर्तृवाच्यमें। तृतीयाका प्रयोग कर्त्ताके अतिरिक्त करणमें भी पाया जाता है, तभी तो पाणिनिने कहा है—कर्तृकरणयोस्तृतीया। कर्तृवाच्यके प्रयोगमें जहाँ सत्तार्थक क्रियाका [भू या असूका] वर्तमाने प्रयोग होता है, कभी-कभी यह क्रिया प्रयुक्त नहीं होती। किन्तु ऐसी दशामें प्रायः विधेयको उद्देश्यके पूर्व रखते हैं या बादमें। साथ ही ऐसी दशामें विशेषक सर्वनामका सदा प्रयोग होता है। उदाहरणके लिए 'स पुरुषः शूरः' या 'शूरः स पुरुषः' में [अस्ति या भवति] क्रियाका प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं, उसके बिना भी काम चल सकता है। किन्तु, यदि विधेयका प्रयोग विशेषक सर्वनाम तथा कर्त्ता [उद्देश्य] के बीच किया जायगा, तो क्रियाके प्रयोगके बिना काम नहीं चलेगा। 'स शूरः पुरुषः' [अस्ति], में 'अस्ति' की आकांक्षा बनी रहती है। ठीक यही विशेषता ग्रीकमें पाई जाती है। उदाहरणके लिए, हो अन्थ्रोपास् कलास् [ho anthropos kalos] तथा 'कलास् हो अन्थ्रोपास्' पूरे वाक्य हैं, किन्तु हो कलास् अन्थ्रोपास् में एस्ति [esti] की आवश्यकता है। इस वाक्यका अर्थ है, "यह पुरुष अच्छा है"। सम्बोधनके अर्थमें कभी कभी संस्कृतमें हे का प्रयोग पाया जाता है, हे देव, हे हरे, हे विष्णो। ग्रीकमें संबोधनके अर्थमें ओ [ō] पाया जाता है, जो शब्दके पहले प्रयुक्त होता है, यथा ओ लेओस् [ō leos] [हे सिंह], ओ क्रीत [ō krita] [हे न्यायाधीश]।

द्वितीया विभक्तिका प्रयोग प्रायः सकर्मक क्रियाके लिए पाया जाता है। यह वह वस्तु है, जो किसी क्रियाके कर्त्ताका ईप्सिततम कर्म है। 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म'। ईप्सिततम पदमें तमप् का प्रयोग इसलिए किया गया है कि प्रमुख कर्म करते समय जो और कर्म होंगे, वे क्रियाके मुख्य कर्म न होनेके कारण कर्म नहीं माने जायँगे, तथा उनमें द्वितीया विभक्ति नहीं होगी। यथा, दध्ना ओदनं भुङ्क्ते इस वाक्यमें केवल 'ओदन' ही कर्म

है, क्योंकि खानेवालेको ईप्सिततम वही है, दधि नहीं। कर्मवाच्यमें यह कर्म प्रथमा विभक्तिमें प्रयुक्त होता है। ठीक ऐसा ही कर्मवाच्य प्रयोग ग्रीकमें पाया जाता है, जहाँ कर्म क्रियाका कर्त्ता [nominative] बन जाता है। किन्तु ध्यान रखिये जहाँ ग्रीकमें कर्मवाच्यके कर्मको कर्त्ता माना जाता है, वहाँ संस्कृतमें इसे कर्त्ता नहीं माना जाता। हमारे वैयाकरणोंके मतानुसार यहाँ प्रथमा विभक्ति होनेपर भी कर्मत्व ही माना जायगा, **"रामेण हन्यते बालि."** में **"बालि."** प्रथमा विभक्तिमें होते हुए भी कर्म है, **'रामेण'** की विभक्ति तृतीया है, किन्तु इस वाक्यका कर्त्ता यही है। यही कारण है कि हमारे व्याकरणमें प्रथमा तथा कर्त्ता, द्वितीया तथा कर्म, तृतीया तथा करणका ठीक वैसा ही अविच्छेद्य संबंध नहीं है, जैसा अन्य भाषाओं में। वस्तुतः अन्य भा० यू० भाषाओंमें प्रथमा, द्वितीया जैसी कोई गणना है ही नहीं।

कर्मका प्रयोग क्रियासे बने कई कृदन्तोंके साथ भी होता है। यथा शतृ तथा शानच्, क्त-क्तवतू आदिके साथ कर्मकारकका प्रयोग पाया जाता है, यदि वे सकर्मक क्रियासे बने हैं :—

[१] **दधानमम्भोरुहकेसरद्युतीर्जटाः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम्।**

[२] **सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां विडम्बयन्तं शितिवाससस्तनुम्।**

इसी तरह तुमुन्‌के साथ भी कर्मका प्रयोग पाया जाता है, **वसतिं प्रियकामिनांप्रियास्त्वदृते प्रापयितुं क ईश्वरः।** वैसे वैदिक संस्कृतमें तुमुन् तथा उसके समानान्तर तवे, तवै आदिके लिए द्वितीया, चतुर्थी तथा पञ्चमी तीनोंका वैकल्पिक प्रयोग देखा जा जाता है—**अहये हन्तवै, परमेतवे।** किन्तु लौकिक संस्कृतमें आकर केवल द्वितीया ही प्रयुक्त होने लगी।

संस्कृतमें कुछ क्रियाओंके साथ दो कर्म पाये जाते हैं। ये क्रियाएँ द्विकर्मक कहलाती हैं।[1] इन क्रियाओंमें प्रमुख [कथित] तथा गौण [**अकथित**]

---

१. **दुह्याच्-पच्-दण्ड्-रुधि-प्रच्छि-चि-ब्रू-शास्-जि-मन्थ-मुषाम्।**
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृ-कृष्-वहाम्॥

दोनो कर्म द्वितीया विभक्तिमे होते है। इसी बातको महर्षि पाणिनि अपने सूत्र 'अकथितञ्च' मे सकेतित किया है। यह अकथित कर्म प्रायः अन्य किसी कारकका रूप रहता है, जो द्विकर्मक क्रियाओके साथ कर्म हो जाता है। यथा, **गां दोग्धि पयः** [गायसे दूध दुहता है।], **माणवकं पन्थानं पृच्छति** [लड़केसे मार्ग पूछता है], **सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति** [समुद्रसे अमृत मथता है।] आदि वाक्योमे **गां, माणवकं, क्षीरनिधि** मे यह अकथित कर्मवाली द्वितीया विभक्ति ही है। ग्रीकमे भी कुछ क्रियाओके साथ दो कर्मोंका प्रयोग देखा जाता है।[1]

सस्कृत णिजन्त प्रक्रियामे जहाँ द्विकर्मक क्रिया होती है, प्रमुख कर्म द्वितीयामे ही बना रहता है, किन्तु गौण कर्मका प्रयोग तृतीयामे होता है, यथा "**अचीकरच्चारु हयेन या अमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः**" [नैषध, प्र० सर्ग] मे प्रधान कर्म **अमीः** द्वितीयामे है, गौण कर्म **हयेन** तृतीयामे। जहाँ तक नी, हृ, कृष् तथा वह् धातुका प्रश्न है, इनमे गौण कर्म विकल्पसे तृतीया तथा द्वितीया दोनोमे होता है—**भारं वाहयति भृत्यं भृत्येन वा।**

जैसा कि हम बता चुके है सस्कृतके कुछ अव्यय आदि ऐसे है, जो भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे परसर्ग [postposition] हैं, तथा जिनके साथ उनसे सबद्ध नाम शब्दोमे द्वितीया विभक्ति पाई जाती है। जैसे, "**द्या मन्तरा वसुमतीमपि गाधिजन्मा, यद्यन्यमेव निरमास्यत नाकलोकम्**" [नैषध, ११ सर्ग], मे 'अन्तरा' के योगसे 'द्यां' मे द्वितीया विभक्ति पाई जाती है। पाणिनिके सूत्र '**अन्तरान्तरेण युक्ते**' के अनुसार यहाँ द्वितीया विभक्ति होती है। इस तरहके शब्दोको पारिभाषिक शब्दावलीमे 'कर्मप्रवचनीय' कहते हैं। ग्रीकमे भी ऐसे कर्मप्रवचनीय पाये जाते है, जिसके साथ कर्म [द्वितीया] का प्रयोग होता है। फिर भी वाक्यरचनाकी दृष्टिसे ग्रीकमे तथा सस्कृतमे एक भेद पाया जाता है। सस्कृतमे जहाँ ये कर्मप्रवचनीय

---

१. Atkinson : Greek Language p 106.

नियत रूपसे उस कर्मके बाद प्रयुक्त होते है, जिससे इनका सम्बन्ध होता है, ग्रीकमे ये सदा उसके पूर्व प्रयुक्त होते है। इसीलिए जहॉ ग्रीकमे ये पुरःसर्ग [preposition] है, वहॉ संस्कृतमे ये परसर्ग [postposition] है। संस्कृतमे 'अन्तरा द्या' जैसा प्रयोग व्याकरणकी दृष्टिसे अशुद्ध होगा।

यहॉपर परसर्गोकी उत्पत्तिपर थोडा विचार कर लिया जाय। वस्तुतः ये सभी परसर्ग [कुछको छोडकर] उपसर्गोसे विकसित हुए है। वैदिक संस्कृतमे उपसर्ग क्रियाके अविच्छेद्य अग न होकर कर्मके बाद प्रयुक्त होते थे, वैसे ये वाक्यमे किसी भी स्थानपर रख दिये जा सकते थे। वैदिक संस्कृतमे ये सदा क्रियासे अलग प्रयुक्त होते रहे है, यथा प्र नूनं पूर्णवन्धुर स्तुतो याहि [१. ९२. ३] मे, जहॉ 'प्र' लौकिक संस्कृतमे आकर याहि का अविच्छेद्य अग बनकर प्रयाहि रूप बन जाता है। इन्हीं उपसर्गोमेसे कई उपसर्ग क्रियाके अविच्छेद्य अग न रहकर परसर्ग बन गये। कुछमे उपसर्गोसे भिन्नता बतानेके लिये अन्य ध्वन्यात्मक अंश जोड दिये गये है। उदाहरणके लिए 'अभितः' तथा 'परितः' को लीजिये। वस्तुतः ये अभि तथा परि के ही विकसित रूप है, जिनमे तः [*तोस्] जोडकर ये नये रूप बना दिये गये है। बादमे जाकर इनके शुद्ध रूप क्रियाके अविच्छेद्य अग—उपसर्ग बन गये, जो अभिषिञ्चति, परिषिञ्चति मे स्पष्ट है, किन्तु ये '–तः' वाले रूप 'कर्मप्रवचनीय' बन गये है। यह उपसर्गोका दो प्रकारका विकास हमे लौकिक संस्कृतमे कहीं कहीं स्पष्ट दिखाई देता है। उदाहरणके लिए अनु को लीजिए, यह अनु जब उपसर्ग [क्रियाके अग] के रूपमे प्रयुक्त होता है, तो क्रियाकी स ध्वनिको ष बना देता है, अनुषिञ्चति। किन्तु यदि वह उपसर्गके रूपमे प्रयुक्त नहीं होता, तो क्रियाकी 'स' ध्वनि अविकृत रहती है, अनु सिञ्चति। ग्रीकमे प्रोस् [pros] [सं० प्र], एपि [epi] [सं० अपि], परा [para] [सं० परा], हुपो [hupo] (सं० उप], अव [awa] [सं० अव], हुपेर [huper] [सं० उपरि], पेरि [peri]

[सं० परि], अम्फि [amphi] [सं० अभि] के योगमें कर्मकारक [accusative case] का प्रयोग पाया जाता है। हम देखते हैं कि उपसर्गोंमें से अधिकांश संस्कृतमें कर्मवचनीय रूपमें प्रयुक्त होते हैं। संस्कृतसे इस प्रकारके प्रयोगके कुछ उदाहरण दे देना ठीक होगा। संस्कृत व्याकरणके प्रसिद्ध वार्तिक 'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' के आधार पर इन उदाहरणोंको ले लें।

[१] अभितः कृष्णं देवाः।

[२] विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति।

[३] हा देवदत्तम्।

'हा' का प्रयोग इसी ढंगका ग्रीकमें भी पाया जाता है, जहाँ इसका होस् [hos] रूप पाया जाता है।

इसके पूर्व कि करण, सम्प्रदान तथा अपादानको लें, पहले संबंध या षष्ठी विभक्तिको ले लें। संबंधको संस्कृत वैयाकरण कारक नहीं मानते। इसका कारण यह है कि कारक वह है, जिसका क्रियासे साक्षात् संबंध हो। षष्ठी विभक्तिका संबंध किसी संज्ञा या नाम शब्दसे होता है, यथा "**दशरथस्य पुत्रः लङ्कायां बाणेन रावणं जघान**" में **दशरथस्य** का **जघान** से कोई संबंध नहीं है, उसका संबंध **पुत्रः** से है। वस्तुतः षष्ठ्यन्त संबंधीका सम्बद्ध नाम शब्दसे वही संबंध होता है, जो क्रियाका अपने कर्मसे होता है। किसी संज्ञा या नाम शब्दसे अन्य संज्ञा या नाम शब्दके साक्षात् संबद्ध होनेपर प्रथम संज्ञा या नाम शब्द षष्ठ्यन्त होता है। किन्तु कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं, जिनमें कर्म षष्ठ्यन्त पाया जाता है। पाणिनिके प्रसिद्ध सूत्र "**अधिगर्थदयेषां कर्मणि**" में इसका संकेत किया गया है। **मातुः स्मरणम्, सर्पिषो दयनम्** में कर्म षष्ठ्यन्त है। अथवा जैसे, "**अद्यापि तद्गजघटापटलस्य शेते, भीत्या स्मरन् हरिं रहोऽतलमंदुरायाम्**" में **गजघटापटलस्य** में **स्मरन्** के कारण ही षष्ठीविभक्ति कर्मकी द्योतक है। ग्रीकमें भी कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं, जिनमें कर्म [object] में संबंध कारक [Genative Case] पाया जाता है।

ये क्रियाएँ भक्षार्थक, स्पर्शार्थक, इच्छार्थक, शासनार्थक तथा अनुभवार्थक हैं।[1] षष्ठी विभक्तिका प्रयोग कुछ अव्ययोके साथ भी पाया जाता है, उदाहरणके लिए 'उपरि' के साथ, यथा "दक्षिणस्या भ्रुव उपरि"; "तस्योपरिष्टात् पवनावधूत"। ग्रीकमे भी जब हुपेर [huper] का प्रयोग "ऊपर" अर्थमे होता है, तो सबधी नाम शब्द सबध कारकमे ही होता है। षष्ठी विभक्तिका अन्य कई स्थलोपर प्रयोग होता है, जिनमे विशेष महत्त्वपूर्ण प्रयोग निष्ठा प्रत्ययके साथ विकल्पसे तृतीया तथा षष्ठीका है। जहाँ निष्ठा प्रत्ययका प्रयोग समस्त शब्दमे हो गया है [प्रायः बहुव्रीहि समासमे], वहाँ यदि नाम शब्दका सबध निष्ठा प्रत्ययके कर्ताके रूपमे है तो तृतीया होगी, किन्तु यदि उसका सबध निष्ठा प्रत्ययसे न होकर समासके अन्य पदसे है, तो षष्ठी विभक्ति होती है :—

[१] प्रतीहार्या गृहीतपञ्जर [तृतीया], [२] श्रुतदेहविसर्जनः पितुः [षष्ठी]।

तृतीया विभक्तिका प्रयोग करणके अर्थमे होता है। कर्मवाच्यमे क्रियाका कर्त्ता भी तृतीयान्त होता है, इसे हम बता चुके हैं। कई ऐसे परसर्ग भी हैं, जिनके पूर्व तृतीया विभक्ति पाई जाती है। सह, समं, सार्धं, विना, नाना आदि कईके साथ तृतीयाका प्रयोग होता है। इसमे सह, समं, सार्धं का प्रयोग पाया भी जाता है, ये लुप्त भी हो सकते हैं। पित्रा समं गतः पुत्रः मे समं का प्रयोग पाया जाता है। देवो देवेभिरागमत् जैसे प्रयोगोमे ये लुप्त हैं। ग्रीकमे ठीक ऐसा ही प्रयोग 'सुन्' [sun] का पाया जाता है। ये दोनो प्रा० भा० यू० *सम्̥ [*sem̥] से विकसित माने जा सकते हैं। ग्रीकमे वैसे तृतीया [करण, instrumental] तथा सप्तमी [अधिकरण locative] दोनो ही चतुर्थी [सम्प्रदान, dative] मे समाहित हो गई हैं, अतः वहाँ 'सुन्' के साथ सम्प्रदानका प्रयोग पाया जाता है।

---

१ Atkinon Greek Language P. 114

चतुर्थीका प्रयोग सम्प्रदानके अर्थमें होता है। वस्तुतः यह "दानार्थक" क्रियाका गौण कर्म होता है, यथा 'ब्राह्मणाय गां ददाति' में। दानार्थक क्रियाके अतिरिक्त कभी-कभी कथनार्थकमें भी इसका प्रयोग पाया जाता है। संस्कृतमें क्रुध्, द्रुह्, ईर्ष्या, असूया अर्थवाली क्रियाओंके कर्म भी चतुर्थीमें पाये जाते हैं:—क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः। कुछ ऐसे भी परसर्ग और शब्द हैं, जिन्हें चतुर्थीका कर्मप्रवचनीय कहना अनुचित न होगा। इनका उल्लेख "नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च" इस प्रसिद्ध सूत्रमें हुवा है। आधुनिक यूरोपीय भाषाओंमें जर्मनमें चतुर्थी विभक्ति या सम्प्रदान कारक पाया जाता है। कई पुरःसर्गोंके बाद जर्मनमें संज्ञा या सर्वनाम सम्प्रदान कारकमें होता है। इख कान निख़्त ओह्ने इह्न गेहेन [Ich kann nicht ohne ihn gehen] [मैं उसके बिना नहीं जा सकता], में 'इह्न' [ihn] में कर्मकारक [accusative case] है, जो ओह्ने [ohne] के साथ प्रयुक्त होता है। लेकिन वोन [von] के साथ सम्प्रदान कारक [dative Case] पाया जाता है, यथा नेह्मेन सी दास बुख़ वोन इह्म [Nehmen Sie das Buch von ihm] [उससे किताब ले लो।] ध्यान दीजिये 'इह्न' [ihn] कर्मकारकमें है, तो इह्म [ihm] सम्प्रदान कारकमें।

पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग अपादानमें पाया जाता है, यथा वृक्षात् पर्णं पतति में। पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग दो वस्तुओंकी तुलना कर एककी निकृष्टता और दूसरेकी उत्कृष्टता बतानेके लिए भी होता है—पापीयान् अश्वाद् गर्दभः। कुछ ऐसे परसर्ग भी हैं, जिनके साथ पञ्चमीका प्रयोग होता है, जैसे तस्मात् विना में। भयार्थक तथा त्राणार्थक धातुओंमें भय पैदा करनेवाले हेतुका अपादानमें प्रयोग होता है—[भीत्रार्थानां भयहेतुः], यथा, कृष्णाद् बिभेति कंसः; कंसात् त्रायते गोपान् कृष्णः।

सप्तमीका प्रयोग अधिकरणके अर्थमें पाया जाता है, जैसे गृहे तिष्ठति में। कभी कभी वैदिक संस्कृतमें उप के साथ सप्तमीका प्रयोग पाया जाता

है, यथा उप सूर्ये। ग्रीकमें भी हुपो तथा प्रोस्‌के साथ अधिकरण कारकका प्रयोग देखा जाता है। जैसा कि हम बता चुके हैं ग्रीकमें अधिकरण कारक, सम्प्रदानमें समाहित हो गया है, वस्तुतः वहाँ सम्प्रदान कारक पाया जाता है, जो अधिकरणका भी काम करता है। संस्कृतकी सप्तमी विभक्ति किसी क्रियाके देश तथा कालकी बोधक होती है।

संज्ञाओंकी भाँति ही संस्कृतके सर्वनाम शब्दोंका वाक्यगत प्रयोग देखा जाता है। लौकिक संस्कृतमें सर्वनामोंके प्रयोगमें एक विशेषता पाई जाती है, कि 'अस्मत्', 'युष्मद्' शब्दोंके वैकल्पिक रूपों—मा, वा, मे, ते आदिका प्रयोग वाक्यके आदिमें नहीं होता, जैसे आगतस्ते पिता वाक्य शुद्ध है, किन्तु ते पिता आगतः के स्थानपर तव पिता आगतः [त्वत्पिता आगतः] शुद्ध माना जायगा।

विशेषणोंका प्रयोग संस्कृतमें ठीक संज्ञा जैसा ही होता है। ये उसी लिंग, वचन तथा विभक्तिमें प्रयुक्त होते हैं, जो लिंग, वचन तथा विभक्ति विशेष्य नाम शब्दकी होती है, यथा, कृष्ण. पुरुषः, कृष्णा स्त्री, कृष्णं वस्त्रं आदिमें।

अब हम परस्मैपद तथा आत्मनेपदके वाक्यगत प्रयोगकी ओर आते है। ग्रीकमें भी ये दोनों प्रकारके पद पाये जाते हैं, जो वहाँ क्रमशः "एक्टिव" एवं "मिडिल वॉयस" कहलाते है। आरंभमें आत्मनेपदका प्रयोग प्रायः कर्त्ताके अपने आप क्रियाफलके भोक्ता होनेके अर्थमें होता था, किन्तु धीरे-धीरे परस्मैपद तथा आत्मनेपदका इस प्रकारका भेद नष्ट हो गया। लौकिक संस्कृतमें आकर हम देखते है कि कुछ क्रियाएँ [धातु] केवल परस्मैपदी है, कुछ केवल आत्मनेपदी। कुछ क्रियाएँ ऐसी भी है, जिनके रूप दोनों प्रकारके पदोंमें पाये जाते है। ये उभयपदी धातु है। लौकिक संस्कृतमें यह भी देखा जाता है कि कुछ उपसर्गोंके प्रयोगसे धातुका पद भी बदल जाता है। उदाहरणके लिए √स्था धातुको लीजिये। इस धातुके पूर्व सम्, अव, प्र, वि उपसर्गोंमेंसे किसी एकके होनेपर, यह धातु आत्मनेपदी बन जाता है, [समवप्रविभ्यः स्थ.]। इसके उदाहरण संतिष्ठते, अवतिष्ठते,

वितिष्ठते, प्रतिष्ठते; संतस्थे, अवतस्थे, वितस्थे, प्रतस्थे दिये जा सकते हैं, अन्यथा परस्मैपदके रूप तिष्ठति, तस्थौ बनते है। इसी प्रकार √ जि धातुके पूर्व वि, परा उपसर्ग होनेपर आत्मनेपद होता है, [विपराभ्यां जेः], जयति; विजयते, पराजयते। इस प्रकार हम देखते है कि परस्मैपद तथा आत्मनेपदका अब लौकिक सस्कृतमे ठीक वही रूप नहीं रह गया है, जो मूलतः था। ठीक ऐसा ही परिवर्तन ग्रीकमे भी हो गया है। ग्रीकमे तो यहाॅ तक पाया जाता है कि कुछ धातु जो वस्तुतः 'एक्टिव वॉयस' के है, उनके भविष्यत् [Future Indefinite] रूप 'मिडिल वॉयस' मे पाये जाते है, तथा कुछ धातु जो वस्तुतः 'मिडिल वॉयस' [आत्मनेपदी] है, उनके परोक्षभूत 'एक्टिव वॉयस' [परस्मैपदी] है।[1] उदाहरणके लिए सस्कृत √ दृश् धातुके समानान्तर ग्रीक धातुको ले ले। इसका उत्तम पुरुष एकवचनका वर्तमान कालिक [Present Indefinite, सस्कृत लट्] रूप "दर्कोमइ" [dekomai] [सं० *दृशे [पश्यामि]] है, जो वस्तुतः मिडिल वॉयसका रूप है। किन्तु इसका परोक्षभूत रूप ग्रीकमे ददार्क [dedorka] [स० ददर्श] पाया जाता है, जो एक्टिव वॉयसका रूप है। सस्कृतमे दृश् के स्थानपर पश्य् के आदेशके भाषावैज्ञानिक तथ्य का सकेत हम पूर्ववर्त्ती परिच्छेदमे कर चुके है। वैदिक सस्कृतसे भी इसी ढगका एक दूसरा उदाहरण दिया जा सकता है, जहाॅ वर्तते के साथ ही साथ उसका लिट् रूप ववर्त भी पाया जाता है। सस्कृतमे ये दोनो, आत्मनेपद तथा परस्मैपद कर्तृवाच्यमे प्रयुक्त होते है।

कर्मवाच्य रूपोका प्रयोग प्रा० भा० यू० मे नही होता था। किन्तु ज्यो-ज्यो सभ्यताका विकास हुआ, भावोकी अभिव्यजनाके लिए इसकी आवश्यकता हुई, इसकी पूर्तिके लिए कोई न कोई प्रणालीका आश्रय लिया गया। ग्रीकमे प्रायः अकर्मक आत्मनेपदी क्रियाओके द्वारा कर्मवाच्यका

---

१ Atkinson. Greek Language p 139.

बोध कराया जाने लगा। उदाहरणके लिए तिथेमि [tithemi] [सं० दधामि] के कर्मवाच्यका बोध केइमइ [keimai] [धीये] [मैं धारण किया जाता हूँ] के द्वारा कराया जाने लगा। संस्कृतने भी वैसे तो कर्मवाच्यके लिए आत्मनेपदी रूपोंका ही आश्रय लिया, किन्तु इसमें धातुके मूल रूपके साथ बीचमें 'य' का प्रयोग भी जोड़ना आरंभ किया। यथा संस्कृत **पठति, गच्छति, ददाति** से क्रमशः **पठ्यते, गम्यते, दीयते** रूप बनाये गये। ध्यान रखिये, संस्कृतके कर्मवाच्य सदा आत्मनेपदी होते हैं, परस्मैपदी नहीं। इन्हींसे संबद्ध वे धातु हैं, जिनके भाववाच्य रूप मिलते हैं। ये भाववाच्य रूप क्या हैं? जिन धातुओंको सकर्मक श्रेणीमें रक्खा जाता है, उनके कर्मवाच्य प्रयोगमें कर्त्ता तृतीया विभक्तिमें तथा कर्म प्रथमा विभक्तिमें होता है, यथा **तेन पुस्तकं पठ्यते** में। इसमें क्रियाका पुरुष तथा वचन कर्मके अनुकूल होता है। किन्तु अकर्मक क्रियाओं[1] के भी कर्मवाच्य जैसे आत्मनेपदी रूप पाये जाते हैं। इन्हें भाववाच्य रूप कहते हैं। वाक्यरचनाकी दृष्टिसे इनमें तथा कर्मवाच्य रूपोंमें यह भेद होता है कि इनका कर्त्ता तो तृतीयान्त होता है, किन्तु कर्मके अभावके कारण क्रिया सदैव प्रथम पुरुष एकवचनमें होती है—यथा **मया स्थीयते, तेन भूयते, रामेण शीयते, तैर्म्रियते, अस्माभिः जीयते** आदिमें।

काल तथा लकारके वाक्यगत प्रयोगकी ओर आते हुए हम देखते हैं कि संस्कृतमें तीन काल तथा दस लकार पाये जाते हैं। यहाँ हमने वैदिक लकार लेट्को अलगसे नहीं माना है। वर्तमानके लिए लट् लकारका प्रयोग होता है, किन्तु यह वर्तमान कई भावोंका बोध करानेके लिए प्रयुक्त होता है। सर्वप्रथम यह किसी शाश्वत सत्यका बोध कराता है, यथा जले

---

१. लज्जा-सत्ता स्थिति-जागरणं वृद्धिक्षयभयजीवितमरणम्।
शयनक्रीडारुचिदीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः॥

पश्च उत्पद्यते। दूसरे, यह वर्तमानकालिक क्रियाका बोध कराता है, य
अहं ओदनं भुञ्जे। इसका तीसरा प्रयोग ऐतिहासिक रूपमें अतीत
घटनाओंके वर्णनके लिए पाया जाता है, यथा अस्ति ब्रह्मस्थलं नाम नगरं
तत्र काचित् दीना ब्राह्मणी प्रतिवसति। संस्कृतमें यावत् तथा
के योगमें वर्तमान कालका प्रयोग पाया जाता है [यावत् पुरानिपात
लंट्]। ऐसी ही विशेषता ग्रीक तथा लैतिनमें भी पाई जाती है। ग्री
परास् [paros] [सं० पुरा] तथा पलइ [palai] के योगमें क्रिया
वर्तमानकालमें पाई जाती है। वर्तमान फ्रेंचके बोलचालमें इस प्रका
प्रयोग पाया जाता है, जहाँ वर्तमान कालका प्रयोग भूतकालके अर्थमें
है, जब कि कार्य पूर्णतः समाप्त नहीं हुवा है, यथा 'जे स्विज़िसी दे
लॉ तॉप [Je suis ici depuis long temps] [मैं यहाँ
देर से हूँ।] इसी भावके बोधनके लिए प्रा० भा० यू० में परोक्ष
लिट्का प्रयोग होता था।

इस सबधमें हम पहले परोक्षभूते लिट् को ले लें। जैसा कि हम
आये हैं 'लिट्' का प्रा० भा० यू० प्रयोग शुद्ध भूतकालिक न था। साथ
वैदिक साहित्यमें भी इसका प्रयोग वर्तमानके अर्थमें होता रहा है। लौ
सस्कृतमें आकर यह 'लिट्' लकार उस भूतकालिक घटनाके लिए प्र
होने लगा, जो हमारे परोक्षमें हुई है। किन्तु यहाँ परोक्षका तात्पर्य
कालसे है, जब वक्ता उस समय उत्पन्न ही न हुवा हो जब कि घटना घ
हुई थी। अतः वक्ताके जीवनकालमें हुई घटनाके लिए लङ् लकारका
लुङ् का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार लौकिक सस्कृतमें आकर लि
प्रयोग अर्थ की दृष्टिसे बहुत सकुचित हो गया है। अतीतकी प्रत्यक्ष घट
वर्णनमें लिट्का प्रयोग लौकिक सस्कृतमें अशुद्ध माना जाने लगा
'रामो रावणं जघान'' का लिट्वाला प्रयोग शुद्ध है, किन्तु "अहं क
जगाम'' का प्रयोग अशुद्ध माना जायगा। किन्तु इसका यह अर्थ
कि लिट् लकारका प्रयोग उत्तम पुरुषके साथ कभी भी प्रयुक्त नहीं होत

प्रयोग उस घटनाके लिए होता है, जो आज घटित नहीं हुई है, तथा लुङ्का प्रयोग किसी भी भूतकालिक घटनाके लिए हो सकता है। किन्तु लङ् तथा लुङ्का प्रा० भा० यू० रूप थोडा भिन्न था। ग्रीकमें यह भिन्नता पाई जाती है। वहाँ लङ् [Imperfect] क्रियाकी अपूर्णावस्थाको व्यक्त करता है, तो लुङ् [Aorist] क्रियाकी पूर्णता को।

भविष्यत् कालके लिए संस्कृतमें दो लकार पाये जाते है, लृट् तथा लुट्। वैसे तात्त्विक दृष्टिसे इनके प्रयोगमे विशेष भेद नहीं जान पडता। सस्कृतमें अधिकतर वाक्यगत प्रयोग 'लृट्' का ही देखा जाता है। इसीसे रूपकी दृष्टिसे मिलता जुलता हेतुहेतुमत् है, जो हेतु वाक्य तथा हेतुमत् वाक्य दोनोंमें भूतकालिक स्थितिको बतानेके लिए किया जाता है। इन वाक्योंमे "यदि" तथा "तर्हि" [तदा] का प्रयोग समुच्चयबोधक अव्ययके रूपमें होता है, यथा **"यदि त्वमपठिष्यः तर्हि परीक्षामुदतरिष्यः"**। जैसा कि हम बता चुके है लृङ् वस्तुतः लृट् तथा लङ् रूपोंके योगसे बना है।

अब हमारे सामने तीन लकार और रह जाते हैं, आज्ञार्थे लोट्, विधिलिङ् तथा आशीर्लिङ्। जैसा कि हम बता आये है, आज्ञाबोधक तथा विध्यात्मक प्रयोग प्रा० भा० यू० मे पाये जाते थे। आज्ञात्मक रूपोंमें कोई तिङ् चिह्न नहीं पाया जाता था। सस्कृतका आशीर्लिङ् विधिलिङ्का ही विकसित रूप है। सस्कृत वाक्य रचनामें अधिकतर विधिलिङ्का प्रयोग देखा जाता है। कभी कभी विधिके लिए आशीर्लिङ्का तथा 'आशीः' के लिए विधिलिङ्का प्रयोग भी देखा जाता है। लोट्का प्रयोग अवश्य स्वतन्त्र है। वस्तुतः लोट् आज्ञा या 'मिलिट्री कमाण्ड' के भावका वहन करता है। लिङ्में वक्ता केवल अपनी इच्छा प्रकट करता है। यहाँ लोट्के विषयमें एक बात कह दी जाय। संस्कृत वाक्यरचनामें लोट्के साथ निषेधार्थक रूपमें **'मा'** [**माङ्**] का प्रयोग पाया जाता है। इस आज्ञार्थक रूपमें कभी-कभी **मा** के साथ 'लुङ्' का भी प्रयोग पाया जाता है, किन्तु

इस दशामे **माङ्** के योगमे लुङ्के **अ** आगमका लोप हो जाता है। उदाहरणके लिए, **वत्से मा गा विषादं** वाक्यको ले लें, यहाँ क्रियाका मूल रूप 'अगाः' है, जहाँ मा के कारण अ का लोप हो गया है। ध्यान रखिये, यह अगाः व्याकरणके मतानुसार √इण् [इण् गतौ] के लुङ्का रूप है [इणो गा लुङि], किन्तु भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे इसका सबंध किसी न किसी रूपमे √**गम्** धातुसे अवश्य रहा होगा, इसका संकेत हम कर आये हैं। वस्तुतः यह गमनार्थक √गा धातुका रूप है, जो √**गम्** का ही सबल रूप है तथा जिसका प्रयोग लौकिक संस्कृतमे लुप्त हो गया है। यह जुहोत्यादि-गणका धातु था जिसके रूप **जिगाति** आदि होते थे।

जैसा कि हम अगले परिच्छेदमे बतायँगे सारल्यप्रवृत्तिके कारण संस्कृतकी वाक्यरचना तथा उसके कारक-नियम धीरे-धीरे सरलता की ओर बढने लगे। प्राकृतने फिर भी संस्कृत वाक्यरचनाकी परम्पराको एक तरहसे अक्षुण्ण बनाये रक्खा। अपभ्रंश कालमे सुप् चिह्न घिसकर परसर्गोंका रूप ले रहे थे, भाषा विश्लिष्ट प्रवृत्तिकी ओर बढ़ रही थी, फलतः संस्कृत वाली वाक्यपरम्परामे परिवर्तन दिखाई देता है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंने इसी विश्लिष्ट प्रवृत्तिका आश्रय लिया है। यही कारण है कि हमें संस्कृतकी वाक्यरचना आजकी भाषाओं व बोलियोंकी वाक्यरचनासे भिन्न दिखाई देगी। किन्तु आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंकी व्यवहित प्रवृत्तिके मूलके लिए हमें संस्कृत वाक्यरचनाका पर्यवेक्षण करना आवश्यक होगा।

संस्कृतका परवर्ती विकास

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "लेग्वेज, इट्स नेचर, डेवलपमेंट एन्ड ऑरिजिन" [भाषा, उसकी प्रकृति, विकास तथा उद्भव-स्रोत] की भूमिका[1] में एक स्थान पर भाषाविज्ञानको ओत्तो येस्पर्सनने भाषात्मक प्राणिशास्त्र [linguistic biology] कहा है। भाषावैज्ञानिकोंका अभिनवतम दल भाषाके जीवनको विकासशील मानता है, साथ ही यह भी कि भाषाके जीवनमें उसका व्यवहार करनेवाली मानव-जातिका इतिहास, उस जाति-विशेषका विकास तरलित रहता है। यही कारण है कि भाषाविज्ञान समाज-विज्ञानका महत्त्वपूर्ण अंग है। भाषाके विकासको गति देनेमें राजनीतिक, भौगोलिक, साहित्यिक कई परिस्थितियाँ हाथ बँटाती हैं। विशेषकर भाषाको रूढ रूप देनेमें साहित्य बहुत हाथ बँटाता है। किन्तु दूसरी ओर इसी कारणसे भाषाकी नैसर्गिकता फूट निकलती है। ज्यों ज्यों व्याकरणके नियमोंके द्वारा भाषाके वास्तविक रूपको मार्जित, परिष्कृत, प्रौढ तथा साहित्यिक रूप देनेका प्रयत्न किया जाता है, त्यों-त्यों भाषाका रूढ रूप स्थिर या "मृत" हो जाता है, पर बोलचालकी भाषाकी गत्यात्मकता जारी रहती है, उसमें कोई अवरोध नहीं होता। अब प्रश्न यह होता है, कि भाषाकी गत्यात्मकताकी विशेषता क्या है, और इसे हम एक शब्दमें यों कह सकते हैं कि भाषाके विकासकी सबसे बड़ी विशेषता विशेषीकरण [Specialization] है। यदि आप किसी भी प्राणिशास्त्रीसे पूछें कि प्राणियोंकी विभिन्न जातियों [Species] के विकासमें प्रमुख विशेषता क्या है, तो सभवतः वह यही बतायेगा कि प्रत्येक प्राणी अपने वर्गकी सीमाके अंतर्गत

---

१ Otto Jespersen . Language, its Nature, Development and Origin P 8.

विशेषीकरणकी ओर अग्रसर होता है। इस विशेषीकरणमें, जितनी भी अव्यवहृत तथा अनावश्यक वस्तुएँ हैं, वे नष्ट होती रहती हैं। उदाहरणके लिए प्राणिशास्त्रके "सरीसृप-वर्ग" [रेप्टाइल्स] के इतिहासको देखिये। प्राणिशास्त्रियोंका कहना है कि हजारो वर्ष पूर्व इन प्राणियोंके छोटे-छोटे पॉव होते थे, किन्तु धीरे धीरे ये पेटके बल चलने लगे और वैसे इस जातिके कई प्राणियोंमें जैसे मगर आदिमें अब भी पैर होते ही है। पर इनमेंसे कुछ उपवर्गके प्राणियोमें आज पैर नहीं पाये जाते, जैसे सर्प उपवर्गके प्राणियोंमें।[1] इसी प्रकार भाषामें ज्यों-ज्यों विकास होता है, अव्यवहृत तथा अनावश्यक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं, वह सरलताकी ओर बढती जाती है।

ओत्तो येस्पर्सनने एक अन्य स्थानपर कहा है—"भाषाकी यह सरलता-प्रवृत्ति विकासवती तथा लाभदायक है, इस बातको पुरानी पीढीके भाषा-वैज्ञानिकोंने उपेक्षित ही समझा, क्योकि प्राचीन भाषाओंके रूपमें उन्होंने एक रम्य सुव्यवस्थित विश्वका दर्शन किया और वे उसके आदी हो गये थे, फलतः उन्होने उस व्यवस्थाका नवीन भाषाओंमें अभाव पाया।"[2] चाहे पुराने विद्वान् भाषाकी इस सारल्य-प्रवृत्तिको ह्रास समझे, भाषाके भ्रष्ट होनेका लक्षण माने, भाषावैज्ञानिक तो इस प्रवृत्तिको भाषाके विकासके लिए उपयोगी ही समझता है। भाषावैज्ञानिक भाषाके निरन्तर प्रवहमान

---

१ प्राणिशास्त्रमें इसी सबंधमें एक सिद्धान्त है, जो लेमार्कियन थियरीके नामसे प्रसिद्ध है। यह मत [Theory of use and disuse] कहलाता है। इसके मतानुसार प्राणियोंके वे अग जो ज्यादा काममें आते हैं विकसित और अभिवृद्ध होते हैं, और वे जो काममें कम आते हैं या नही आते, नष्ट होते जाते हैं। उसके मतसे ऊँट या जिराफकी लबीगर्दन भी ज्यादा काममें आनेका ही फल है। पर अब लेमार्कके सिद्धान्तका मेण्डेलके 'हेरेडिटरी लाज' [Hereditary Laws] [पैतृक नियम] के द्वारा खडन हो गया है।

२ Otto Jespersen Language. ch XVIII. P 366

निर्झरको ही नैसर्गिक रूप मानता है, व्याकरणके आलवालसे परिवेष्टित कलुषित पल्वलवाले रूढ रूप को नहीं। और इस दृष्टिसे पुरानी भाषाओंको, जो आज प्रवहमान निर्झरकी स्थितिमें नहीं है, वह "मृत" कहता है, तो इसमें उसका यही भाव है, तथा लोगोंको इसमें कोई आपत्ति होनेकी गुंजायश नहीं। "मृत" विशेषणसे उसका यह भाव नहीं, कि ये विगत साहित्यिक रूढ भाषायें अब अध्ययनकी चीज नहीं है। अपितु भाषा-वैज्ञानिकके लिए उनके अध्ययनका बहुत बडा महत्त्व है, वह उसके वैज्ञानिक अध्ययनकी निश्चित दृढ आधार-भित्ति जो है। भाषावैज्ञानिकके लिए ही नहीं, समाजवैज्ञानिकके लिए भी इन "मृत" भाषाओंके साहित्य तथा भाषावैज्ञानिक स्वरूपका अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है, इसे भूल जाना भ्रान्त दिशाकी ओर ही ले जायगा।

तो, येस्पर्सन के द्वारा संकेतित सारल्य-प्रवृत्ति भाषा के विकासकी जान है। हम देखते है कि आधुनिक ग्रीक, होमर या अरस्तूकी ग्रीककी अपेक्षा कम जटिल है। इसी प्रकार आधुनिक फारसी, अवेस्ताकी भाषा, या पहलवी [प्राचीन फारसी] से अधिक सरल है। ठीक यही बात संस्कृत तथा उसके परवर्ती विकासके बारेमें देख सकते है। यदि जटिलताकी दृष्टिसे देखा जाय तो भा० यू० परिवारमें संस्कृतका व्याकरणात्मक संघटन सबसे अधिक जटिल है। इस दृष्टिसे ग्रीक या लैतिन भी संस्कृतसे कम जटिल है। इसका संकेत हम यत्र तत्र दे चुके है। आधुनिक यूरोपीय भाषाओंमें व्याकरणात्मक दृष्टिसे रूसी तथा जर्मन कुछ जटिल हैं, संस्कृत उनसे भी जटिलतर है। पर संस्कृतका परवर्ती विकास धीरे-धीरे व्याकरणात्मक [ध्वन्यात्मक भी] सरलता की ओर बढ़ता है। जैसा कि हम देखेंगे प्राकृतकालमे व्याकरणात्मक सारल्य बढ गया और अपभ्रंशकालमे तो आजकी व्यवहित प्रवृत्ति पाई जाने लगी। संस्कृतकी अपेक्षा शौरसेनी एवं मागधी विशेष सरल है, और आजकी हिन्दी या बंगाली इन सभीसे अधिक सरल है। इसका कारण यह है कि आधुनिक [वर्तमान] भारतीय भाषाएँ अपने प्राचीन रूपोंको

छोडती हुई विशेष सारल्य तथा विशेषीकरणकी ओर बढ गई हैं। उदाहरणके लिए सुप्–तिङ् रूपोको लीजिये। सस्कृतके इन रूपोकी जटिलता कम हो गई है। द्विवचन प्राकृतकालमें ही लुप्त हो गया है, प्राकृतकालमे चतुर्थी-षष्ठी, पञ्चमी-तृतीयाका समाश्लेष हो गया है। यह सरलता इतनी बढी कि आधुनिक भारतीय भाषाओमे दो ही विभक्ति रूप रह गए हैं :—अविकारी तथा विकारी। इनमे सबधतत्त्वका बोधन करानेके लिए "परसर्गों' [postpositions] का विकास हो गया है, जो कभी सुप् चिह्नोसे, कभी किन्हीं अव्ययोसे विकसित हुए हैं। लिंगोंकी दृष्टिसे हम देखते हैं कि नपुसक लिगका लोप हो गया है। इसी प्रकार तिङ् रूपोंका भी विशेषीकरण हो गया है। हिन्दीके वर्तमानके रूप शतृप्रत्ययान्त रूपोसे विकसित हुए हैं, तो भूत एव भविष्यत्के[1] रूप क्त प्रत्ययान्त रूपोसे।

सस्कृतके परवर्ती विकासको भाषावैज्ञानिकोने तीन स्थितियोमे माना है :—[१] प्राकृत-कालीन विकास, [२] अपभ्रश-कालीन विकास, [३] आधुनिक भाषागत विकास। इन्हे हम क्रमशः प्राकृत, अपभ्रश तथा आधुनिक भाषाएँ इन तीनके अन्तर्गत समाविष्ट करते हैं। वैसे प्रत्येकके अन्तर्गत भी विकासकी कई स्थितियाँ रही होंगी, जिनमेंसे कुछका सकेत भाषावैज्ञानिकोने किया है। यहाँ हम सस्कृतके परवर्ती विकासको दो भागोंमे विभक्त करेंगे :—[१] **मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ**, [२] **आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ**। इन्हींको दृष्टिमें रखकर इस विकासका अध्ययन किया जायगा।

× × ×

संस्कृतकी वैदिक कालीन विशेषताओंका सिंहावलोकन :—

इसके पहले कि हम सस्कृतके परवर्ती विकासको ले, दो बातोंको समझ लेना जरूरी होगा—पहले तो वैदिक भाषाकी कुछ विशेषताओंका सकेत,

---

१. हिन्दी भविष्यत्का 'गा' सस्कृत "गत." के क्तप्रत्ययान्त रूपसे विकसित हुवा है।

तथा दूसरे, संस्कृतमे कौन-कौन विजातीय तत्त्व आकर प्राकृतवाले विकासमे सहायक हुए है। यहाँ हम प्रथमको ले रहे है।

जैसा कि हम देखते है ऋग्वेदके मन्त्रोकी भाषा प्राचीनतम भारतीय भाषा है। यह भाषा अवेस्ताकी भाषाके अत्यधिक निकट है, तथा प्रा० भा० यू० "ग्रुन्दस्प्राख" [Grundsprache] का पूर्णतः प्रतिनिधित्व करती है। इसीका विकसित रूप लौकिक संस्कृत तथा प्राकृत[1] है। अवेस्ताकी प्राचीनतम भाषा अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे वैदिक संस्कृतसे भिन्न नहीं मानी जा सकती। देखा जाय तो वह कालिदासकी संस्कृतसे वैदिक भाषाके कहीं अधिक नजदीक है। ऋग्वेदकी भाषा आज भी विश्वस्त रूपमे मिलती है, उसका अपरिवर्तित रूप आज तक सुरक्षित रहा है। किन्तु, फिर भी कुछ स्थलोपर ऋग्वेदकी भाषाको ठीक उसी रूपमे नहीं लेना होगा, जो हस्तलेखोमे रहा है। जैसा कि हम बता आये है, ऋग्वेद कालकी भाषामे कई कालकी कई विभाषाओका संग्रह मानना होगा। सम्पूर्ण ऋग्वेदको दस मण्डलोमे विभक्त किया गया है। यह मण्डल-विभाजन ऐतिहासिक आधार पर है, पर इसमे कुछ अपवाद भी है। द्वितीयसे लेकर सप्तम मण्डल तक "गोत्र-मण्डल" कहलाते है। इन गोत्र मण्डलोमे प्रत्येक मण्डलके सारे मन्त्र एक ही गोत्रके ऋषियोके बनाये हुए है, यथा, सप्तम मण्डलके ऋषि वशिष्ठ गोत्र-वाले है, इसी तरह द्वितीय मण्डलके ऋषि गृत्समद गोत्रके है, तो तृतीयके विश्वामित्र गोत्र के। द्वितीयसे सप्तम मण्डल तकके ऋग्वेदांशकी भाषा प्राचीन-तम है। प्रथम तथा दशम मण्डलमे कुछ भाग प्राचीन है, कुछ बादके। वैसे लोगोका मत है कि दशम मण्डलका प्रायः सारा ही अंश बादका है। ऐतिहासिक दृष्टिसे नवम मण्डलका विशेष महत्त्व नहीं है, क्योकि इसमे सोम देवता संबंधी सभी मन्त्रोका समावेश हो गया है। अतः, यह मण्डल

---

१. यहाँ "प्राकृत" शब्दका प्रयोग हम कुछ विस्तृत अर्थमें कर रहे हैं, जिसमें अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ भी सम्मिलित है।

"सोममण्डल" कहलाता है। अष्टम मण्डल प्राचीन तो है, पर इसमे कई गोत्रोके ऋषियोंके मन्त्र समाविष्ट हैं। यद्यपि यह निश्चित हो गया है कि ऋग्वेदकी भाषा प्राचीनतम है, तथापि वैदिक सहिताओमें आज उपलब्ध वर्तनियो [Spelling] पर पूरा विश्वास न कर उसके उच्चारण तत्त्वकी भी खोज करना होगा। यहाँ इस तरहके लिपि-उच्चारण-भेदके कुछ उदाहरणोका संकेत दिया जाता है।

वैदिक सस्कृतके **पावक** शब्दको ले लीजिये, जिसका स्त्रीलिंग रूप **पावका** पाया जाता है। पाणिनि व्याकरणके मतानुसार यह रूप **पाविका** होना चाहिए, क्योकि क प्रत्ययान्त शब्दके स्त्रीलिंग रूपोमे पूर्ववर्ती अ ध्वनि 'इ' हो जाती है, यथा **कुमारक–कुमारिका**। ऋग्वेद सहितामे यद्यपि यह शब्द **पावक** लिखा मिलता है, पर इसका उच्चारण **पवाक** होता होगा।[1] इसीलिए स्त्रीलिगमे **पावका** रूप बनता है। इसलिये यह स्पष्ट है कि वैदिक भाषाके भाषाशास्त्रीय अध्ययनके लिए यह आवश्यक है कि इसका उच्चारण कैसे होता था। ऋग्वेदसे इन दो उदाहरणोको ले ले, जो स्पष्ट कर देगे कि यहाँ छन्दके कारण **पावक** का उच्चारण **पवाक** ही होता है :—

> शोचिष्केशो घृतनिर्णिक् पावक• [३।१७।१]।
> प्रेतीषणिम् इषयन्तं पावकम् [६।१।६]।

इसी तरह जहाँ कहीं **य** तथा **व** सयुक्ताक्षरमे उत्तर ध्वनिके रूपमे पाये जाते है, वहाँ उनका उच्चारण 'इय' 'उव' होता है। यथा,

> विश्वे देवस्य नेतु मंरुतो वृणीत सख्यम्।
> विश्वे राय इषुध्यसि द्युम्नं वृणीत पुष्यसे॥ [५।५०।१]

मे **सख्यं** का उच्चारण **सखियम्** होगा। वाजसनेयी संहिता [यजुर्वेद] मे **'स्वर्'** [स्वः] को एकाक्षर [monosyllabic] माना गया है, किन्तु

---

१ Wackernagel : Altindische Grammatik vol I P XI

यजुष्‌की तैत्तरीय संहिताके पाठमें यह द्व्यक्षर [disyllabic] है, तथा इसका उच्चारण तैत्तरीय शाखामें 'सुवर्' है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मणमें **राजन्य** तथा **द्यौः** को क्रमशः चतुरक्षर [**राजनिय**] तथा द्व्यक्षर [**दियौः**] माना गया है।[1] किंतु किन्हीं-किन्हीं पदोंके उच्चारणमें यह बात नहीं पाई जाती। **सत्य, अश्व** जैसे शब्दोंका उच्चारण सदा द्व्यक्षर ही पाया जाता है। इससे एक अनुमान यह होता है, कि जहाँ **य्, व्** वस्तुतः प्रा० भा० यू० *य्, *व् से विकसित है, वहाँ उनका उच्चारण *इय् *उव् नहीं होता, किन्तु जहाँ ये संस्कृतमें **इ + अ, उ + अ** का विकास है, वहाँ इनका **इय, उव** वाला उच्चारण पाया जाता है। उदाहरणके लिए, **उक्थं वाचीन्द्राय देवेभ्यः** में **देवेभ्यः** का उच्चारण **देवेभियः** होता है।

वैदिक संस्कृतकी अन्य विशेषता **औ–आ, आसः–आः, एभिः–ऐः** वाले वैकल्पिक सुप् रूप है, जो हम देख चुके है। ये रूप **देवौ–देवा, देवासः–देवाः, देवेभिः–देवैः** जैसे वैकल्पिक रूपोंमें देखे जा सकते हैं। इसका विशद विवेचन संस्कृत पदरचनाके सम्बन्धमें किया जा चुका है। ऋग्वेदकी भाषामें अन्य विशेषताएँ ये हैः—

[१] **पद्भिः** का वहाँ **पड्भिः** रूप पाया जाता है।

[२] वहाँ **भ** ध्वनि कभी-कभी **ह** पाई जाती है :—√**गृभ्–जग्राह, 'भरति-हरति'**।

[३] स्वरमध्यगत **ड, ढ** क्रमशः **ळ, ळह** हो जाते है।

[४] पु० लि० अकारान्त शब्दोंके सप्तमी बहुवचनके रूप कभी-कभी 'ए' अन्तवाले, तथा नपुंसक अकारान्त शब्दोंके प्रथमा-द्वितीया ब० व० के रूप कभी-कभी 'आ' अन्तवाले भी पाये जाते है, यथा **त्रिषु रोचने; भुवनानि विश्वा**।

[५] ऋग्वेदमें परोक्षभूते लिट्‌के **चकार, आस** या **बभूव** वाले रूप नहीं पाये जाते। इनमें **चकार** या **आस** वाले रूप सर्वप्रथम यजुर्वेदमें मिलते

---

१. शतपथ ब्राह्मण ५।१।५।१४ तथा १४।८।१५।१

है—आमन्त्रयाञ्चकार, आमन्त्रयामास। यजुर्वेदके गद्यभाग, ऋग्वेदकी ऋचाओके बहुत बादकी रचना है, यह ध्यानमे रखनेकी बात है।

संस्कृत तथा उसके परवर्ती विकासमे विजातीय तत्त्वोका प्रभाव :—

जब आर्य भारतमे आये थे, तब यहाँ उनके पूर्व द्राविड तथा आस्ट्रिक परिवारके लोग रहते थे। इन लोगोकी अपनी अलग अलग भाषाएँ थीं। यह निश्चित है कि आर्योंकी भाषाको ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक दृष्टिसे इन भाषाओने चाहे कम प्रभावित किया हो, शब्द-सम्पत्तिकी दृष्टिसे अत्यधिक प्रभावित किया है। गोड तथा सथाल जातिके पूर्वज मुण्डा लोगोंकी भाषा 'आस्ट्रिक परिवारकी' थी। इसी परिवारकी कई बोलियाँ आज भी भारतके कई भागोमे बोली जाती हैं। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या इन्हे "कोलवर्गके" नामसे अभिहित करना ठीक समझते हैं। इनका सम्बन्ध, भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे, इन्डोनेशिया तथा आस्ट्रेलियाके निवासियोकी भाषाओसे जोडा जाता है, तथा इसे "आस्ट्रो-एशियाटिक" या "मोन-ख्मेर" भाषा-वर्गके नामसे पुकारा जाता है। मुण्डा वर्गकी भाँति ही द्राविडवर्गकी भाषाने भी उस कालमे आर्योकी भाषाको प्रभावित किया था। द्राविड लोगोकी भाषाएँ भिन्न परिवारकी मानी जाती है, तथा भाषाविज्ञानमे "द्राविड़-वर्ग" के नामसे प्रसिद्ध है। वैसे कुछ विद्वान् इन्हे "यूराल-अल्ताइ" परिवार [जिसकी प्रमुख भाषा तुर्की है] से जोडनेकी कल्पना करते है।

मुण्डा तथा द्राविड भाषाओने, जहाँ तक ध्वन्यात्मकता तथा शब्द-कोषका प्रश्न है, निःसन्देह संस्कृतको प्रभावित किया है, साथ ही आधुनिक आर्य भाषाओके, जो प्राकृत द्वारा विकसित हुई है, विकासमे भी उनका योग रहा है। किन्तु व्याकरण या पदरचनात्मक प्रभावके विषयमे विद्वानोके दो मत हैं। प्रो० टॉमसनके मतानुसार आ० आर्य भाषाओकी विभक्तियोके विशेषीकरणमे मुण्डाका ही प्रभाव है, किन्तु डॉ० स्तेन कोनो [Sten Konow] इस बातसे सहमत नहीं। वैसे स्तेन कोनो स्वयं भी बिहारी

भाषाके कुछ क्रियारूपोके विकासमें मुण्डा पदरचनाका प्रभाव मानते है।[1] ध्वनियोके विकासके सम्बन्धमें विद्वानोका मत है कि प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] ध्वनियॉ मुण्डा या द्राविड प्रभाव है, क्योकि वहॉ दोनो वर्गोमें मूर्धन्य ध्वनियॉ पाई जाती है। यही नहीं, गुजराती तथा पश्चिमी राजस्थानी एव भीलीकी "त्स [च़]" ध्वनि, सभवतः किसी मुण्डा विभाषाका ही प्रभाव है, क्योंकि भारतीय आर्य परिवारमें यह ध्वनि नहीं पाई जाती। वैसे बाल्तो-स्लाव्हिक भाषाओमे इसका अस्तित्व है, यथा रूसीमे 'त्स' [च़] [ts] ध्वनि पाई जाती है, जो उसके "त्सार" शब्दमें है, जिसका अर्थ ज़ार होता है।

आधुनिक आर्य भाषाओमे चार या बीसवाली गणना मुण्डा भाषाओ का ही प्रभाव है। साथ ही इसी गणनाके साकेतिक शब्द **गण्डा** [४], **कौडी** [२०], मुण्डा भाषाओसे आये है। इसी तरह कई ऐसे शब्द है, जिन्हे हमारे प्राकृत वैयाकरणोने देशी या देशज मानकर तत्सम तथा तद्भव कोटिसे भिन्न माना है। इनमेंसे बहुतसे शब्द मुण्डा या द्राविड शब्दकोषसे आये है। प्रो० प्रजीलुस्की [Przyluski], ब्लॉख, सिलवॉ लेवी [Sylvan Levi], तथा डॉ० चाटुर्ज्याने कई ऐसे शब्द ढूँढे है, जो सस्कृतमें मुण्डा या द्राविड़ भाषाओसे आये जान पड़ते है। इनमेंसे कुछ शब्दोका संकेत यहॉ दिया जाता है, विशेष अध्ययनके लिए डॉ० पी० सी० बागची द्वारा सम्पादित 'प्रि—आर्यन एव प्रि—द्रेविडियन' नामक पुस्तिकामें उपर्युक्त पण्डितोके लेखोको देखना चाहिए।

बाण, पिनाक दोनो सस्कृत शब्दोका सबध **पिन + आक** से जोडा जाता है। **आक, अनक, आग** शब्द इसी अर्थमे मुण्डा भाषामें पाये जाते है। वहॉ इनका अर्थ धनुष तथा बाण है।

---

१ Dr Bagchi "Pre-Aryan and Pre-Dravidian" [Introduction] p XI

है।[1] आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंमेंसे कईमें जो प्रतिध्वनि शब्द [जैसे, घोड़ा-वोडा, पैसा-वैसा, जल-वल, रोटी-वोटी, जलेबी-वलेबी] है, क्या वे मुण्डा प्रभाव तो नहीं है ?

द्राविड़ भाषाओंसे भी सस्कृतमें कई शब्द आये है। प्रो० ब्लॉखने अपने निबन्ध "संस्कृत तथा द्राविड" में इसपर प्रकाश डाला है।[2] 'घोडे' के लिए वास्तविक आर्य शब्द "अश्व" है, किन्तु बादमें संस्कृतमें **घोटक** [घोट–] शब्दका प्रयोग पाया जाता है। यह शब्द सर्वप्रथम आपस्तम्ब श्रौतसूत्रमें पाया जाता है। वस्तुतः यह द्राविड़ भाषाके **गुर्रम्** [तैलगू], **कुदुरु** [कन्नड], **कुदिरेइ** [तामिल] से सम्बद्ध है। वहाँ से पहले यह बोलचालकी प्राचीन भाषामें आया है, और बादमें सस्कृतमें भी गृहीत हो गया है। दूसरा उदाहरण हम हिन्दी **पेट** शब्द ले सकते है। सस्कृतमें इसके लिए **उदर** शब्द है। प्राकृत तथा परवर्ती भा० आ० भाषाओंमें यह शब्द नहीं विकसित हुआ है। जब कि प्राकृतमें **पेट्ट** शब्द पाया जाता है। वैसे सस्कृतने भी **पेट** शब्दको अपनाया है, पर भिन्न अर्थ में। सस्कृतके **पेटक**, **पेटिका** [संदूक, सदूकची] जैसे शब्द मूलतः इसीसे सबद्ध है। संस्कृतका **विडाल** शब्द लीजिए, जिसका प्रयोग सर्वप्रथम रामायण व महाभारतमे पाया जाता है। इसीसे हिन्दी **बिल्ली**, **बिलैय्या**, जिप्सी **व्लारी**, शब्द निकले है। इसका सबन्ध भी द्राविड शब्द **पिल्ली** [कन्नड] से माना जाकर, इसे द्राविड प्रभाव कहा गया है। सस्कृतके **गर्दभ** शब्दके विषयमें यह मत है कि इसमें दो अश है, एक मूलशब्द [***गर्द**] दूसरा–**भ** प्रत्यय। यह शब्द ऋग्वेद तकमें पाया जाता है। यह तो निश्चित है कि यह आर्य शब्द नहीं है, पर कहाँ से आया है यह प्रश्न समस्या बना हुवा है। विद्वानोंने यह तो कहा कि यह द्रविड़ भाषाका प्रभाव है, पर यह

---

१ ibid. Prof Sylvan Levi's article "Pre Aryan and Pre-Dravidian in India" PP 63 to 123.

२. ibid. Prof Bloch's article. pp 37 to 59

समस्या अभी सुलझ न पाई है। छान्दोग्य-उपनिषद् में एक शब्द मटची मिलता है, इसका सम्बन्ध विद्वानोने कन्नड मिडिचे से जोडा है, जिसका अर्थ "घासका घोडा" [एक कीडा] है। संस्कृतका 'मयूर' शब्द जो ऋग्वेदमें पाया जाता है, द्रविड़ शब्द मयिल [तामिल], मय्लु [कन्नड], मलि [तैलगू] से जोडा जाता है।

संस्कृतमें द्राविड भाषासे आये शब्दोंमे कतिपय निम्न है .—

स० अनल [आग], तामिल अनल, [अग्नि, धातु 'जलाना'], मल० अनल, [अग्नि, ताप], कन्नड, अनलु [ताप]।

स० अलस [आलसी], ता० अलचु, म० अलयुक, कन्नड अलसु [थका हुआ]।

स० उलूखल [ओखल], ता० उलक्कइ, म० उलक्क, कन्नट, ओलके, तेल० रोकली।

स० एड [भेड़], ता० याडु, आडु [बकरी, भेड], कन्नड, आडु [बकरी], ते० एट [मेढा]।

स० कज्जल, ता० करिकल [कालिमा]।

स० कटु [कडवा], ता० कडु, म० कडु, तेलगू, कडु।

स० करीर [बॉस], क० करिले, तु० कणिले, ब्राहुई खरिंग। [बॉसकी कोंपल, अकुरित होना]

स० कानन [वन], ता० का, कान, कानन, कानल, म० कावु, कानल।

स० कुटी ता० कुटी, ते० गुड़ी।

स० कुटिल ता० कोट्ठु, कूट, म० कोट्ठु, कन्नड, कुडु।

स० कुद्दाल [कुदाली], ते० गुद्दलि, क० गुद्दु।

स० कुतल [बाल] ता० म० कूतल, क० कूदल।

स० कुवलय [कमल], ता० कुवळइ, कन्नड, कोमळे, कोवळ, कोळे [तु० स० कमल]।

सं० खल, ता० कल, कळ्‍वान [चोर] कन्नड कळ्‍ळ [चोर], ते० 'कळळ' [धोखा]।

सं० घुण [कीडा], कन्नड गोण्णे [–पुरु] [कीडा]।

सं० घूक [उल्लू] ता० कूकइ, कन्नड, गूगि, गूगे, गूबि, ते० गूबि, गूब।

सं० चदन, ता० चातु, चात्तु, म० चातु, कन्नड, साद्दु, ते० चॉद्दु।

सं० √चुम्ब् [चूमना] ता० चूप्पु [चूसना]।

सं० चूडा [बालोका गुच्छा], ता० चूट्ड [सिर पर पहनना; सिरके बालोका गुच्छा], म० चूट्ड [मुर्गेकी कलगी], कन्नड सूडु।

सं० दण्ड, ता० तण्डु, कन्नड दण्डु, दण्ड, ते० दण्डु।

सं० निर्गुण्डी [गिलोय], ता०, म० नोच्चि, क० नेक्कि, लेक्कि, लक्कि।

सं० नीर [जल], ता०, म० कन्नड, नीर, ते० नीरु, ब्राहुई, दीर।

सं० √पण् [शर्त करना], ता० पणइ [बाँधना], कन्नड, पोणे [जमानत]।

सं० पण्डित [विद्वान्], ते० पण्डु 'परिपक्व', पण्ड, 'बुद्धि'।

सं० पालि [पक्ति], क० पारि, म० पालि, ते० पाडि।

सं० वक, ता० वक्का, वक, ते० वक्कु।

सं० बिल्व [बेल] ता० विला, विलावु, वेल्लिल, म० विला, कन्नड बेलावल।

सं० मीन, [मछली] ता० मीन, कन्नड, मीन, तै० मीनु।

सं० मुकुल [कली] ता० म० मुकिर, ता० मुकइ, कन्नड 'मुगुल'।

सं० वलय [कडा] ता० वलइ, कन्नड बले।

सं० शव [मुर्दा], ता० चा [मरना], चावु, [मृत्यु], कन्नड 'सा' [मरना], सावु [मृत्यु]।

सं० हेरम्ब [भैंसा], ता० एरुमइ, म० एरिम [भैंसा]।

भाषाओंके परस्पर शब्द-ग्रहणके सबधमें, साथ ही भाषाओंके तुलनात्मक अध्ययनमें उनके शब्द-कोषकी तुलनामें हमें बहुत सतर्क रहना होगा। ऊपर हमने उन मुण्डा द्राविड शब्दोंको देखा, जो संस्कृतमें ध्वन्यात्मक परिवर्तनके बाद विकसित हुए हैं। इनमें हमें कुछ शब्द ऐसे भी मिल सकते हैं, जो ऋण [loan word] नहीं माने जा सकते। हमें ऐसे शब्दोंको एक ओर रखकर फिर आदान-प्रदानके तत्त्वका अध्ययन करना होगा। मेरा तात्पर्य "काक"—कोटिके शब्दोंसे है। इस कोटिके जितने भी शब्द होंगे, उन्हें मैं भाषावैज्ञानिक अध्ययन करते समय उपेक्षित समझूँगा। इस कोटिमें मैं उन शब्दोंको लूँगा, जिन्हें हम ध्वन्यात्मक या अनुकरणात्मक [onomatopoeic] शब्द कहते हैं। प्रो० जे० आर० फर्थ इस कोटिके शब्दोंको प्रतीकात्मक [symbolic] कहना विशेष ठीक समझते हैं, जिस पारिभाषिक सज्ञामें अनुकरणात्मकसे अधिक क्षेत्रका समावेश होता है। ये प्रतीकात्मक शब्द विभिन्न भाषाओंमें स्वतन्त्र रूपसे भी विकसित हो सकते हैं, और यदि ये किसी भाषामें किसी अन्यसे लिए भी गए हों, तो इसके लिए हमारे पास कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। अत किन्हीं भी दो भाषाओंके शब्द-कोषकी तुलनामें ऐसे शब्दोंको हम पहले से ही निकाल कर एक ओर रख देंगे। संस्कृतमें काक, कोकिल, कुक्कुट, निर्झर, मर्मर ऐसे कई शब्द इस 'काक कोटि' में गृहीत होंगे। इसीलिए शब्दावलीके आदान-प्रदानके बारेमें निर्णय देते समय भाषावैज्ञानिकको बडा सतर्क होकर चलना है। इस सबन्धमें एक बात याद आ गई। फ्रेंच भाषामें "टोप" के लिए एक शब्द पाया जाता है, उसका उच्चारण "शापो" [chapeau] होता है, ठीक यही उच्चारण एक राजस्थानी शब्दका है :—"शापो" [स्यापो] [हि० साफा], जिसका अर्थ "पग्गड" है, पर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे इनका एक दूसरेसे कोई सबन्ध नहीं है। इसी प्रकार संस्कृत 'नारंग' शब्दको लीजिये, 'सन्तरे' के लिए स्पेनिश भाषामें इसीसे मिलते-जुलते शब्द **'नारख'** [naranja] का प्रयोग पाया जाता है। पर जब तक हमारे

पास कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं कि संस्कृतको यह शब्द विदेशी देन है, तब तक कुछ कहना अनर्थ प्रलाप होगा। यदि हमारे पास यह प्रमाण है कि कुछ विदेशी जातियाँ [सभवतः हूण] इस शब्दको एक ओर सस्कृत और दूसरी ओर स्पेनी जेसी रोमान्स भाषा तक ले गये, तो भी दोनो जगह विदेशी तत्त्व होनेसे यह शब्द न तो स्पेनी भाषाकी ही शब्द-सघटनाका, न संस्कृतकी ही शब्द-सघटनाका शुद्ध उदाहरण बन सकेगा। इसके प्रतिकूल अगरेजी भाषाकी "स्लैंग" [slang] मे प्रयुक्त "पाल" [pal] [इसका उच्चारण कुछ-कुछ 'फाल' [p'al] जैसा होता है], तथा 'चेल' [chal] शब्दको हम सस्कृतके भ्राता तथा चेट शब्दसे पूर्णतः सबद्ध मान सकते है। ये दोनो शब्द वस्तुतः अगरेजीमे जिप्सी [रोमानो] भाषासे आये है। जिप्सी भाषा संस्कृतसे निकली हुई भारतीय आर्य भाषा है, जो उन घुमक्कडोकी भाषा है, जिनके पूर्वज ईसाकी पहली तथा तीसरी शताब्दीके बीचमे घूमते हुए यूरोप पहुँच गये थे। जिप्सी भाषाकी यह विशेषता है कि वहाँ सस्कृत 'त' ध्वनि [साथ ही 'ट' ध्वनि भी] 'ल' हो जाती है, तथा सस्कृत 'भ' ध्वनि 'फ' हो जाती है। इस प्रकार सस्कृतके भ्राता तथा चेट जिप्सीमे जाकर "फाल" और "चेल" हो गये है। वहींसे ये अँगरेजीकी "स्लैंग" मे आ गये है। इस सबधमे यह भी कह दिया जाय कि सस्कृत चेट शब्द भी शुद्ध आर्य न होकर मुण्डा या द्राविड देन है। क्या अपभ्रशवाला 'छइल्ल' [हि० छैला] शब्द इसीका तो विकास नहीं ?

आगे जाकर लौकिक सस्कृतमे कई ऐसे भी शब्द आ गये है, जो प्राकृत रूप थे, और सस्कृत माने जाने लगे। ये प्राकृत शब्द वस्तुतः सस्कृतसे ही विकसित हुए थे, पर बादमे ये सस्कृतमे भी प्रयुक्त होने लगे। प्राकृतसे सस्कृतमे आये कुछ शब्द ये है :—वट ∠वृत; नापित ∠√स्ना, लांछन ∠लक्षण, पुत्तल ∠पुत्र+ल, भट्टारक ∠भर्ता, भट ∠भृत, मनोरथ ∠मनोऽर्थ। [दे० डॉ० चाटुर्ज्या : भारतीय आर्यभाषा और हिंदी पृ० ९७] उदाहरणके लिए पुनः मारिष, इंगाल, मैरेय इन शब्दोको

लीजिये। ये तीनो प्राकृतके शब्द हैं। वैसे "मारिष" प्राकृतमे मारिस है, यहाँ सस्कृतके ध्वनि नियमके अनुसार ष ध्वनि आ गई है। इस शब्दका अर्थ 'मित्र' है तथा यह प्राकृत रूप सस्कृत 'मादृश.' से विकसित हुआ है। प्राकृतसे ही यह शब्द सस्कृत नाटकोमे आकर 'मारिष' हो गया है। 'इगाल' शब्द सस्कृत अंगार का प्राकृत रूप है। विद्वानोने वैसे इस शब्दको भी शुद्ध आर्य न मानकर अंगु, इगुग आदि मुण्डा शब्दोसे जोडनेकी चेष्टा की है। यह प्राकृत इंगाल फिरसे सस्कृतमे प्रयुक्त होने लगा है। श्रीहर्षने नैषधमे इसका प्रयोग किया है :—"वितेनुरिगालमिवायश परे" [प्रथम सर्ग]। मैरेय शब्दकी भी ऐसी ही कहानी है। सस्कृतके मद शब्दसे दूसरा शब्द बनता है मदिर, इसीका प्राकृत रूप मइर होता है। इसी प्राकृत मइर से फिर दूसरा शब्द बनता है "मइरेअ" [मइरेय[1]]। इसीका सस्कृत रूप मैरेय है जिसका शुद्ध सस्कृत रूप *मदिरेय बनता है। मैरेय शब्दका प्रयोग 'शराब' के अर्थमे लौकिक सस्कृतमे बहुत पाया जाता है। माघने शिशुपालवधमें इसका प्रयोग बहुत किया है :—
" . 'पीतमैरेयरिक्त कनकचषकमेतद्रोचनालोहितेन", [एकादशसर्ग]। इसीके बादके कालमे साहित्यिक संस्कृतमे अरबी फारसी शब्द भी आ गये हैं, पर बहुत कम। श्रीहर्ष नैषधके चौदहवे सर्गमे श्लेषके रूपमे "भूरितरवारि" पदका प्रयोग करता है, जहाँ "तरवारि" शब्द "तलवार" के अर्थमे भी आया है। आगे जाकर वैद्यकवि लोलिम्बराजने तो "पातशाह" शब्दको भी सस्कृत पदावलीमे समाविष्ट कर "लोलिम्बराजः कविपातशाह." की खिचडी पकाई थी। हिन्दी शब्द "खिड़की" का प्राकृत रूप 'खडक्किआ' या 'खिडक्किआ' रहा होगा। मैने इसका लौकिक सस्कृत साहित्यमे "खिडक्किका"[2] प्रयोग भी देखा है। वैसे बादमे कई अँगरेजी, फारसी आदि शब्दोके नये सस्कृत शब्द गढ दिये गये हैं, पर वे

१. मइरेय वस्तुत मइरेअका ही य-श्रुति [y-glide] वाला रूप है।
२. पं० भट्ट मथुरानाथका साहित्यवैभव नामक काव्यग्रन्थ।

भाषावैज्ञानिकके लिए किसी कामके नहीं है। बानगीके तौरपर ये तीन शब्द ले ले—कूलेजः [College]; क्षिप्राशिष् [सिफारिश], व्यक्तोर्जाः [Victoria]।

संस्कृतके परवर्ती विकासका ऐतिहासिक क्रम :—

वैदिक कालमे ही वैदिक संस्कृत बोलनेवाले आर्य सप्तसिन्धु प्रदेश तथा अन्तर्वेद [दोआब] से आगे बढ़ गये थे। धीरे-धीरे इनकी विभाषाएँ एक दूसरेसे अलग होती गई, उनपर यहाँकी विजातीय मुण्डा तथा द्राविड भाषाओंका भी प्रभाव पडने लगा। इनके प्रभावसे संस्कृत ध्वन्यात्मकता तथा पदरचनामे भी कुछ विकास होने लगा। जब अनार्य जातियोने भी विजेता आर्योंकी भाषाको अपनाया, तो संस्कृतकी ध्वनियोका उच्चारण नये रूपमे विकसित हो गया। इसी कालमे एक ओर उच्चारण-सौकर्यके कारण संस्कृत ध्वनियोके प्राकृत उच्चारणका विकास होने लगा, दूसरी ओर इस प्रवृत्तिको वैदिक मन्त्रोंमे रोकनेके लिए प्रातिशाख्य-ग्रन्थो तथा शिक्षाओ का निर्माण हुआ, जिन्होने संस्कृतके शुद्ध उच्चारणको सुरक्षित रखनेकी चेष्टा की। वैसे यह नहीं भूलना होगा कि प्राकृत रूपोके विकासके दो-तीन सौ साल बाद प्रातिशाख्योकी रचना हुई होगी, साथ ही शिक्षाग्रन्थोकी रचनाके बारेमे कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। इनमेसे कई तो ईसाकी दूसरी तीसरी शताब्दीके आसपासकी रचना है। प्राकृतोकी वैभाषिक प्रवृत्तियोका विकास ब्राह्मणकालमे स्पष्टतः परिलक्षित होने लगा था। पूर्वके अनार्योंके प्रभावसे पूर्वमे एक ऐसी विभाषाका विकास हो गया था, जिसे आर्य बिगड़ा हुआ अशिष्ट उच्चारण मानते थे।[1] यह विभाषा उन लोगोकी थी जो आर्यधर्म—वैदिक धर्ममे विश्वास नहीं रखते

---

१. "अदुरुक्तवाक्यं दुरुक्तमाहुः" [वे लोग ठीक तौरपर उच्चारण किये जा सकनेवाले वाक्यको भी उच्चारण करनेमें कठिन बताते हैं।]

—ताण्डयब्राह्मण १७।४

थे। इन्हींको वैदिक साहित्यमे "व्रात्य" नामसे अभिहित किया गया है। इन लोगोंको वैदिक ध्वनियोंमे प्रायः ऋ, ऐ, औ, र, स, ष ध्वनियोंके उच्चारण-मे बड़ी कठिनाई प्रतीत होती थी। ठीक इसी तरह सयुक्त ध्वनियोंके उच्चारण करनेमें भी ये असमर्थ थे, विशेषकर तब, जब कि सयुक्त ध्वनियाँ दो भिन्न प्रकृतिकी होती थीं।

ब्राह्मण कालकी प्राकृतोंको मोटे तौर पर तीन तरहकी माना जाता है :—[१] उदीच्य, [२] मध्यदेशीय, तथा [३] प्राच्य। उत्तरवैदिक कालमे विकसित प्राकृतोंमे उदीच्य विभाषा [प्राकृत] सस्कृतके अत्यधिक समीप थी। इसी उदीच्य विभाषाके आधार पर महर्षि पाणिनिने साहित्यिक तथा परिष्कृत रूप देने के लिए व्याकरण [अष्टाध्यायी] सूत्रोंका निबन्धन किया था। मध्यदेशीय प्राकृत अन्तर्वेदकी विभाषा थी, तथा प्राच्य प्राकृत मगधके आसपासकी। कुछ लोगोंके मतानुसार दाक्षिणात्य जैसा चौथा वैभाषिक रूप भी उस कालमे रहा होगा। किन्तु, बहुत बाद तक दक्षिणकी आर्य विभाषा मध्यदेशीयके ही अन्तर्गत रही है। यहाँ तक कि महाराष्ट्री तथा शौरसेनीको विद्वानोंने एक ही प्राकृतकी दो शैलियाँ माना है, जिसमें प्रथम पद्यमें पाई जाती है तथा द्वितीय गद्य मे।

तो, अशोकके पूर्वकी प्राकृते मोटे तौर पर तीन तरहकी मानी जा सकती हैं। अशोकके समयकी वैभाषिक प्रवृत्तियोंको हम तत्तत्प्रदेशके शिलालेखकी भाषामे देख सकते हैं। उदाहरणके लिए जहाँ लिख् का णिजन्त रूप गिर-नारके शिलालेखमे 'लेखापिता' मिलता है, वहाँ शहबाजगढीवाले लेखमे लिखपितु, जौगढ़वाले लेखमे लिखापिता, तथा मानसेरके लेखमे लिखपित पाया जाता है। अशोकके गिरनार शिलालेखमें इसका भविष्यत् रूप लिखापयिसम् पाया जाता है, जब कि बादमे मागधीमें यह 'लिहावइश्शम्' [मृच्छकटिक पृ० १३६] हो गया है।

ईसासे २०० वर्ष पूर्वके लगभग ये विभाषाएँ कुछ निश्चित भाषाओंके रूपमे विकसित हो गई। इस समय ये विभाषाएँ मोटे तौर पर चार

प्राकृतोमे—पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा मागधीमे—विभक्त मानी गई हैं। प्राकृत वैयाकरणोमे इन सब प्राकृतोंमे साहित्यिक दृष्टिसे महाराष्ट्रीको परिनिष्ठित प्राकृत माना है। यद्यपि इन सभी प्राकृतोमे कई ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक तत्त्व समान रहे है, पर अपनी निजी विशेषताओं के आधार पर यह वर्गीकरण किया गया है। 'प्राकृत' शब्दकी व्युत्पत्तिके विषयमे पण्डितोंके दो मत हैं। प्राकृत वैयाकरण अधिकतर यही मानते आये हैं कि प्राकृत भाषाएँ संस्कृतसे निकली है। इसी आधार पर वे 'प्राकृत' शब्दकी व्युत्पत्ति यो करते है।

प्रकृतिः संस्कृतं। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्। [हेमचन्द्र १।१]

प्रकृतिः संस्कृतं। तत्र भवं प्राकृतमुच्यते ॥ [मार्कण्डेय पृ० १]

प्रकृतेरागतं प्राकृतं, प्रकृतिः संस्कृतम्। [धनिक दशरूपकवृत्ति २।६०]

प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्। [प्राकृतचन्द्रिका]

प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृतं योनिः। [वासुदेव—कर्पूरमञ्जरीटीका]

इस प्रकार सभी प्राकृत वैयाकरणो या प्राचीन पण्डितोके मतानुसार प्राकृतकी उत्पत्ति सस्कृतसे मानी जाती है। दूसरी ओर आधुनिक विद्वान् इस मतसे सतुष्ट नहीं, क्योंकि वे यह मानते है कि प्राकृत संस्कृतसे उत्पन्न न होकर वैदिक कालकी बोलियोसे विकसित हुई हैं। यदि हम संस्कृत शब्दका रूढ अर्थ न लेकर वैदिक कालकी समस्त वैभाषिक प्रवृत्तियोके अतस्मे निहित एकरूपता वाला अर्थ ले, तो सारी समस्या सुलझ जायगी। वैसे पाणिनिवाली लौकिक सस्कृतसे तो प्राकृते उत्पन्न नहीं हुई है, यह निश्चित है; किन्तु वैदिक [सस्कृत] भाषाका परवर्ती विकास तो ये निःसंदेह है ही। पुराने पण्डितोके मतमे जो त्रुटि थी वह यही कि वे इन्हे प्रायः लौकिक संस्कृतसे उत्पन्न मानते थे।

प्राकृतोके द्वितीय विकास काल [२०० ई० पू०—६०० ई०] मे शौरसेनी प्राकृत विशेष महत्त्वपूर्ण थी। महाराष्ट्री इसीकी एक विशेष शैली थी। पर प्राकृत वैयाकरणो तथा अन्य प्राचीन पण्डितोंने महाराष्ट्रीको ही

"स्टैण्डर्ड" तथा उत्तम प्राकृत माना। दण्डीने अपने काव्यादर्शमें इसी बातका सकेत करते कहा था, "महाराष्ट्राश्रया भाषा प्रकृष्ट प्राकृत विदुः।"[1] दण्डीके बहुत पहले ही प्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण वररुचिने शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची प्राकृतोकी विशेषताओंका उल्लेख करनेसे पहले महाराष्ट्री प्राकृतके नियमोका निबधन किया है, तथा उससे जो विभिन्नताएँ इन दूसरी प्राकृतोंमे पाई जाती है, वे बताकर "शेष महाराष्ट्रीवत्"[2] लिख दिया है। इसी कालमें आकर प्राकृत भी साहित्यिक रूप लेने लगी। इस कालके अतिम दिनोसे लेकर १० वीं शती तक महाराष्ट्रीमें सेतुबन्ध, गउडबहो जैसे काव्य लिखे गये। वैसे हालकी 'सत्तसई' का रचना काल बहुत पुराना माना जाता है, किन्तु 'गाहा'—सत्तसई किसी कविकी रचना है या लोक-काव्योके रूपमें प्रचलित गाथाओंका सग्रह, जिनका विकास ईसाकी प्रथम शताब्दीके आसपास हुआ होगा, यह प्रश्न समस्या ही है। अनुमान ऐसा होता है कि हाल इसके सग्राहक थे और सत्तसईका यह सग्रह ईसाकी दूसरी या तीसरी शतीके लगभग हुआ होगा। सभवत. हालने इन लोक-काव्योको कुछ परिष्कृत रूप भी दिया हो, पर यह निश्चित है कि यह परम्परा लोककाव्योंकी ही रही होगी।

प्राकृतोंके इस द्वितीय विकास कालमें हमारे सामने एक समृद्ध धार्मिक तथा साहित्यिक भाषा आती है, वह है पालि। पालिमें बौद्धोका 'थेरवादी' साहित्य तथा हीनयान शाखाका साहित्य मिलता है। पालि कहाँकी विभाषा रही है, तथा इसका विकास कैसे हुआ, इस विषयमें विद्वानोके दो मत थे, किन्तु अब यह निश्चित हो गया है कि पालि मूलतः मध्यदेशकी प्राकृत [शौरसेनी] से विकसित हुई थी[3], यद्यपि इसमें कई मागधी तत्त्व भी

---

१. काव्यादर्श १।३४।

२ प्राकृतप्रकाश १२।३२।

३ Dr Chatterjea Origin and Development of Bengali Language P 57 Vol I [Intro]

सम्मिलित हो गये। भगवान् बुद्धने जिस भाषामें उपदेश दिया था, वह निःसंदेह मागधी थी, पालि नहीं। वैसे इस संबंधमें एक प्रसिद्ध गाथा भी है।[1] बौद्ध विद्वानोंमेंसे अधिकतर पालिको मागधीकी ही विभाषा मानते थे। पर पालिमें मागधीसे कुछ मौलिक भिन्नताएँ हैं। यथा, मागधीमें श्, ष्, स् के स्थानपर केवल तालव्य श् ध्वनि पाई जाती है, इसी तरह मागधीमें केवल ल् ध्वनि ही है, वहाँ र् का अभाव है। जब कि पालिमें स् और श् ; र् और ल् दोनों ध्वनियाँ पाई जाती हैं। इसी तरह मागधीमें प्रथमा विभक्तिके [अकारान्त शब्दोंके] रूपोंमें 'ए' विभक्ति होती है, [धम्मे]; तो पालिमें शौरसेनीकी भाँति ओ विभक्ति होती है [धम्मो]।

शौरसेनी तथा मागधीकी कतिपय प्रमुख ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक प्रवृत्तियोंका संकेत हम परवर्ती पृष्ठोंमें करेंगे। जहाँ तक पैशाची प्राकृतका प्रश्न है, उसका विवेचन हम यहाँ न लेंगे। भाषावैज्ञानिकोंका मत है कि पैशाची प्राकृत संभवतः दरदवर्गकी प्राकृत रही होगी, जिससे काश्मीरी, स्वाती तथा अन्य कई सुदूर उत्तरकी तथा पामीरके आस-पासकी भाषाएँ विकसित हुई है। दरदवर्गके नामसे भारत-ईरानी शाखाके एक तीसरे वर्गकी कल्पनाकी जाती है। भारत-ईरानी शाखाको इस प्रकार तीन वर्गोंमें विभक्त किया जाता है :—[१] भारतीय आर्य [संस्कृत] वर्ग; [२] ईरानी [अवेस्ता-पारसी] वर्ग, [३] दरद वर्ग। दरद वर्गमें संस्कृत वर्ग तथा ईरानी वर्ग दोनोंका प्रभाव पड़ा होगा। यह एक मिश्रित विभाषा रही होगी। पैशाची संभवतः इसीका रूप थी। पैशाचीकी यह प्रवृत्ति जो प्राकृत वैयाकरणोंने बताई है, आज भी काश्मीरी आदिमें देखी जाती है :—जैसे, पिशाच भाषाओंमें सघोष महाप्राण नहीं होते; साथ ही संस्कृत सघोष अल्पप्राण वहाँ अघोष अल्पप्राण हो जाते हैं :—मेघः [मेखो], गगनं [गकनं]। इसीका संकेत हम काश्मीरीमें देख सकते हैं :—भ्राता [काश्मीरी, बोयु];

---

१. सा मागधी मूलभासा नरायायादिकप्पिया।
ब्रह्मणो च स्सुतालावा संबुद्धा चापि भासिरे॥

स० घोटक [काश्मीरी, गुड], स० खड्ग [का० खडक], ।[१] हम देखते हैं कि पैशाची प्राकृतने उदीच्य प्राकृतको प्रभावित कर कई मिश्रित विभाषाओंको जन्म दिया था। यही कारण है, इस तरहके कुछ प्रभाव हम लॅहदा तथा पजाबीमे भी देखते हैं। सभवतः ब्राचड अपभ्रश जिससे लॅहदा और सिन्धी विकसित हुई पैशाचीसे प्रभावित मध्यदेशीय प्राकृतका विकसित रूप थी।

गाथा सप्तशतीके सग्रह कालमे ही प्राकृत साहित्यिक रूप ले चुकी थी। और प्राकृतके बोलचालवाले कालके समाप्त होनेके बहुत बाद तक यह साहित्यिक भाषा बनी रही। इसी कालमें कुछ प्राकृत कवियोंने प्राकृत भाषाकी मधुरताकी महत्ता घोषितकी तथा सस्कृतसे अधिक प्राकृतकी प्रशसा की।

अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणंति।
कामस्स तत्ततन्ति कुणन्ति ते कहँ न लज्जंति॥ [गा०श० २]

[जो लोग अमृतके समान मधुर प्राकृत काव्यको पढना और सुनना [समझना] नहीं जानते, वे लोग कामकी तत्त्वचिन्ताको करते हुए भी लज्जित क्यों नहीं होते ?

परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो।
पुरिसमहिलाणॅ जेत्तिय मिहंतरं तेत्तियमिमाणं॥ [कर्पूरमञ्जरी सट्टक]

[सस्कृतके काव्य परुष होते हैं, किन्तु प्राकृतके काव्य अत्यधिक कोमल होते हैं। इन दोनोमे ठीक वही अन्तर है, जो पुरुषों व रमणियोंमे।]

अपभ्रंश-काल—ईसाकी छठीं शतीसे ईसाकी दसवीं शती तक, भारतीय आर्य भाषाओंका जो विकास पाया जाता है, उसे मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओंकी तीसरी स्थिति कह सकते हैं। सस्कृत तथा प्राकृत दोनोंसे भिन्न बतानेके लिए उसे "अपभ्रश" सज्ञा दी जाती है, जिसका अर्थ

---

१ The Linguistic conception of Kashimri [Sir G A. Grierson] [Indian Antiquity] Nov -Dec. 1915.

है "बिगड़ी हुई", अर्थात् यह "बिगडी हुई भाषा" थी। अपभ्रंश शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग पातञ्जल महाभाष्यमे मिलता है :—एकस्यैव हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद् यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः।[1]" [एक ही शब्दके बहुतसे अपभ्रंश रूप मिलते है, जैसे एक [शुद्ध] शब्द "गौः" के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि बहुत अपभ्रश रूप होते है।] पर यहाँ पतञ्जलि 'अपभ्रंश' शब्दका प्रयोग किसी भाषा-विशेषके अर्थमे नहीं करते। उनके मतानुसार अपभ्रश शब्द वे है, जो पाणिनीय व्याकरणके विरुद्ध तथा असंस्कृत है, किन्तु लोकमे प्रचलित है। पतञ्जलि वाला यही मत बादके संस्कृत वैयाकरणोमे, यथा वाक्यपदीयकार भर्तृहरिमे भी देखा जा सकता है[2]। इसके बाद 'अपभ्रश' शब्दका भाषाके अर्थमे प्रयोग दण्डीमे मिलता है। दण्डीके मतानुसार 'अपभ्रश' भाषा [बोली] आभीर आदि जातियोके द्वारा व्यवहृत होती थीं [आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः—काव्यादर्श १।३६]। भरतके नाट्यशास्त्रमे 'अपभ्रश' शब्दका प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु आभीर आदि जातियोकी भाषाको भरतने माना है[3]। इस प्रकार अपभ्रशके आभीरोके साथ सम्बन्धवाले संकेतको हम नाट्यशास्त्रमे ही ढूँढ सकते है। इस सम्बन्धमे यह भी कह दिया जाय कि भरतने हिमवत्, सिन्धु, सौवीर आदि देशोके वासियोकी भाषाकी प्रमुख विशेषता उकार-बहुलत्व बताई है[4], जो अपभ्रंशमे पाई जाती है। इस प्रकार अपभ्रंश

१. महाभाष्यः [पस्पशाह्निक]

२. शब्दसंस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम्॥
—वा० प० प्रथमकाण्ड का० १४८

३. नाट्यशास्त्र १७।४४ [पृ० २१८]।

४. हिमवत्सिन्धुसौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिताः।
उकारबहुलां तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत्॥
वही १८।४९ [पृ० २१८]

लोक-भाषाके रूपमें दण्डीके कुछ पहले ही प्रतिष्ठापित हो गई होगी। भरतके समय [२००-४०० ई०] के लगभग यह कुछ जातियोंकी ही बोली थी। धीरे धीरे सस्कृत आलकारिकोंने भी इसे एक विभाषाके रूपमें स्वीकार कर लिया तथा बादके प्राकृत वैयाकरणोंने तो इसका शिष्ट भाषाके रूपमें प्रयोग किया और हेमचद्रने इसका व्याकरण भी निबद्ध किया। ग्यारहवीं शतीमें पुरुषोत्तमने इसे शिष्ट समुदायकी भाषा माना है। यह वह काल है जब कि अपभ्रशका साहित्यिक रूप भी समृद्ध हो गया था। हेमचन्द्रके द्वारा सगृहीत दोहे उनसे कुछ पहलेके ही रहे होंगे। साथ ही जैन अपभ्र श साहित्यकी परंपरा नवीं शतीसे ही आरभ हुई मानी जा सकती है। वैसे पूर्वी अपभ्रश साहित्यकी परपरा कुछ विद्वानोंके मतानुसार आठवीं शतीके आरभके लगभग जाती है।[1]

यद्यपि प्रत्येक आधुनिक आर्य भाषा, प्राकृतके बाद अपभ्रशकी स्थितिसे गुजरती हुई आजकी दशामें आई है, पर प्राकृत वैयाकरणोंमें प्रायः **नागर, उपनागर** तथा ब्राचड इन तीन अपभ्रशोंका नाम दिया है। वैसे बादमें आकर मार्कण्डेयने तो अपभ्रशके २७ भेद गिनाए है। पर मार्कण्डेयने तत्तद्देशके नाम गिनाकर वहाँ वहाँकी अपभ्रशका सकेत किया है। अपभ्रशका सबसे पहला साहित्यिक रूप कालिदासके विक्रमोर्वशीयमें चतुर्थ अककी विरहाकुल पुरूरवाकी कुछ उक्तियों [पद्यरूप उक्तियोमें] में मिलता है। इनके विषयमें विद्वानोंका मतभेद है। कुछ इन्हे कालिदासरचित ही मानते हैं, कुछ क्षेपक। एक तीसरा मत यह भी है कि ये कालिदासके समयके कुछ लोक गीत हैं, जिनका समावेश कालिदासने कर दिया था और इस प्रकार अपभ्रशका काल कालिदास [ईसाकी चौथी शताब्दी] तक चला जाता है। अपभ्रश साहित्यमें एक ओर हम पश्चिमी अपभ्रशका जैनी साहित्य देखते हैं, जिनमें 'महापुराण' 'हरिवश पुराण' 'भविसयत्त

---

१ डॉ० शहीदुल्ला : ले शॉ मिस्तीके [पृ० २५-२६]।

कहा' 'सनत्कुमार चरिअउ' आदि काव्य प्रसिद्ध है, दूसरी ओर पूर्वी अपभ्रंशमें सिद्धो [बौद्धसिद्धो] के गान और दोहे ।

आधुनिक भा० आर्य भाषाएँ:—आधुनिक भा० आर्य भाषाओका विकास अपभ्रंश-कालके बाद [१००० ई० के बाद] से माना जा सकता है । इनके विकासमे भी हम दो स्थितियाँ मान सकते है । प्रथम स्थितिमें हम इन आ० भा० आर्यभाषाओका प्राचीनतम विकास मानते है, जो १००० ई० से १४०० ई० के लगभग तक माना जा सकता है । हिन्दीका यह प्राचीन रूप हम 'प्राकृतपैंगलम्' तथा उसके साथ ही 'रासो' [पृथ्वी-राजरासो] की भाषामे देख सकते है ।[1] आधुनिक भा० आ० भाषाओको सर ग्रियर्सनने एक निश्चित ढगसे कुछ वर्गोंमे विभक्त किया था । सर ग्रियर्सनके इस वर्गीकरण पर हॉर्नलीके वर्गीकरणका प्रभाव पडा था, जिसे मूल आधार बनाकर उसने अपनी 'कम्पेरेटिव ग्रामर आव् गौडियन लेंग्विजेज' मे आ० भा० आ० भाषाओ को अतरग तथा बहिरग इन दो वर्गोंमे बाँटा था । उनके मतानुसार सुदूर पूर्व तथा सुदूर पश्चिमकी भा० आर्य भाषाओमे [यथा, बगाली और सिन्धीमे] कुछ ऐसी पदरचनात्मक समानताएँ है, जो उन्हे एक ही वर्गकी सिद्ध करती है । हॉर्नली तथा ग्रियर्सन दोनो ही यह मान कर चले है कि भारतमे आर्योंके दो दल बाहरसे आये थे, एक दल जो पहले आया, बादके आर्योंके द्वारा मध्यदेशसे बाहर खदेड दिया गया । फलतः उसे सिंध, बिहार, बगाल आदि स्थानोकी शरण लेनी पड़ी । बादमे आनेवाले आर्योंकी भाषासे ही मध्यप्रदेशीय प्राकृत तथा उसकी परवर्ती स्थितिका विकास हुवा । इस प्रकार ग्रियर्सनने अन्तरंग वर्गके अतर्गत शौरसेनी प्राकृतसे विकसित भाषाओको माना, जिनमे प्रमुख पश्चिमी हिन्दी

१. 'रासो'की तिथिके विषयमें बडा मतभेद है। प्रस्तुत लेखकका यह मत है कि 'रासो' में निःसन्देह चन्दके समयकी भाषा वाले कुछ अंश है, यद्यपि 'रासो' में अधिकांश प्रक्षिप्त है तथा सोलहवी शताब्दीके बादकी छौंक है ।—लेखक

है, तथा बहिरंग वर्गमें मागधी प्राकृतको तथा उससे विकसित भाषाओंको तथा सिन्धी, लॅहदा, सिंहली और जिप्सीको सम्मिलित किया।[1]

हॉर्नली तथा सर ग्रियर्सनके इस वर्गीकरणसे कई विद्वान् संतुष्ट नहीं। डॉ० चाटुर्ज्याने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "बंगाली भाषाका उद्गम और विकास" मे एक नया वैज्ञानिक वर्गीकरण दिया है, जो विशेष महत्त्वपूर्ण है। उनके मतानुसार वेदोंमे ही हम कई विभाषाओंके चिह्न देख सकते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थोमें भी प्राच्योंकी विकृत भाषाका संकेत मिलता है। साथ ही अशोकके शिलालेखोमें भी वैभाषिक प्रवृत्ति प्रान्तोंके आधार पर देखी जाती है। अतः इन भाषाओंका वर्गीकरण भौगोलिक आधार पर करना विशेष ठीक होगा। यही कारण है कि डॉ० चाटुर्ज्याने भौगोलिक आधार पर आ० भा० आ० भाषाओंका [आ० भा० आ० भाषाओंका ही नहीं, प्राकृतोंका भी] वर्गीकरण दिया है।

[1] Dr chatterjea Origin and Development of Bengali Language Vol I [Introduction.] P 30-31
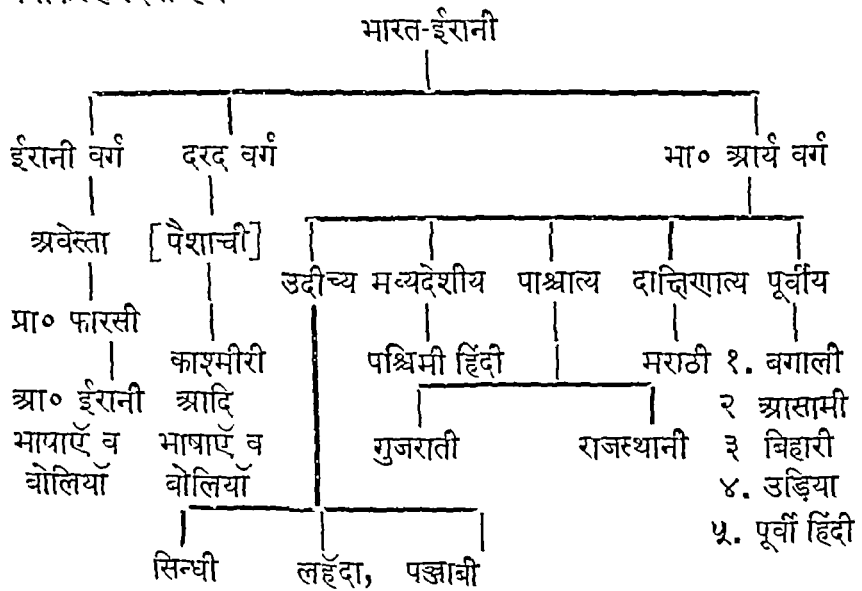
इस प्रकार डॉ० चाटुर्ज्या उदीच्य, मध्यदेशीय, पाश्चात्य, दाक्षिणात्य तथा पूर्वीय ये पाँच वर्ग मानते हैं। उदीच्यसे वे सिन्धी तथा लॅहदाको, तथा मध्यप्रदेशीय प्राकृतसे प्रभावित उदीच्यसे पजाबीको उद्भूत मानते है। मध्य-देशीयमे वे पश्चिमी हिंदीको लेते है, तथा पाश्चात्यमे गुजराती एवं राजस्थानीको; इन्हींके मिश्रित वर्गमे वे पहाडी बोलियोको मानते है। दक्षिणात्य वर्गमे मराठीका समावेश होता है। पूर्वीय वर्गके दो उपवर्ग किये जाते है:—[१] कोसली जिसमे पूर्वी हिंदी—भोजपुरी तथा अवधी आती है, दूसरी मागधी जिसके अतर्गत बगाली, आसामी, उडिया तथा बिहारीका समावेश होता है।

भाषाओका वर्गीकरण कर लेनेके बाद हम मोटे तौर पर प्राकृत कालसे लेकर आज तककी ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक परिणति का विहगम दृष्टिसे अध्ययन करेगे। यही कारण है, परवर्ती पृष्ठोमे प्राकृत, अपभ्रंश तथा परवर्ती प्रवृत्तियो की खास विशेषताओका ही सकेत किया जायगा।

संस्कृत स्वरध्वनियोंका परवर्ती विकास—

सर्वप्रथम हम देखते हैं कि सस्कृतके ऋ, ऌ स्वर प्राकृत कालमे आकर सर्वथा लुप्त हो गये है। ऌ का तो सस्कृतमे भी एक प्रकारसे अभाव ही था, क्योंकि वहाँ यह केवल √क्लृप् धातु या उससे बने एक दो रूपोमे पाया जाता था। ऋ प्राकृतमे आकर तीन प्रकारसे विकसित हुआ है :—अ, इ, तथा उ। इसके पहले कि हम इसके अ वाले विकसित रूपको ले, इ तथा उ वाले विकासका संकेत कर दे। प्राकृतप्रकाशमे बताया है कि 'ऋष्यादि' गण के शब्दोमे ऋ प्राकृतमे इ पाया जाता है।[1] उदाहरणके लिए, ऋषि, भृंगार, शृंगार, शृगाल के प्राकृतमे इसी, भिंगारो, सिंगारो, सिआलो रूप पाये जाते है। कुछ ऐसे भी शब्द है, जिनमे ऋ के अ तथा इ दोनो रूप पाये जाते है दृढ, मृग, गृध्र जैसे शब्दोके दढो-दिढो, मओ-मिओ, गद्धो-गिद्धो ये वैकल्पिक रूप पाये जाते है। 'ऋत्वादिगण्' के

१. इदृष्यादिषु [१।२०]—प्राकृतप्रकाश।

शब्दोंमें प्राकृतमें ऋ का उ विकास पाया जाता है।[1] उदाहरणके लिए, **ऋतु, वृत्तान्त, मृणालं, पृथिवी** के प्राकृत रूप **उदु, वुत्तन्तो, मुणालं, पुहवी** रूप पाये जाते हैं। बाकी शब्दोंमें यह ऋ प्राकृतमें अ के रूपमें विकसित हुआ है,[2] जैसे **तृष्णा** का प्राकृतरूप **तण्हा**।

प्राकृत-कालकी दूसरी विशेषता ऐ, औ ध्वनियुग्मोंका लोप है। प्राकृतप्रकाशकारने 'ऐत एत्' [१।३६] तथा औत ओत् [१।४१] इन सूत्रोंमें बताया है कि संस्कृत ऐ, औ प्राकृतमें आकर प्रायः ए, ओ हो जाते हैं। उदाहरणके लिए **शैल, कैलाश, सैन्य, सौभाग्य, यौवन, कौशाम्बी** के प्राकृत रूप **सेलो, केलासो, सेण्णम्, सोहग्गं, जोव्वणं, कोसंबी** पाये जाते हैं। किन्तु कई स्थानोंपर ये ध्वनियाँ क्रमशः अइ, तथा अउ के रूपमें भी विकसित हुई है। "**दैत्यादिगण**" में 'अइ' [दैत्यादिषु अइत् १।३७] तथा "**पौरादिगण**" में 'अउ' [पौरादिषु अउत् १।४२] का विकास हुआ है। उदाहरणके लिए, **दैत्य, कैतव, वैशाख** के प्राकृत रूप **दइच्चो, कइतवो, वइसाहो**, तथा **पौर, रौरव, गौड** के प्राकृत रूप **पउरो, रउरवो, गउडो** पाये जाते हैं। कभी ऐ तथा औ क्रमशः ई तथा उ के रूपमें भी विकसित मिलते हैं—**धैर्य** [प्रा० **धीर**], **सौन्दर्य** [प्रा० **सुन्देरं**]।

प्राकृतकालमें ह्रस्व विवृत ए, ओ ध्वनियोंके होनेका संकेत मिलता है। यह संकेत प्राकृत छन्दोंको देखनेसे मिलता है, जहाँ कभी-कभी ऐ, ओ ह्रस्व या एकमात्रिक देखे जाते हैं। संस्कृतमें इन ह्रस्व ध्वनियोंका अभाव है। फिर भी इस तरहके उच्चारणका अस्तित्व सामवेदीय शाखाओं के वैदिक उच्चारणमें था, इस बातका संकेत महर्षि पतञ्जलिने महाभाष्यमें किया है। प्राकृतप्रकाशमें इस विशेषताका उल्लेख नहीं। हेमचन्द्रने

---

१ उदृत्वादिषु [१।२१]—वही।

२. ऋतोऽत् [१।२६]—वही। साथ ही दे० Pischel Prakrit Sprachen pp 49–50

अवश्य इसका उल्लेख किया है। पिशेलने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "प्राकृत स्प्राखेन" मे इस बात पर विशद् विवेचन प्रस्तुत किया है कि प्राकृतमे ऍ, ऑ ध्वनियाॅ थीं :—

[१] प्राकृतमे जहाॅ इ, उ अथवा ई, ऊ किसी सयुक्त व्यजनके पूर्व होते थे, तथा वह इ, उ संस्कृत ऋ का ही विकास था, वहाॅ यह इ, उ प्राकृतमे ह्रस्व ऍ, ऑ के रूपमे विकसित हो गया था, यथा

*दृक्षति [पश्यति]——>*दिक्खइ——>दॅक्खइ[1]

[२] सयुक्त व्यञ्जनध्वनि [सयुक्ताक्षर] के पूर्व ए तथा ओ क्रमशः ऍ, ऑ के रूपमे विकसित हो गये थे। यथा, प्रेक्षते, प्रेक्षणीय, ओष्ठ, अन्योन्य के प्राकृत रूप ये है :—पॅच्छइ, पॅच्छणिज्ज, ऑट्ठ, अण्णॉएण।[2]

[३] यदि प्रथम पदके अन्तमे ए या ओ ध्वनि है और उत्तर पदकी प्रथम ध्वनि प्राकृतमे सयुक्त व्यंजन ध्वनि है, तो भी ये ध्वनियाॅ ऍ, ऑ हो जाती है। यथा, तुम्हॅ त्था [वै० स० युष्मे स्था], अणुराऑत्ति [अनु-राग इति], समॉत्ति [सम इति], साअरॅत्ति [सागरे इति]।[3]

अधिकतर ऐसा समझा जाता है कि ऐ, औ का ही विकास आ० भारतीय आर्य भाषाओमे विवृत ऍ, ऑ के रूपमे पाया जाता है। किन्तु पिशेलने यह सिद्ध कर दिया है कि इनका विकास अन्य दिशाओसे भी हुआ है। यहाॅ हमे यह समझ लेना है कि मध्यकालीन भा० आर्य भाषाओ तथा आधुनिक भा० आ० भाषाओमे ह्रस्व ऍ, ऑ ध्वनियाॅ पाई जाती है। वैसे इन ध्वनियोके लिए रूढ लिपि [conventional ortho-

१. Pischel Prakrit Sprachen, p. 61-
२ ibid p 73
३. ibid. p. 74.

graph.] में कोई संकेत नहीं पाया जाता। हिन्दीमें इनके लिए प्रायः ए, ओ लिपिचिह्नोंका ही प्रयोग पाया जाता है, जैसे जाइहे, कैसे को जाइहै, कैसे लिखा जाता है।

हॉर्नलीने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "कम्पेरेटिव ग्रामर गोडियन लैंग्वेजेज" में इस बात पर प्रकाश डाला है कि प्राकृतमें ह्रस्व ए तथा ओ अवश्य रहे होंगे। प्राकृतप्रकाशमें इनका स्पष्ट उल्लेख नहीं है, पर हॉर्नलीका अनुमान है कि निद्रा, नीड, शैत्यं, शय्या, सेवा, एक, मुक्ता, यौवन, त्रैलोक्य के प्राकृत रूप णेद्दा, णेड्ड, सेच्च, सेज्जा, सेव्वा, एक्क, मोत्ता, जोव्वण, तेल्लोक्क में प्रथम स्वर ध्वनि ह्रस्व ए, ओ ही है। हॉर्नलीका यह अनुमान ठीक है,[1] तथा पिशेलके मतसे भी इसकी पुष्टि होती है।

अपभ्रंशमें ह्रस्व ए, ओ का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। हेम व्याकरणमें स्पष्ट रूपसे इसका संकेत करते हुए हेमचन्द्रने बताया है कि व्यञ्जन ध्वनिसे पूर्व होने पर ए, ओ ध्वनियोंका उच्चारण लघु होता है।[2]

५. य-श्रुति —

संस्कृतमें एक साथ दो स्वर ध्वनियाँ पदमें नहीं पाई जातीं, उनमें संधि हो जाती है, किन्तु यह बात प्राकृतमें नहीं पाई जाती। वहाँ दो स्वर ध्वनियाँ एक साथ भिन्न अक्षर-प्रक्रियाका संपादन करती पाई जाती हैं। हम कुछ संस्कृत शब्दोंके प्राकृत रूप लेते हैं। मयूख, मयूर, आदर, आतप, आकाश, जाया, आकुल, वाचस्पति के प्राकृत रूप मऊह, मऊर, आअर, आअव, आआस, जाआ, आउल, वाअप्पइ हैं, जहाँ इन पदोंके प्रथम स्वरके बाद एक साथ [बिना किसी व्यञ्जनके व्यवधानके] दो

1 Hoernle: Comp. Grammar of Gaudian Languages § 6, p. 5

2 "कादिस्थैदोतोरुच्चारलाघवम्" —हेमचन्द्र ४।४१०।

स्वर ध्वनियाँ पाई जाती है। यहाँ संस्कृतकी भाँति स्वरसधि नहीं हुई है। [वैसे कई स्थलो पर प्राकृत तथा पालिमे स्वरसधि होती है, पर वह यहाँ हमारा विषय नहीं है।] सभवतः इसका कारण संस्कृत-पदोके मूल अक्षर-भार [Syllabic weight] को सुरक्षित रखनेकी प्रवृत्ति है। अपभ्रंश कालमे ऐसे कई स्थानो पर य तथा व श्रुति [glide] का प्रयोग पाया जाता है। उदाहरणके लिए सस्कृत **नागदत्त, युगल** के प्राकृत रूप **णाअदत्त, जुअल** हैं, किंतु अपभ्रंशमें इनके रूप **णायदत्त** तथा **जुयल** पाये जाते हैं। ऐसे अनेको उदाहरण देखे जा सकते हैं।[1] यहीं नहीं, जैन महाराष्ट्रीमें इनका प्रचुर प्रयोग है तथा मागधी प्राकृतमें भी कुछ स्थानो पर **य** श्रुतिका प्रयोग पाया जाता है। हॉर्नलीने **योजनं** के मागधीरूप **योयणं** को लेकर बताया है कि **ज** यहाँ पर **य** हो जाता है। वस्तुतः मागधीमें **ज** का परिवर्तन **य** रूपमे नहीं होता। ध्यानसे देखा जाय तो **ज** का लोप होता है, [**कगचजतदपयवां प्रायो लोपः**] तथा बादमें स्वरमध्यगत **य** श्रुतिका प्रयोग होता है। यह श्रुतिप्रयोग इसलिए होता है कि प्राकृत रूप **'योअणं'** में **ओ** तथा **अ** मे सधि न हो तथा अक्षर-भार भी अक्षुण्ण बना रहे। अथवा कुछ **य**-श्रुतिकी उच्चारणवाली विभाषाओंने मागधी प्राकृतको प्रभावित किया होगा। प्राकृतमें **व** श्रुतिका भी सकेत मिलता है। कात्यायनने बताया है कि कहीं **य** तथा कहीं **व** श्रुतिका उच्चारण विकल्पसे पाया जाता है, **गअणं-गयणं, सुहओ-सुहवो** [**सं० गगनं, सुभगः**]।[2]

हेमचन्द्रने भी इस श्रुतिके प्रयोगका सकेत किया है। हेमचन्द्रने अपने व्याकरणमें अपभ्रंशके सम्बन्धमे **य** श्रुतिका वर्णन किया है। श्रुतिके संबंधमे ऐसा जान पड़ता है कि किन्हीं विशेष विभाषाओंमे कोई एक श्रुति [**य** या

---

१. देखिये, मेरा लेख "अन्तःस्थ ध्वनियाँ" [शोधपत्रिका २००६]

२. क्वचिद्यत्वं वा॥ गअणं गयणं वा॥ क्वचिद्वत्वं वा। सुहओ सुहवो वा। [१।१। ४५–४६]

व] का प्रयोग प्रमुख हो जाता है। शौरसेनी अपभ्रंशकी श्रुतिगत विशेषता य-वाली रही होगी। हेमचन्द्रके अनुसार अ या उसके दीर्घ रूप आ के पूर्व तथा पर ध्वनि दोनो होने पर य श्रुतिका प्रयोग होता था, तथा वे बताते है कि जहाँ क, ग, च, ज आदिका लोप हो जाता है, वहाँ अ, अ, आ, अ, अ, आ, आ, आं के बीचमें य श्रुतिका प्रयोग होता है। 'य' का उच्चारण 'लघुप्रयत्नतर' होता है।[1] यहाँ हमें 'लघुप्रयत्नतर' शब्दपर विचार करना है। आजके पाश्चात्य ध्वनिशास्त्री श्रुति [glide] को ध्वन्यात्मक तत्त्व [Phonematic element] न मानकर सन्ध्यात्मक तत्त्व [Prosodic element] मानते हैं। सभवतः हेमचन्द्रका यही अर्थ है कि इस प्रकारके श्रुतिरूप य का उच्चारण इतना पूर्ण नहीं हो पाता, कि वह य वर्ण [Phoneme] हो सके। यही कारण है कि अपभ्रंशके गयणं, णयणं के उच्चारणमे हेमचन्द्रकी साक्षीपर यहाँ केवल ५ ध्वनियाँ [phoneme] ग् [ण], अ, अ, ण, अ ही मानी जा सकती हैं, य को अलगसे ध्वनि मानने पर ६ ध्वनियाँ माननी होंगी। यदि कहीं अपभ्रंशके इस उच्चारणका ध्वनिशास्त्रीय प्रतिलिपीकरण करना हो तो यों होगा।

	स्थूल ध्व० लि०	सू० ध्व० लि०
गयण	gəənə̃	gə^{y}ʌnʌ̃[^{m}]
णयणं	nəənə̃	nə^{y}ʌnʌ̃[^{m}]

यहाँ स्थूल ध्वन्यात्मक लिपीकरण [broad transcription] मे हमने केवल ध्वनियोको व्यक्त किया है, जब कि सूक्ष्म लिपीकरण [narrow transcription] मे एक ओर 'य' [y] श्रुतिको कुछ ऊपर लिखकर उसकी ध्वन्यात्मकता निषिद्ध करते हुए भी उसकी श्रुत्यात्मकता सकेतित की

१. **अवर्णो यश्रुतिः [८।१८०] तथा इस सूत्रकी टीका कगचजेत्यादिना लुकि सति वर्णो अवर्णः अवर्णात्परो लघुप्रयत्नतरयकारश्रुतिर्भवति ॥**

है। साथ ही वहीं अन्तमे [m] के द्वारा अनुनासिकीय उच्चारणकी विशेषताका भी सकेत किया है। इनमे हम 'म्' [m] को अलगसे ध्वनि माननेके पक्षमे न होकर अनुनासिक स्वरकी ही विशेष प्रवृत्ति मानेगे, जो उसके पदान्त होनेपर सदा पाई जायगी। साथ ही ə उदासीन केन्द्रीय स्वर [central vowel] के पश्च उच्चारणके लिए हमने ʌ चिह्नका प्रयोग किया है।[1]

जहाँ तक 'य' ध्वनिके विकासका प्रश्न है, प्राकृतमे यह ध्वनि शुद्ध सस्कृत ध्वनिके रूपमे विकसित नहीं हुई है, वहाँ सस्कृत पदादि य सदा ज हो जाता है। यदि सस्कृत य स्वरमध्यगत है तो वह प्राकृतमे लुप्त हो जाता है। इस तरह प्राकृतमे सस्कृत य का दुहरा विकास देखा जाता है। प्राकृतमे ही कुछ विभाषाओमे य श्रुति रही होगी, वही श्रुति आगे जाकर अपभ्रंश भाषाकी खास विशेषता बन बैठी। हम देखते है कि जैन महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनीमे 'य'-श्रुतिका प्रयोग पाया जाता है।

आजकी भा० आ० भाषाओके उच्चारणमे यह श्रुतिगत प्रवृत्ति पाई जाती है। किन्हीं विशेष भाषाओ या उनकी विभाओमे य श्रुति प्रधान होती है, किन्हींमे व श्रुति। पछाँहमे 'य' श्रुतिकी प्रवृत्ति देखी जाती है, तो पूरबमे 'व' की, पर इसका अर्थ यह नहीं कि पछाँहमे 'व' श्रति [w-glide] का अभाव है। हम हिंदीसे कुछ शब्द लेकर उनके तीन

---

१. आधुनिक ध्वनिशास्त्री इस तरहकी सरणि आजकी बोलचालकी भाषाओंमें ही ग्रहण करता है, मृत भाषाओंमें नही। यहाँ हमने इस नियमका भंग-सा किया है। हमारा उद्देश्य इस नियम-भंग करनेमें हेमचंद्रके समयके उच्चारणको व्यक्त करना था, इसका साक्षी स्वयं हैम व्याकरण है। साथ ही हम यह नही कहते कि ऐसा उच्चारण था ही। हम केवल इतना कहते हैं कि हेमचन्द्रकी साक्षी पर इस तरहका उच्चारण रहा होगा। —लेखक

तरहके उच्चारणको व्यक्त करते हैं। यहाँ प्रथम उच्चारण शून्य-श्रुति [zero-glide] वाला या साधारण उच्चारण है, द्वितीय य-श्रुतिवाला है, तृतीय व श्रुतिवाला।

शून्य-श्रुति	य श्रुति	व-श्रुति
खाए [kha·-e]	खाये [kha·ʸe]	खावे [kha·ʷe]
पीए [pi · e]	पीये [pi · ʸe]	पीवे [pi · ʷe]
जाए [ja e]	जाये [ja ʸe]	जावे [ja·ʷ e]
कुई [kui]	कुयी [kuʸi][1]	कुवी [kuʷi][1]
सुई [sui]	सुयी[suʸi]	सुवी[suʷi][1]

इस परिच्छेदमे हम केवल उन्हीं परवर्ती विशेषताओंका सकेत कर रहे है, जो विशेष महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है संस्कृत व्यञ्जनध्वनियोंके विकासको हम बडे सक्षेपमे लेगे। इनके पहले कि हम व्यञ्जनोके विकासपर दो शब्द कहे आ० भा० आ० 'अनुनासिकीकरण' पर कुछ कह देना जरूरी होगा। स्वरोंके नासिक्य रूपको ऐतिहासिक दृष्टिसे दो तरहका माना गया है, १. पराश्रय या सकारण अनुनासिकता, तथा २. निराश्रय या अकारण अनुनासिकता। जहाँ किसी प्रत्यक्ष कारणसे स्वरकी अनुनासिकता पाई जाती है, उसे प्रथम कोटिमे माना जाता है, जैसे **राम, हनुमाना, जामवंत** के **राँम, हनुमाँना, जाँमवंत** इन रूपों मे। दूसरे ढगकी सानुनासिकता वह है जहाँ प्रत्यक्ष रूपमे कोई अनुनासिक ध्वनि उस पदमे नहीं है, जिसका प्रभाव अनुनासिकीकरणके रूपमे हो। जहाँ अनुनासिकीकरणका कोई कारण विद्यमान न हो, ऐसे निराश्रय अनुनासिकीकरणको ब्लॉख तथा

१. कुआँ शब्दके स्त्रीलिंग रूपका उच्चारण य तथा व श्रुतिवाला भी सुना जाता है। ठीक यही बात सुई के विषयमें है, पर इसका व वाला उच्चारण बहुत कम सुना जाता है—राजस्थानीकी पूरबी बोलीमें ये व-श्रुतिवाले रूप यत्र तत्र सुने जा सकते हैं।

टर्नर "स्पोन्टेनियस नेजेलाइज़ेशन" कहते है।[1] इसके उदाहरण **कंकर, आँख, साँप** आदि दिये जा सकते है, जहाँ संस्कृत रूपोंमें या इनके प्राकृत रूपोंमे भी अनुनासिक तत्त्व नहीं है :—कर्कर [कक्कर], अक्षि [अक्खि], सर्प [सप्प]। अनुनासिकीकरणका विशेष विवेचन डॉ० सिद्धेश्वर वर्माके निबन्ध **'नेज़ेलाइज़ेशन इन हिंदी लिटररी वर्क्स'** मे देखा जा सकता है, जो कलकत्ता विश्वविद्यालयके डिपार्टमेंट आव् लेटर्स' के १९२९ वाले जर्नलमे प्रकाशित हुआ है। मैंने इस विषयपर विस्तारसे अपने अन्य निबंध **"भारतीय आर्य भाषाएँ तथा अनुनासिक ध्वनियाँ"** मे विचार किया है, अतः वहाँ द्रष्टव्य है। यह निबंध शोधपत्रिका [२००९] मे प्रकाशित हुआ है। यहाँ संकेत मात्र दिया गया है।

संस्कृत व्यञ्जन ध्वनियोंका परवर्ती विकास :—

१. **प्राकृतकालीन विकास** :—[१] संस्कृत न, य, श के अतिरिक्त प्रायः सभी ध्वनियाँ प्राकृत कालमें शब्दोंके आदिमें अपरिवर्तित रही है। न, य, श क्रमशः ण, ज, स बन जाते है। **जधा, णअरं, सेज्जा** [यथा, नगरं, शैय्या]

[२] संस्कृतके पदादि क, प कभी-कभी ख, फ हो जाते है, **खुञ्ज** [कुब्ज], **फणस** [पनस] [हि० **फालसा**]

[३] संस्कृत **श, ष, स** तीनों शौरसेनी-महाराष्ट्रीमें **स** तथा मागधीमे श के रूपमें विकसित हुए है। **सेसो** [शेषः]; मागधी, **शूपेण** [सूपेन]।

[४] पदमध्यवर्ती संस्कृत क, ग, ज, च, त, द, प, य, व का प्राकृतमे

---

1. Bloch · La formation de la langue Marathe § 70 साथ ही Prof Turner Gujrati Phonology [RASJ 1916].

प्राय लोप हो जाता है।[1] लोअ [लोक], सअल [सकल], अणुराअ [अनुराग], जुअल [युगल], णअर [नगर], पउर [प्रचुर], भोअण [भोजन], रसाअल [रसातल], हिअअ [हृदय], रूअ [रूप], दिअह [दिवस]।

[५] पदमध्यवर्ती ख, घ, थ, ध, फ, भ प्राकृतमें प्रायः ह के रूपमें विकसित हुए हैं।[2] मुह [मुख], सही [सखी], मेह [मेघ], लहुअ [लघुक], रुहिर [रुधिर], वहू [वधू], सहर [शफर], अहिणव [अभिनव], णह [नभ, नख]।

[६] कहीं कहीं स्वरमध्यगत व्यञ्जनका द्वित्व भी हो जाता है, उज्ज [ऋजु], एक्क [एक]।

[७] स्वरमध्यगत ट, ठ क्रमश. ड, ढ हो जाते हैं,[3] पड [पट], कुडिल [कुटिल], कुडुम्ब [कुटुम्ब], वड [वट], पढण [पठन]।

---

१ कगचजतदपयवां प्रायो लोप —प्राकृतप्रकाश २।२ [साथ ही] प्राय. कगजतदपयवा लोप —प्राकृतसर्वस्व २।२ इस संबधमें इतना संकेत कर दिया जाय कि सस्कृत अघोप-सघोप अल्पप्राण क, ग, च, ज, त, द लुप्त होने के पूर्व एक और विकास स्थितिसे गुजरे होंगे। संभवतः इसमेंसे अघोप अल्पप्राण पहले सघोप अल्पप्राण हुए होगे, बादमें सभी सघोप अल्पप्राण 'ग, ज, द' सोप्म 'ग़, ज़, द़' होकर तव लुप्त हुए होंगे। इस प्रकार इनका विकास क्रम यों रहा होगा।

लोक > लोग > लोग़ [loɣa] > लोअ,

अनुराग > अणुराग [anuɪaɣa] > अणुराअ

प्रचुर > पजुर > पज़ुर [pazuɪa] ∠ पउर

रसातल > रसादल > रसाद़ल [rasaðala] ∠ रसाअल

[दे० डॉ० चाटुर्ज्या. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी पृ० ६१]

२ खघथधभा ह. — प्रा० प्र० २।२७

३. टोड । [२।२०] ठोढ. [२।२४]—प्राकृत प्रकाश।

[८] स्वरमध्यगत प यदि लुप्त नहीं होता, तो वह व के रूपमें विकसित होता है।[1] रूव [रूप], दीव [दीप], उवरि [उपरि], उवअरण [उपकरण], अवर [अपर] [हि० और]।

[९] संयुक्त व्यंजन ध्वनियोंके परवर्ती विकासकी प्रमुख विशेषतायें ये हैं :—

[क] क, ग, ड, त, द, प, ब, ष, स संयुक्त ध्वनियोंमें प्रथम ध्वनि होने पर परवर्ती ध्वनिके समान हो जाते हैं, अर्थात् प्रथम ध्वनिमें समीकरण हो जाता है। जुत्तं [युक्तं], मुद्धं [मुग्ध], खग्गो [खड्गः] उक्कण्ठा [उत्कण्ठा], उप्पलं [उत्पलं], मुग्गो [मुद्ग], सुत्तो [सुप्तः], सद्दो [शब्दः], खुज्जो [कुब्जः], छट्ठो [षष्ठ.],

[ख] ल, व, र संयुक्त ध्वनिमें होने पर सदा [लुप्त होकर] समीकृत हो जाते हैं :—वक्कलं [वल्कलं], सुक्को [शुक्कः], बेल्लं [विल्व]; सक्को [शक्र.], अक्को [अर्क.]।

[ग] ष्क-स्क; ष्ट, ष्प [ष्फ], स्त [स्थ], स्प [स्फ] क्रमशः प्राकृतमें क्ख, ट्ठ, प्फ, त्थ प्फ, के रूप में विकसित हुए हैं :—

पोक्खर [पुष्कर],सुक्ख [शुष्क], दिट्ठि [दृष्टि], सुट्ठु [सुष्ठु]; पुप्फ [पुष्प], निप्फल [निष्फल], हत्थ [हस्त], अवत्था [अवस्था], फलिह [स्फटिक], फुसइ [स्पृशति]।

[घ] क्ष, द्य, ह्म, क्रमशः क्ख, ज्ज, म्ह होते हैं :—अक्खि [अक्षि], वेज्जो [वैद्यः], विज्जा [विद्या], बम्हणो [ब्राह्मणः]।

[१०] शौरसेनी तथा महाराष्ट्रीमें प्रायः ध्वनिपरिवर्तनकी दृष्टिसे

---

१. पोवः—प्रा० प्रकाश २।१५

समानता ही है।[1] मागधी प्राकृतमे कुछ निजी विशेषताएँ है, उनका संकेत यहाँ किया जाता है।

[क] मागधीमे श, ष, स तीनोंके स्थानों पर श का विकास हुआ है:— शमल [समर], शुश्क [शुष्क], पुलिशे [पुरुषः]।

[ख] मागधीमे र, ल दोनोका विकास ल के रूपमे पाया जाता है। लाजा [राजा], शमल [समर], पुलिशे [पुरुषः]।

[ग] शौरसेनीकी तरह यहाँ भी स्वरमध्यगत द पाया जाता है :— भविश्शदि [भविष्यति]।

प्राकृत-पद-रचना

प्राकृतमे सस्कृतकी पदरचना सरलताकी ओर बढी। यह सारल्यप्रवृत्ति शब्दो तथा धातुओ दोनोके रूपोमे दिखाई पड़ती है। सस्कृतके तीन वचन प्राकृतमें आकर केवल दो ही रह गये है। प्राकृतमे केवल एकवचन तथा वहुवचन ही है, द्विवचनका वहाँ अभाव है। प्राकृतकी इसी परम्पराका निर्वाह अपभ्र श तथा आ० भारतीय आर्य भाषाओमे पाया जाता है।

प्राकृतके प्रातिपादिक अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त, आकारान्त, ईकारात, ऊकारान्त [स्त्रीलिंग] अधिक हैं। सस्कृतके हलन्त प्रातिपदिक यहाँ आकर प्रायः अदन्त हो गये है। यही हाल सस्कृतके ऋकारान्त शब्दोका हुआ है। भत्तार [स० भर्तृ], माआ [स० मातृ]। सस्कृत हलन्त

---

१ शौरसेनी तथा महाराष्ट्रीमें प्रमुख भेद यह है कि शौरसेनीमें स्वरमध्यगत द लुप्त नहीं होता, आगदो [महा० आगओ, सं० आगतः]। इसी तरह शौरसेनीमें स्वरमध्यगत ध [सं० थ] सुरक्षित रहता है, वह ह नहीं होता। जैसे अध [महा० अह सं० अथ], कधम्, [महा० कहम्, स० कथम्], णाध [महा० णाह, सं० नाथ]।

शब्दोका विकास अदन्तोमे हो गया है :—राश्रा [राजन्], अप्पा, अत्ता, [आत्मन्], बह्मा [ब्रह्मन्]।

प्राकृत कालमे आकर संस्कृत लिग सुरक्षित रहे है। पुल्लिग, स्त्रीलिंग तथा नपुसकलिंग तीनो प्रकारके रूप वहॉ पाये जाते है। किंतु नपुंसक-लिंगोके रूपोको देखने पर पता चलता है कि सस्कृतमे ही इनके रूपोंकी बहुत कमी है। प्रथमा-द्वितीया विभक्तिवाले रूपोको छोड़कर बाकी विभक्तियोमे ये पुल्लिग रूपोमे ही समाहित रहे है। प्राकृतने इन नपुसक शब्दोके प्रथमा द्वितीया [कर्ता-कर्म] के एकवचन तथा बहुवचनके रूपोको सुरक्षित रक्खा है :—वणं, कुसुमं [कर्ता-कर्म एकवचन रूप], वणाइँ, वणाइ, वणाणि; कुसुमाइँ, कुसुमाइ, कुसुमाणि [कर्ता-कर्म बहुवचन रूप]। सिवाय इन दो रूपोके अन्य सभी रूप पुल्लिग जैसे पाये जाते है। यही कारण है कि अपभ्रंशमे आकर ये नपुसकलिंग रूप भी लुप्त हो गये हैं। इनमेसे अधिकतर पुल्लिग रूप बन गये है।

प्राकृत कालमे आकर विभक्तियोकी भी सरलता पाई जाती है। सस्कृतमे आठ विभक्तियॉ पाई जाती है, किन्तु यहॉ चतुर्थीका लोप हो गया है, वह षष्ठीमे सम्मिलित हो गई है। इस प्रकार प्राकृतमे प्रथमा [कर्ता], द्वितीया [कर्म], तृतीया [करण], चतुर्थी-षष्ठी [सम्प्रदान-सबंध], पचमी [अपादान], सप्तमी [अधिकरण] तथा सबोधन ये सात ही विभक्तियॉ पाई जाती है। यही नहीं रूपो तथा सुप् विभक्तियोमे भी बडी सरलता हो गई है, तथा सभी पुल्लिग शब्दोके रूप प्रायः अकारान्त शब्दोके रूपोसे प्रभावित हुए है। अकारान्त तथा इकारान्त-उकारान्त शब्दोके षष्ठी ए० व० रूपोमे जो भेद था, वह लुप्त हो गया, तथा इकारान्त-उकारान्त शब्दोमे वे रूप भी सम्मिलित हो गये—वच्छस्स [वत्सस्य], अग्गिस्स [अग्नेः], अग्गिणो [अग्ने.]; वाउस्स [वायोः], वाउणो [वायोः]। इसी तरह अकारान्त पुल्लिग शब्दोके तृतीया ए० व० के रूप अन्य शब्दोकी भॉति हो गयेः—वच्छेहिं-वच्छेहि [वत्सैः], अग्गीहि-अग्गीहि [अग्निभिः] वाऊहिं-वाऊहि [वायुभिः]।

इसी प्रकार हलन्त शब्दोंके अजन्तीभूत प्राकृत शब्दोंके रूप भी अकारान्त पुल्लिग शब्दके रूपोंसे प्रभावित हुए, करेन्तो [कुर्वन्], पुलोअन्तो [प्रलोकयन्]।

स्त्रीलिंग आ, ई, ऊ अन्तवाले शब्दोंमें रूपोंकी समानता पाई जाती है। प्रथमा [कर्ता] बहुवचनमें सभीमें तीन तरहके रूप पाये जाते हैं; [१] शून्य अविकारी रूप, [२] ओ-विभक्ति चिह्नवाला रूप, [३] उ विभक्ति चिह्नवाला रूप, यथा माला, मालाओ, मालाउ, नई, नईओ, नईउ, वहू, वहूओ, वहूउ, माआ, माआओ, माआउ, [संस्कृत माला., नद्य, वध्व, मातर]। स्त्रीलिग शब्दोंके सुप् विभक्ति चिह्न दो तीन रूपोंको छोडकर प्राय. वे ही हैं, जो पुल्लिग रूपोंके। प्रथमा-द्वितीया बहुवचनके रूपों [जिनका उदाहरण अभी-अभी दिया गया है] के अतिरिक्त षष्ठी [सम्बन्ध-सम्प्रदान] ए० व० के रूप भी स्त्रीलिग शब्दोंमें भिन्न हैं। संबंध कारक ए० व० में स्त्रीलिग रूपोंके चिह्न इ, ए, उ, अ, आ कई देखे जा सकते हैं.—वहूइ, वहूए, वहूउ, वहूअ, वहूआ [स० वध्वा]। स्त्रीलिग शब्दोंके तृतीया [करण] ए० व०, तथा सप्तमी [अधिकरण] ए० व० के रूप भी प्रायः ये ही होते हैं। यही कारण है कि स्त्रीलिंग रूपोंमें करण, सम्प्रदान, संबंध तथा अधिकरण चारोंके एकवचन एक ही हैं। द्वितीया [कर्म] ए० व० के रूपोंमें प्रातिपदिककी अन्तिम स्वरध्वनिको ह्रस्व बनाकर 'म्' विभक्तिचिह्न प्रयुक्त होता है :—मालं [स० माला], नइं [स० नदी], वहुं [स० वधूं]।

संस्कृतके सर्वनाम रूपोंमे अस्मत्-युष्मत् शब्दोंके रूपोंमें कई तरहके परवर्ती विकास देखे जाते हैं। अहं का विकास ह, अह, अहअ, तथा त्व का विकास तं, तुम, तुं इन वैकल्पिक रूपोंम देखा जाता है। कर्ता बहुवचन में क्रमशः अम्हे [शौर० वअ], तुज्झे-तुम्हे रूप पाये जाते है। अन्य कारकोंके ए० व० तथा बहुव० मे इन दोनों शब्दोंमें अनेक वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं। इनमें कई तो संस्कृतका प्रभाव है, कई अकारान्त पुल्लिग

शब्दोका प्रभाव है, यथा—मइ, मए, समम्मि, ममस्सि [स० मयि], मत्तो, मइत्तो, ममाद्दो, ममादु, ममाहि [स० मत्]। इसी तरह युष्मत् शब्दके रूपोका भी वैकल्पिक विकास देखा जा सकता है।

सज्ञा तथा सर्वनाम रूपोकी अपेक्षा प्राकृत क्रियारूपोमे अत्यधिक परिवर्तन पाया जाता है। जिस प्रकार प्रातिपदिक रूपोके अतमे एकरूपता लानेकी प्रवृत्ति पाई जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है। सस्कृत धातुओमे अतमे व्यञ्जन ध्वनियाँ भी पाई जाती है। प्राकृतमे आकर ये सभी धातु स्वरान्त हो गये है। इस प्रकार सस्कृतके दस गणोका भेद यहाँ आकर लुप्त होने लगा है, और अपभ्रशमे आकर तो केवल एक ही गण रह गया है। बादमे प्रायः सभी धातु रूप भ्वादिगणी बन गये है। शब्द रूपोके साथ ही साथ धातु रूपोमे भी द्विवचन लुप्त हो गया है। आत्मनेपदी रूपोका प्रायः अभाव हो गया है। इसी प्रकार लिट् तथा लङ् भी धीरे-धीरे लुप्त हो गये है, तथा उनके लिए प्रायः कृदन्त रूपोका प्रयोग होने लगा है। इस प्रकार मोटे तौर पर प्राकृतमे लट् [वर्तमान काल], लोट् [आज्ञात्मक], लृट् [भविष्यत्] रूपो तथा यदा कदा लिङ् [विधिरूप] का अस्तित्व पाया जाता है। इसके साथ ही प्राकृतमे कर्मवाच्य भी रूप देखे जा सकते है, जिनका विकास सस्कृतके 'य' वाले रूपोसे माना जा सकता है। ये कर्मवाच्य रूप भी प्राकृतमे आकर प्रायः परस्मैपदी हो गये है :—दिज्जइ-दिज्जहि [स० दीयते], गमीअदि [शौ०], गच्छीअदि [शौ०], [स० गम्यते] प्राकृत धातुरूपोमे सस्कृत णिजन्त रूपोके –अय– का विकास –ए– रूपमे देखा जाता है, हासेइ [हासयति], णिव्वावेदि [निर्वापयति]।

प्राकृतमे वर्तमान काल तथा भविष्यत् कालके तिङ् चिह्न एकसे ही है। ठीक यही बात सस्कृतमे पाई जाती है। वैसे भविष्यत्के रूप उसीके स्य विकरणवाले रूप है। यह स्य प्राकृतमे आकर स्स हो गया है। वर्तमानके पढदि-पढइ, पढसि, पढामि, पढन्ति, पढध, पढामो तथा

भविष्यत्के पढिस्सदि-पढिस्सइ, पढिस्ससि, पढिस्सामि, पढिस्सन्ति, पढिस्सध, पढिस्सामो रूप बनते हैं। लोट्में पढदु, पढ, [पढामु], पढन्तु, पढध, पढम्ह रूप पाये जाते हैं।

संस्कृतके शतृ प्रत्ययान्त रूप प्राकृतमें आकर '-न्तो' वाले रूप बन गये हैं:—पुच्छन्तो, पढन्तो। इसी तरह संस्कृतके शानच् वाले रूप प्राकृतमें पुच्छमाणो, पुच्छिस्समाणो [स्यमान] हो गये हैं। संस्कृतके तुमुन्का विकास उ [दु] के रूपमें पाया जाता है। कहिउ-कहिदु [कथयितु]। संस्कृत त्वाका विकास प्राकृतमें नहीं पाया जाता। यहाँ अनुपसर्ग तथा सोपसर्ग दोनोंमें शौरसेनीमें अ तथा महाराष्ट्रीमें ऊण प्रत्यय पाया जाता है। शौरसेनी अ संस्कृत 'य' [ल्यप्] का ही विकास है। संस्कृत पृष्ट्वा, गृहीत्वा के प्राकृत रूप पुच्छिअ-पुच्छिऊण [महाराष्ट्री], घेत्तूण होते हैं।

भूतकालके लिए प्राकृतमें कृदन्त रूपोंसे भी काम लिया जाता है। प्राकृतप्रकाशके सप्तम परिच्छेदमें प्राकृत धातुके भूतकालिक आदेशोंका संकेत मिलता है:—

१ ईअ भूते॥ [भूतकालमें धातुमें तिङ् प्रत्ययको ईअ आदेश होता है]।

२ एकाचो हीअ॥ [एक स्वर धातुमें भूतकालके तिङ् प्रत्ययको हीअ आदेश होता है]।

३ अस्तेरासिः॥[1] [अस् धातुका भूतकालिक रूप आसि होता है।] इन रूपोंको देखनेपर पता चलता है कि ये वस्तुतः क्त प्रत्ययान्त रूपोंके ही विकास हैं। हुवीअ [अभवत], हसीअ [अहसत], होहीअ [अभूत] को वस्तुतः भूत, हसित, भूत का ही विकास माना जा सकता है। इसी तरह आसि को भी आसन्त [*आसितः] का विकसित रूप माना जा सकता है, पर इसे आसीत् से भी विकसित समझा जा सकता है—आसीत-आसी [आसि]।

---

१ प्राकृतप्रकाश ७।२३, ७।२४, ७।२५।

अपभ्रंश कालकी प्रमुख विशेषताएँ

अपभ्रंश कालमें स्वरध्वनियाँ प्रायः अविकृत रही हैं। यदि उनमें विकार हुआ है, तो वह प्रातिपदिकोंके अन्तमें स्थित स्वरोंमें पाया जाता है, जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे। यही कारण है, हेमचन्द्रने यह कहा है कि स्वरोंके स्थानपर प्राकृतमें प्रायः स्वर ही पाये जाते हैं।[1] स्वरध्वनियोंमें अपभ्रंशमें भी प्राकृतकी भाँति ही संस्कृत ऋ, ऐ, औ ध्वनियोंका सर्वथा अभाव है तथा वे क्रमशः अ-इ-उ; ए, ओ के रूपमें विकसित हो गये हैं। वैसे वैयाकरणोंने अपभ्रंशमें ऋ ध्वनिका अस्तित्व माना है। प्राकृतवाले ह्रस्व ए, ओ का विकास अपभ्रंशमें भी पाया जाता है। व्यंजन ध्वनियोंमें अपभ्रंशमें संस्कृतकी ङ, ञ, श, ष ध्वनिके अतिरिक्त अन्य सभी ध्वनियाँ पाई जाती हैं। इस भाषाके ध्वनिगत विकासकी खास विशेषता स्वरमध्यग सं० म का वँ वाला विकास है :—कवँल [कमल], गवँण [गमन]। वँ का विकास हम अपभ्रंशसे परवर्ती रूपोंमें प्राचीन हिन्दीमें भी देख सकते हैं, राजस्थानीमें यह वँ ध्वनि अभी भी पाई जाती है।

अपभ्रंश तक आकर प्रातिपदिकोंका लिंगविधान और सरल हो गया। यहाँ पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग रूपोंका बाहुल्य है, नपुंसक लिंग रूपोंका प्रायः लोप हो गया। इसी तरह स्त्रीलिंग रूपोंके पदान्त आ के ह्रस्व अ होनेसे वे रूपोंकी दृष्टि से वे पुल्लिंग अकारांत शब्दोंका अनुकरण करने लगे। अपभ्रंशमें आकर सभी प्रातिपदिक स्वरान्त हो गये। इस प्रवृत्तिका आधिक्य प्राकृतकालमें ही हो चला था, जिसका संकेत हम ऊपर दे चुके हैं, अपभ्रंशमें आकर प्रातिपदिकोंके पदान्त आ, ए, ओ क्रमशः अ, इ, उ हो गये। माअ [प्राकृत माआ, संस्कृत माता], कण्हु [प्राकृत कण्हो, संस्कृत कृष्णः]। अपभ्रंशमें कर्ता कर्म ए० व० में उ प्रयुक्त होता है जो अपभ्रंशकी खास विशेषता बन बैठा। इसीलिये अपभ्रंश 'उकार-बहुला भाषा' कहलाने

1. स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे। ८।४।३२९ [हैम व्याकरण]।

लगी। कर्ता-कर्म कारक ए० व० में इस प्रकारके रूपोंका संकेत हेमचन्द्रने भी किया है:—दहमुहु, संकर, चउमुहु, छंमुहु [दशमुख, शंकर॰, चतुर्मुख, षण्मुख॰][1]।

अपभ्रंश तक आते आते संस्कृतकी सुप् विभक्तियाँ परसर्गोंका रूप लेने लगी और अपभ्रंशमें कई विभक्ति रूप समाप्त हो गये। संबंध कारकके लिए केरक, केर, केरा करण कारकके लिए सो, सओ, सहुँ, सम्प्रदानके लिए केहि, तथा अधिकरणके लिए मॉंझि, उप्परि जैसे परसर्गोंका प्रयोग पाया जाता है। अन्य विभक्तियोंने पुंलिंग तथा स्त्रीलिंगके रूपोंमें भी समानता-सी हो चली। कर्ता-कर्म एकवचन, कर्ता-कर्म बहुवचनमें दोनों जगह कहीं कहीं उ विभक्ति चिह्न प्रयुक्त होने लगा, तथा कभी-कभी कर्ता कारक ए० व० में केवल प्रातिपदिक रूप [शून्य विभक्तिवाले रूप] का प्रयोग होने लगा, जो हिन्दी आदि आ० भा० आ० भाषाओंके अविकारी [direct] रूपोंके रूपमें विकसित हुआ। अन्य कारकोंमें एण, एँ, [करण], हुँ, हे [अपादान] हे, हो, सु, स्स [संबंध], हि [अधिकरण] सुप् चिह्न एकवचन रूपोंमें तथा ह [सम्प्रदान, अपादान, संबंध, अधिकरण], हो [संबोधन] बहुवचन रूपोंमें पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश तक आते आते बहुवचनके रूप बहुत सरल हो गये।

संस्कृतके तिङन्त रूप जिनका थोडा बहुत शेष प्राकृतकालमें बच गया था, अपभ्रंश कालमें और लुप्त हो गया। तिङन्तोंके भाव बोधनके लिए अपभ्रंशके कृदन्त-प्रत्यय प्रयुक्त होने लगे। वर्तमान तथा भविष्यत्के तिङन्त तद्भव रूपोंको थोडा बहुत सुरक्षित रक्खा बाकीमें कृदन्तोंसे काम लिया जाने लगा। संस्कृत धातुओंमेंसे कईके लिए नये आदेश हो गये, यथा, बोल्ल [√वद्], मुक्क-मुञ्च [√मुच्], चअ [√शक्]।

अपभ्रंशमें परस्मैपद ही पाया जाता है। हम प्राकृतमें ही आत्मनेपदका अभाव देख चुके हैं। उत्तम पुरुष एकवचन तथा बहुवचनमें

1. हेमव्याकरण ८।४।३३१।

अपभ्रंशमें क्रमशः 'उ' तथा 'हुं' तिङ् विभक्ति पाई जाती है[1] :—'हउ भणउ' [अहं भणामि], अम्हे भणहुं [वयं भणामः]। अन्यरूपोंमें प्रायः वे ही तिङ् चिह्न पाये जाते हैं, जो प्राकृतमें हैं—सि–हि [मध्यम पुरुष], इ, अंति, अइं [अन्य पुरुष]। भविष्यत् कालके रूप वर्तमान कालके तिङ् चिह्नोंवाले ही होते हैं :—जाहि [यास्यसि], फलहि [फलिष्यन्ति], कुणहिं [करिष्यन्ति], होसि [भविष्यसि]। भूतकालके रूपोंमें केवल आसी [आसीत्] को छोड़कर प्रायः सभी भूतकालिक रूप कृदन्तोंसे विकसित हैं[2]।

जैसा कि हम देख चुके हैं प्राकृत कालमें संस्कृतके विभक्तिरूप किसी सीमा तक सुरक्षित रहे। यही कारण है कि प्राकृतकालमें वाक्यरचनाके सम्बन्धमें संस्कृतकी परिपाटीका प्रयोग पाया जाता है। अपभ्रंश कालमें आकर शब्दोंके विभक्तिज रूप बहुत कम काममें आने लगे तथा सम्बन्ध-बोधनके लिए परसर्गोंका प्रयोग किया जाने लगा। फलतः वाक्यमें कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंके लिए एक निश्चित स्थान रह गया। हिन्दी आदि आ० भा० आ० भाषाओंकी निश्चित वाक्यरचनाके विकासके चिह्न हम अपभ्रंश कालमें ही देख सकते हैं।

आ० भारतीय आर्य भाषाओंकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ

संस्कृतकी स्वर तथा व्यंजन ध्वनियोंका परवर्ती विकास हम देख चुके हैं। प्रायः वे ही ध्वनियाँ परवर्ती भाषाओंमें विकसित पाई जाती हैं। फिर भी कुछ विशेषताएँ पाई जाती हैं। स्वरोंके उच्चारणमें बंगालीमें अ का उच्चारण लुंठित निम्न मध्य-पश्च प्रकृतिका पाया जाता है। अन्य भाषाओंमें इनका उच्चारण प्रायः उदासीन स्वर [ə] सा पाया जाता है। इसके भी अग्र तथा पश्च दो रूप पाये जाते हैं। हिन्दीके द्व्यक्षर या अधिक

---

1. मार्कण्डेयः प्राकृत सर्वस्व १७।५७ [पृष्ठ ११८]
2. डॉ० हीरालाल जैनः सावयधम्म दोहा [भूमिका] पृष्ठ २६

अक्षरवाले [monosyllbale] शब्दोंमे इस स्वरका अग्ररूप प्राय: एक ही [अधिकतर पहले अक्षरमे ही] अक्षरमे पाया जाता है, अन्य अक्षरमें उसका पश्च रूप ही पाया जाता है। उदाहरणके लिए **कमर, कसर, करवट, करम** मे प्रथम उदासीन स्वरका उच्चारण अग्र प्रकृतिका [ə] है, जब कि बादके अक्षरवाले स्वरका उच्चारण पश्च प्रकृति [ʌ] का है। त्र्यक्षर शब्द **करवट** का उच्चारण द्व्यक्षर रूपमे **कर्वट** भी होता है। प्रथम उच्चारण करने पर **र** तथा **व** दोनोका परवर्ती स्वर पश्च प्रकृतिका [ʌ] ही है। यहीं यह भी ध्यान देनेकी बात है कि जहॉ संस्कृतमे अन्तमे '**अ**' ध्वनि पाई जाती है, वहॉ हिन्दीमे उसका उच्चारण नहीं होता। **राम, आम्र, काम** का हिन्दीमे **राम्, आम्, काम्** रूप देखा जाता है। वैसे जिन भाषा-ओंमे पदान्तमे **ळ, ड, ण** ध्वनि पाई जाती है, वहॉ उसके बाद '**अ**' श्रुति [ə-glide] का उच्चारण पाया जाया है। राजस्थानीमे इस श्रुतिका प्रयोग **काळ, हाड, काण** जैसे शब्दोके उच्चारणमे होता है। पश्चिमी हिन्दी तथा राजस्थानीमे ध्वन्यात्मक समानताएँ अधिकतर पाई जाती है। व्यञ्जन ध्वनियोमे पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी तथा मागधी वर्ग [उडियाको छोड़-कर] मे केवल दो ही अनुनासिक ध्वनियॉ [**न, म**] पाई जाती है, जब कि राजस्थानी, गुजराती, पजाबी, मराठी, पहाडी तथा उडियामे **ण** ध्वनि भी पाई जाती है। राजस्थानी, गुजराती, मराठीकी भॉति उडियामे **ळ** [उत्क्षिप्त प्रतिवेष्टित ल] का स्वरमध्यगत रूप भी पाया जाता है[1]। पश्चिमी हिन्दी राजस्थानी तथा गुजरातीमे, तथा पूर्वी हिन्दी [मैथिलीमे भी] '**ड**' का स्वर मध्यगत '**ढ**' रूप भी पाया जाता है। चवर्ग ध्वनियोका उच्चारण सभी आ० भा० आ० भाषाओमे सोष्म स्पर्श या घर्ष स्पर्शके रूपमे होता है। इनका उच्चारण कुछ त्श्, त्श्ह्, द्ज्, द्ज़्ह् जैसा होता है। मराठीमे इनका उच्चारण इस तरहका वर्त्स्य घर्ष [alveolar affricate] न होकर दन्त्य घर्ष [dental affricate]—त्स्, द्ज् जैसा होता है। मराठीका

१. क्या उडिया पर यह मराठीका प्रभाव तो नहीं।

यह प्रभाव राजस्थानकी डूंगरपुर, बासवाडा, प्रतापगढकी मालवीमे तथा मेवाडीकी कुछ बोलियोमे देखा जाता है। भीलीमे भी **च, ज** का उच्चारण दन्त्य घर्ष ही होता है।

प्राकृत तथा अपभ्रंशके द्वित्ववाले रूपोमे आ० भा० आ० भाषाओमे पूर्ववर्ती स्वरको दीर्घ बनाकर अक्षर-भारकी रक्षा की जाती है! **सं० कर्म, अद्य, अष्ट** के हिंदी रूप **काम** [∠**कम्म**], **आज** [∠**अज्ज**], **आठ** [∠**अट्ठ**] पाये जाते है। पजाबीमे इनके रूप **कम्म, अज्ज, अट्ठ** ही पाये जाते है। इसी तरह **सं० बुभुक्षा** का हिंदी रूप **भूख** [∠**बुभुक्खा—भुक्खा—भुक्ख**] होता है, जब कि पंजाबीमे यह **पु'क्ख** [**बुक्ख**] मिलता है। हम बता चुके हैं कि सिधी, लॅंहदा तथा पजाबी पर पैशाचीका कुछ-कुछ प्रभाव पाया जाता है। काश्मीरीमे संस्कृतकी सघोष महाप्राण ध्वनियोका सघोष अल्प-प्राणरूप देखा जाता है। पजाबीके लिए अब तक विद्वानोका यह मत है कि सं० हि० **घ, झ, ढ, ध, भ** ध्वनियॉ वहॉ **क, च, ट, त, प** हो जाती है, यथा **घोडा, झूठ, भाइ, भरम** वहॉ **को'डा, चू'ट, पा'ई, प'रम** हो जाते है। पर कुछ नवीन पाश्चात्य विद्वानो[1] का यह मत है कि असलमे संस्कृत या हिन्दी सघोष महाप्राण ध्वनियॉ पजाबीमे शुद्ध अघोष अल्पप्राण नहीं होती। वस्तुतः वे सघोष अल्पप्राण ही होती है, तथा महाप्राण रूपोके कारण उनका अघोषीभूत [devoiced] रूप देखा जा सकता है। यही कारण है, वे ऊपरकी **क, च, प** ध्वनियोको **ग, ज, ब,** का ही अघोषीभूतरूप मानते है, तथा **ग़, ज़, ब़** [g̥, j̥, b̥] लिखना ज्यादा ठीक समझते है।

संस्कृतमे जहॉ संयुक्त ध्वनियोमे प्रथम ध्वनि नासिक्य व्यञ्जन तथा द्वितीय केवल व्यञ्जन होती है, वहॉ सिंधी पजाबीको छोड़कर सभी आ० भा० आ० भाषाओमे नासिक्य व्यजन ध्वनि लुप्त हो जाती है तथा पूर्ववर्ती

---

१. लन्दन विश्वविद्यालयके स्कूल ऑव् ओरियन्टल स्टडीजमें भाषा-विज्ञानके अध्यापक डॉ० डब्ल्यू एस० एलनका यही मत है।

स्वरध्वनि दीर्घ सानुनासिक बना दी जाती है.—दन्त [हि० दाँत], कण्टक [हि० काँटा], √कम्प् [हि० काँपना]। सिंधी-पजाबीमे इनके दन्द, कंडो, कम्ब रूप मिलते है।

आ० भा० आ० भाषाओंमे ध्वनियोसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन पदरचनामें हुआ। हम देख चुके हैं कि प्राकृतसे भी अधिक पदरचनात्मक सरलता अपभ्रशमे पाई जाती है। अपभ्रशकी इसी विशेषताको आ० भा० आ० भाषाओंने ग्रहण किया है। आ० भा० आ० भाषाओंमे नपुसक लिंग सर्वथा लुप्त हो गया। यदि कहीं इसके कुछ चिह्न मिलते हैं, तो गुजराती व मराठी में। गुजरातीमें इसका चिह्न उँ है, यथा घणुँ खाद्धुँ में नपुसक रूप ही है। नपुसकलिंगके सर्वथा लुप्त होनेसे कई नपुसक शब्द जो एक भाषामे पुल्लिंग बने है, इतर भाषामें स्त्रीलिंग बन गये। पुस्तक शब्द बँगलामें पुल्लिग है, तो पश्चिमी हिंदीमें स्त्रीलिंग। किंतु पुल्लिग स्त्रीलिंगमे भी सस्कृतवाला लिंग विचार नहीं रहा है। हिंदीमें तो अकारान्त पुल्लिग है, आ-ई, उ अन्तवाले प्रायः स्त्रीलिंग माने जाते है, वैसे इस नियमके कई अपवाद भी देखे जा सकते हैं। अग्नि, आत्मा, मृत्यु जैसे पुल्लिग शब्द भी हिंदीके रूपोमें स्त्रीलिंग आग, मीचु, आत्मा बन गये है।

अपभ्रंशमे ही संबधबोधनके लिए परसर्गोंका प्रयोग होने लगा था, फिर भी वहाँ कुछ तिङ् चिह्न बचे रह गये थे। आ० भा० आ० भाषाओंमें उनका भी लोप हो गया। इस तरह सस्कृतकी आठ विभक्तियाँ यहाँ आकर केवल दो ही रूपोंमे रह गई :—

[१] प्रातिपादिक रूप [direct form] या कर्ता कारकके रूप।

[२] तिर्यक् रूप [oblique form] या अप्रधान कारक रूप।

आ० भा० आ० भाषाओंमे परसर्ग इन्हीं तिर्यक् रूपोंके साथ प्रयुक्त होते है। कर्ता कारक एकवचन तथा बहुवचनके रूप पूर्वी भाषाओंमे एक ही है, और इस प्रकार उनके साथ बहुवचन वाचक जन, सअल जैसे शब्द

जोडकर या फिर षष्ठी बहुवचनसे बने परसर्ग 'अन' 'अनि' [सं० ∠आनाम्] जोडकर बहुवचनका बोध कराया जाता है: लोगनि, घोडवन [भोजपुरी]। पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, सिंधी, मराठीने संस्कृत बहुवचन रूपोंका सर्वथा लोप न कर निजी विकास किया है :—रात् [रात्रिः], राती [रात्रयः]; बात् [वार्ता], बाते [∠*वार्तानि] [रा० वाताँ ∠*वार्तानि]। बाकी रूपोमे पश्चिमी हिंदी [खडी बोली तथा उसकी विभाषाओं] मे ने, को, से, का [के, की], में इत्यादि परसर्गोका प्रयोग पाया जाता है। पश्चिमी राजस्थानीमे का के स्थानपर रो [रा, री], पञ्जाबीमे दा [दे, दी], गुजरातीमे नो, [ना, नी] तथा मराठीमे चा [चे, ची] पाया जाता है। पूर्वी भाषाओमे संबंध कारकके लिए क, केर, एर का प्रयोग होता है।

आ० भा० आ० भाषाओंके क्रिया रूप सीधे संस्कृत तिङन्तोसे नहीं आये है। इनके विकासमे संस्कृत कृदन्तोंका बहुत हाथ रहा है। हिन्दीके वर्तमान कालिक क्रिया रूप कृदन्त "अन्त" [अत्] से विकसित हुए है। कृदन्त रूपोंके साथ सहायक क्रिया "है" जोड़कर वर्तमानकालका बोध कराया जाता है। हिन्दीका वह खाता है सस्कृतके स खादन् [*खादन्त] भवति से विकसित कहा जा सकता है। इसी तरह हिन्दीके भूतकालके रूप सस्कृतके त [इत] वाले निष्ठाप्रत्ययरूपोसे विकसित हुए है। यही कारण है कि हिंदीमे जहॉ संस्कृतके कर्मवाच्यरूपोका विकास हुवा है, वहॉ कर्ता के साथ 'ने' का प्रयोग पाया जाता है, जब कि भाववाच्यसे विकसित रूपोमे इस परसर्गका प्रयोग नही होता—उसने रोटी खाई [तेन रोटिका खादिता], वह सोया [स शयितः]। हिंदीके भविष्यत् रूपोमे 'गा' [गे, गी] वस्तुतः संस्कृत √गम् के क्तप्रत्ययात रूप गतः का विकास है। पश्चिमी आ० भा० आ० मे से कुछका सस्कृतके भविष्यत् रूपोसे भी स्वतन्त्र विकास हुआ है। राजस्थानीमे तीन तरहके भविष्यत् रूप पाये जाते है। पढैगो [phədə: go], पढसी, पढैलो [phədə: lo]; इनमे द्वितीय रूपका विकास पठिष्यति—पढिस्सइ →पढसी [गु० पढशी] यो माना जा सकता है। तीसरा भविष्यत्

रूप ग्रियर्सनके मतानुसार राजस्थानीको विदेशी जातियों [गुर्जरो] की देन है। पूरबकी आ० आ० भाषाओंमे से कईने वर्तमान रूप सीधे सस्कृत-प्राकृतसे विकसित किये हैं। वैसे भूतकालके रूप वहॉ भी कृदन्तरूपोसे ही विकसित हुए है। किन्तु वहॉ ये 'ल' प्रत्ययसे युक्त पाये जाते हैं। बिहारी तथा भोजपुरीमे 'ल' वाले भूतकालिक कृदतोका भूतकालिक प्रयोग देखा जाता है। वैसे भोजपुरीमे —ल् रहित रूप भी पाये जाते हैं। [दे० डॉ० तिवारी · भोजपुरी भाषा और साहित्य पृ० १६७ §३१६]। इस प्रवृत्तिका प्रभाव अवधीमे भी देखा जाता है। डॉ० सक्सेनाने नूरमुहम्मदमे कतिपय —ल वाले भूतकालिक रूपोंका सकेत किया है,—'तापल रहइ', 'गइल सखी तहॅ बहिल बयारा' [दे० डॉ० सक्सेना : इवोल्यूशन आव् अवधी पृ० २४६]।

भविष्यत्के बोधनके लिए पूरबी भाषाओंमे सस्कृतके कर्मवाच्य भविष्यत्कालिक कृदत '—तव्य' से विकसित '—ब' प्रत्ययवाले रूप देखे जाते हैं। ये रूप बॅगला, उडिया, असामिया और बिहारी तथा भोजपुरीमे क्रमशः —इब तथा —अबके रूपमे पाये जाते हैं। [दे० डॉ० तिवारी § ५३७ पृ० २७२] ये —ब वाले रूप पूरबी हिंदीकी प्रायः सभी बोलियोंमे मिलते हैं। अवधीमे भी इनका अस्तित्व पाया जाता है। 'घर कइसइ पइठब मइॅ छूॅछे' [जायसी], 'हरि आनब मइॅ करि निज माया' [तुलसी], 'करब मइॅ सेवा' [नूरमुहम्मद]। [दे० डॉ० सक्सेना §३०४ पृ० २६१-६२]।

सस्कृतके इस भावी विकासपर विहगमदृष्टि डालनेसे यह ज्ञात होता है कि चाहे आजकी भारतीय आर्य भाषाओंकी प्रवृत्ति सरलताकी ओर बढनेके कारण, इनका रूप व्यवहित हो गया है, फिर भी सस्कृतकी परम्परा अविच्छिन्न रूपमे आज तक पाई जाती है।

परिशिष्ट क

[१] वैदिक संस्कृत [ई० पू० १५००]

अग्निमीळे पुरोहितम्,
यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥

[मैं पुरोहित [सामने स्थित], यज्ञके ऋत्विक् रूप, देव [प्रकाशशील], देदीप्यमान तेजवाले, होता [देवताओंको बुलानेवाले] अग्नि देवताकी स्तुति करता हूँ।]

[२] अवेस्ता [ई० पू० ८००]

आ अइर्य्अमा इश्यो रफ़्द्राइ जन्तू
नर्अब्यश्चा नइरिब्यश्च जरथुस्त्राहे।
वङ्हुअउश् रफ़्द्राइ मनङ्हो। [यस्न ५।४]

[आ अर्यमा इष्यः रब्धुं गच्छतु [*गन्तु]
नृभ्यश्च नारीभ्यश्च जरथुत्रस्य।
वर्ष्मणः रब्धुं मनसः]।

[अभीष्ट अर्यमा पुरुषों तथा स्त्रियोंको प्रसन्न करनेके लिए पधारे, वे जरथुस्त्रकी तथा उन्नत मनकी प्रसन्नताके लिए आये।]

[३] पाणिनीय संस्कृत [ई० पू० ६०० के बाद]

अस्ति त्रिदिवतरंगिणी वाराणसी। तत्र प्रतापमुकुटो नाम राजा बभूव। तस्य महादेवी सोमप्रभा नाम। तस्यामनेन राज्ञा वज्रमुकुटो नाम तनयः समुत्पादितः। तस्य वज्रमुकुटस्य प्राणसमः सखा सागरेश्वरस्य

साधिविग्रहिकस्य तनयो बुद्धिशरीरो बभूव। तेन मित्रवरेण सह नाना-शास्त्राभ्यासङ्कुर्वाणो विविधसुखमनुभवन् कालं नयमानस्तस्थौ।

[स्वर्गगाके समान [पवित्र] वाराणसी नगरी है। वहाँ प्रतापमुकुट नामक राजा था। उसकी महारानी सोमप्रभा थी। उसमे इस राजाने वज्रमुकुट नामवाले पुत्रको उत्पन्न किया। उस वज्रमुकुटका प्राणोके समान प्यारा मित्र, साधिविग्रहिक सागरेश्वरका पुत्र बुद्धिशरीर था। उस मित्रके साथ नाना शास्त्रोका अभ्यास करते हुए वह अनेक सुखका अनुभव करता हुआ समय विताता था।]

[४] गाथा संस्कृत [ईसा की द्वितीय-तृतीयशती] [या बौद्ध संकर संस्कृत [बुधिस्ट हाइब्रिड संस्कृत]]

[1]ज्वलित त्रिभव जरव्याधिदुखैः मरणाग्निप्रदीप्तमनाथमिदम्।
गिरिनद्यसम लघुशीघ्रजवं व्रजतायु जगे यथ विद्यु नभे॥
सभया सुपिना सद वैरकरा बहुशोकउपद्रव कामगुणा।
असिधारसमा विषपत्रिनिभा क्षणिका अलिका विदितार्यजनैः॥

[ये तीनो लोक जरा, व्याधि तथा दुःखसे ज्वलित है, मृत्यु रूपी अग्निसे जल रहे है, तथा अनाथ है। ससारमे आयु बडी छोटी तथा शीघ्रगामी है, ठीक वैसे ही जैसे पर्वतकी नदी और आकाशमे विजली। आर्य लोगोने कामगुणोको भयकर, स्वप्नतुल्य, सदा वैर करानेवाले, अनेक शोक व उपद्रव-वाले, असिधारके समान, जहरीले तीरके समान, तथा क्षणिक और झूठे समझ लिया है।]

---

१ इसमे जरव्याधिदुखैः, आयु, जगे, यथ, विद्यु, नभे, सुपिना, सभया, सद, शोकउपद्रव, अलिका, विदितार्यजनैः जैसे रूप शुद्ध संस्कृत नहीं है। इनके शुद्ध सस्कृत रूप जराव्याधिदुःखैः, आयुः [आयुर्], जगति, यथा, विद्युत्, नभसि, स्वप्ना॰ सभया॰, सदा, शोकोपद्रवा॰, अलीका॰, विदिता [ः], आर्यजनैः होंगे।

[५] अशोक कालकी प्राकृत [ई० पू० तीसरी शती]

देवानंप्रियो पियदसि राजा एवं आह, कलाणं दुकरं, ये अदिकरे कलाणेस सो दुकरं करोति, त मया बहु कलाणं कतं।

[गिरनार लेख क ५]

[देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा एवमाह, कल्याणं दुष्करं, यः आदिकरः कल्याणस्य स दुष्करं करोति, तत् मया बहुकल्याणं कृतं।]

[देवताओंके प्रिय प्रियदर्शी राजाने यह कहा है। कल्याण दुष्कर [है]। जो सर्वप्रथम कल्याणका करनेवाला होता है, वह दुष्कर [कामको] करता है। इसलिये मैंने बहुत कल्याण किया है।]

[६] पालि प्राकृत [ईसाकी दूसरी शती]

अतीते वाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्जं कारेन्ते बोधिसत्तो कपियोनियं निब्बत्तित्वा बुद्धिं अन्वाय अस्सपोतप्पमाणो थामसम्पन्नो एकचरो हुत्वा नदोतीरे विहरति।

[अतीते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति बोधिसत्वः कपियोन्यां निर्वर्त्य बुद्धिमन्वेत्य अश्वपोतप्रमाणः स्थामसम्पन्नः एकचरो भूत्वा नदीतीरे विहरति]।

[प्राचीनकालमें, जब वाराणसीमें ब्रह्मदत्त राज्य करते थे, बोधिसत्व बन्दरकी योनिमें जन्म लेकर बुद्धिसे युक्त होकर, घोडेके बच्चेके समान शरीरवाले तथा बलवाले होकर अकेले नदी तीर पर घूमते थे।]

[७] महाराष्ट्री प्राकृत [ईसाकी प्रथम शतीसे षष्ठ शती]

[१] जइ होसि ण तस्स पिआ अणुदिअहं णीसहेहि अंगेहिं।
णवसूअपीअपेऊसमत्तपाडिव्व[१] किं सुवसि॥ [गाहासत्तसई]

---

१. पाडी शब्द देशी है। यह शब्द आज भी गुजराती व राजस्थानीमें पाया जाता है, जिसका अर्थ है "भैंसकी बच्ची"। इसीका पुल्लिग रूप पाडो भी प्रचलित है।

[यदि भवसि न तस्य प्रिया अनुदिवसं नि सहैरगै ।
नवसूतपीतपीयूषमत्तमहिषीवत्सेव किं स्वपिषि ॥]

[हे सखी अगर तू उसकी प्यारी नहीं है, तो अलसाये अगोसे नये दूधको पीकर मस्त नवप्रसूत पाडीकी तरह दिन भर क्यों सोती रहती है ।]

[२] णमह अ जस्स फुडरवं कंठच्छाआघडंतणअणग्गिसिहम् ।
फुरइ फुरिअट्टहासं उद्धपडित्ततिमिरं विअ दिसाअक्कम् ॥
[सेतुबन्ध]

[नमत च यस्य स्फुटरवं कण्ठच्छायाघटमाननयनाग्निशिखम् ।
स्फुरति स्फुरिताट्टहासं ऊर्ध्वप्रदीप्ततिमिरमिव दिक्चक्रम् ॥]

[जिन महादेवके कण्ठकी नीली छायासे संबद्ध अग्निशिखा वाला, तथा उनके शब्दायमान अट्टहासवाला दिशाओंका चक्रवाल, इसी तरह सुशोभित होता है, मानो अँधेरेके ऊपर प्रकाश प्रदीप्त हो रहा हो, उन महादेवको प्रणाम करो ।]

[८] शौरसेनी प्राकृत [१०० ई० से ६०० ई० तक]

अणज्ज, अत्तणो हिअआणुमाणेण सव्वं एदं पेक्खसि । को णाम अण्णो धम्म-कञ्चुअ-ववदेसिणो तण-च्छण्ण-कूवोवमस्स तुह अनुकारी भविस्सदि । [शाकुन्तल पचम अक]

[अनार्य, आत्मनो हृदयानुमानेन सर्वमेतत् पश्यसि । को नाम अन्यः धर्मकञ्चुकव्यपदेशिन तृणच्छायाकूपोपमस्य तव अनुकारी भविष्यति ।]

[अनार्य, तू सभी वस्तुको अपने हृदयके अनुमानसे देखता है । धर्मका कचुक धारण करनेवाले [धर्मका ढोंग करनेवाले], तिनकोंसे ढँके हुए कुएँके समान तेरे जैसे मनुष्यका सहकारी [समानधर्मा] कौन होगा ।]

[९] मागधी [१०० ई० से ६०० ई० तक]

[१] कधं अपावे चालुदत्ते वावादीअदि । हगे णिअलेण शामिणा वंधिदे । भोदु आक्कंडामि । शुणध, अटया, शुणध । अस्ति दाणिं मए पावेण पवहण-पडिवत्तेण पुप्फ-कलंडअ-यिण्णुय्याणं वशन्तशेणा णीदा ।

[कथमपापः चारुदत्तो व्यापाद्यते। अये निगडेन स्वामिना बद्धः। भवतु आक्रंदामि। शृणुत, आर्याः शृणुत। अस्ति इदानीं मया पापेन प्रवहणप्रतिवृत्तेन पुष्पकरंडकजीर्णोद्यानं वसन्तसेना नीता।]

[क्या चारुदत्तको विना अपराध ही दण्ड दिया [मारा] जा रहा है। अरे, राजाने [स्वामीने] इसे बेडियोसे बॉध दिया है। अच्छा, चिल्लाता हूॅ। सुनो, आर्य, सुनो। अभी अभी गाडीसे लौटे हुए मैने वसन्तसेना पुष्पकरडक जीर्णोद्यानकी ओर पहुॅचाई है।]

[२] एशे शे शार्यंभलीशल-शिविल-निवेशे। एदश्शि अलश्किय्यमाण-पय्यन्दे कधं [ला] उलं याणिदव्वम्। वयश्श एशे के वि चले व्व दीशदि। ता इमादो एदश्श शिविलश्श शलूवं लाउलं च याणिश्शम्ह।

[एष स शाकंभरीश्वरशिविरनिवेशः। एतस्मिन् अलक्ष्यमाणपर्यन्ते कथं राजकुलं ज्ञातव्यम्। वयस्य एष कोपि चर इव दृश्यते। तत् अस्मात् अस्य शिविरस्य स्वरूपं राजकुलं च ज्ञास्यामः।][1]

[यही तो शाकभरीश्वरकी सेनाका पडाव है। यहॉ आसपासके बारेमे कुछ भी पता नहीं लगता, अब राजकुलका ज्ञान कैसे होगा? मित्र यह कोई चर [जासूस] सा दिखलाई देता है। तो इससे इस शिविर के स्वरूपके बारेमे तथा राजकुलके विषयमे पता लगाले।]

[१०] अपभ्रंश [पूर्वी] [६०० ई० से ११०० ई० तक]

आअमवेद पुराणे पंडिअ माण वहंति।
पक्क-सिरिफले अलिअ जिमि वाहेरीअ भमंति॥ [कण्हपा]

---

१. यह द्वितीय उदाहरण उस कालका है, जब प्राकृतका साहित्यिक रूप ही प्रचलित था। अतः प्राकृतकालका शुद्ध उदाहरण पहलावाला ही कहा जा सकता है। उसकी व्याकरणसम्मत विशेषताओकी दृष्टिसे दूसरा उदाहरण भी लिया जा सकता है।

[आगमवेदपुराणेषु पडिताः मानं वहंति ।
पक्वश्रीफले अलय. यथा बहिरेव भ्रमन्ति]

[पडित लोग आगम, वेद तथा पुराणोंके अध्ययनसे ही मानी हो जाते है। पर यह तो वैसे है, जैसे भॅवरे पके बेलके फलके बाहर ही घूमा करते है।]

पडिअ सअल सत्थ बक्खाणइ ।
देहहि बुद्ध बसंत ण जाणइ
अवणागमण ण तेण विखडिअ
तो वि णिलज्ज भणइ हउं पंडिअ ॥ [सरहपा]

[पंडित. सकलानि शास्त्राणि वर्णयति [*वक्ष्यति]
देहे बुद्धं वसंत न जानाति
गमनागमनं न तेन विखंडित
तदपि निर्लज्जो भणति अहं पंडित. ।]

[पडित समस्त शास्त्रोंका बखान करता है, पर देहमे ही स्थित बुद्ध [आत्मा, ईश्वर] को नहीं जानता। अपने जन्म मरणको वह खडित न कर सका, फिर भी निर्लज्ज कहता है—मै पडित हूॅ।]

[११] अपभ्रंश [पश्चिमी] [६०० ई० से ११०० ई० तक]

भल्ला हुआ जु मारिआ, बहिणि महारा कंतु ।
लज्जेज्जं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एतु ॥
[भद्रं भूतं यत् मारित. भगिनि मम कांतः
लज्जेयं तु वयस्याभ्यः यदि भग्नो[1] गृहं एत.[2]]

[हे सखी, मेरा पति मारा गया, यह अच्छा हुआ। मगर कहीं भगा हुआ घर आता, तो मुझे सखियोसे लजाना पडता।]

---

१. भग्नः—भग्गा ।

२. [आ + इत. = एत]

पुत्ते जाए कवणु गुणु, अवगुणु कवणु मुएण ।
जा बप्पीकी भूँहडी चंपिज्जइ अवरेण ॥
[पुत्रे जाते कः पुनर्गुणः, अवगुणः कः पुनर्मृतेन ।
यत् पितुः [*वप्तुः] भूमिः आक्रम्यते अपरेण ॥]

[ऐसे पुत्रके पैदा होनेसे क्या लाभ, और मरनेसे क्या हानि, [जिसके रहते हुए] पिता की भूमि दूसरा चाँप ले ।]

[१२] अवहट्ठ [प्राकृतपैंगलं की परवर्ती अपभ्रंश]
[११०० ई० से १३०० ई० तक]

पअभरु दरमरु धरणि तरणि रह धुल्लिअ झंपिअ
कमठ पिट्ठ टरपरिअ मेरु मंदर सिर कंपिअ
कोह चलिअ हम्मीर वीर गअजूहसंजुत्ते
किअउ कट्ठ हाकंद मुच्छि मेच्छहके पुत्ते ॥
[पादभरेण दलिता धरणी तरणिरथः धूलिभिः छादितः
कमठपृष्ठं [स्फुटितं] मेरुमंदरशिरः कंपितं
क्रोधेन चलितः हमीरवीरः गजयूथसंयुक्तः
कृतः कष्टं हाक्रदः मूर्च्छित्वा म्लेच्छानां पुत्रैः ।]

[जब वीरहमीर हाथियोकी सेना से युक्त होकर क्रोधके साथ चला, तो पृथ्वी पैरोंके बोझसे दब गई, सूर्यका रथ धूलसे ढँक गया, कमठ की पीठ तड़क गई और सुमेरु तथा मदरकी चोटी हिल गई; म्लेच्छोके पुत्रोंने [अर्ध] मूर्छित होकर कष्टके साथ आक्रद किया ।]

परिशिष्ट ख

संस्कृत, ग्रीक तथा लैतिनके समानान्तर शब्द रूप

[१] सं० अकारान्त [ग्रीक-लै० ओकारान्त] शब्द
[पुंलिंग तथा नपुंसक]

	सस्कृत	ग्रीक	लैतिन
प्रातिपादिक	अश्व [पु०]	हिप्पो [पु०]	एक्वो [पु०]
	युग [नपु०]	जुगो [नपु०]	जुगो [नपु०]
ए० व०			
कर्ता	अश्व-स् [अश्वः]	हिप्पो-स	एक्वोस् [एक्वूस्]
	युग-म्	जुगो-न्	जुगु-म् [जुगोम्]
कर्म	अश्व-म्	हिप्पो न्	एक्वो-म्
	युग-म्	जुगो-न्	जुगु-म्
करण	अश्वेन [वै० अश्वा]	[पोन्तोफि]	×
सम्प्रदान	अश्वाय	हिप्पो-आइ, हिप्पो	एक्वोइ=एक्वो-आइ, एक्वो
अपादान	अश्वात्	हिप्पो-ओ, हिप्पोउ	एक्वोइ, एक्वी, एक्वो [द्]
सम्बन्ध	अश्वस्य	हिप्पो-[स्] इओ	एक्वो-इस्
अधिकरण	अश्वे [अश्व-इ]	[ओइको-इ, ओइकोइ]	[दोमि=दमो-इ १] [=स० दमे]
सम्बोधन	अश्व	हिप्पे [=हिप्पो-]	एक्वे [एक्वो]
	[युगम्]	जुगो-न्	जुगु-म्

	संस्कृत	ग्रीक	लैतिन
द्वि० व०			
कर्ता-कर्म	अश्वा अश्वौ	हिप्पो-ए, हिप्पो	×
करण, सम्प्रदान अपादान	अश्वाभ्याम्	हिप्पो-इन्	×
संबध- अधिकरण	अश्वयोः	×	×
ब० व०			
कर्ता	अश्वा-स् [अश्वाः] [वै० अश्वासः] युगानि [नपु०] [वै० युगा]	हिप्पो-इ जुगा [नपु]	[एक्वो-एस्, एक्वइस्] एक्वी जुग-अ = जुग
कर्म	अश्वान् [=अश्वान्-स्] युगानि	हिप्पोउस् = हिप्पोन्-स् जुगा	एक्वोस् = एक्वोम्-स् जुग

	सं०	ग्री०	लै०
करण	अश्वैः [वै० [अश्वेभिः]	[थेओ-फिन्]	×
सम्प्रदान-अपादान	अश्वे-भ्यः [-भ्यस्]	×	×
सम्बन्ध	अश्वानाम् [=अश्वा-न्-आम्]	[हिप्पो-ओन्] हिप्पोन्	एक्वो-रुम् एक्वूम्= एक्वो-ओम्

अधिकरण	अश्वे-षु	हिप्पोइ-सि हिप्पोइ-स्	[एक्वो- इस्] एक्वीस

[२] सं० आकारान्त [ग्रीक, लै० अकारान्त] शब्द [स्त्रीलिंग]

	संस्कृत	ग्रीक	लै०
प्रातिपदिक	अश्वा	खोर- [दिश]	एक्व- [घोडी]
एक वचन			
कर्ता	अश्वा	खोर	एक्व
कर्म	अश्वाम्	खोर-न्	एक्व-म्
करण	अश्वया [वै० अश्वा]	[त्रिए-फि]	×
सम्प्रदान	अश्वायै [वै० अश्वाइ]	खोरइ [खोर-अइ]	एक्वए
अपादान-संबंध	अश्वायाः	खोर-स् [जिनेटिव] × [एब्लेटिव]	[एक्व-इस् एक्वास्] एक्वइ, एक्वए [जिने०] एक्वा [द्] [एब्ले०]
अधिकरण	अश्वायाम्	[खमा-इ]	[रोमए = रोम- ? = रोममें]
द्वि० व०			
कर्ता	अश्वे	खोरा	×
करण, सम्प्रदान अपादान	अश्वाभ्याम्	खोर-इन्	×
संबंध, अधिकरण	अश्वयोः [—योस्]	×	×
ब० व०			

कर्ता	अश्वास् [अश्वाः]	खोरइ	एक्क-एस्, एक्कास्
कर्म	अश्वास् [अश्वाः]	खोरास् [-न्स्]	एक्कास् [-म्स्]
करण	अश्वाभिः [-भिस्]	[-फिन्]	×
सम्प्रदान अपादान	अश्वाभ्यः [-भ्यस्]	×	एक्व-वुस्, एक्व-रुम्
सबंध	अश्वानाम् [वै० अश्वाम्]	खोरोन्	
अधिकरण	अश्वेषु	खोरइ-सि, खोरइ-स्	[एक्क-इस्] एक्किस्

[३] इकारान्त रूप [पु०, स्त्री०, नपुं०]

	संस्कृत	ग्रीक	लै०
प्रातिपदिक	अवि [पु० स्त्री०]	पोलि [स्त्री०] [=नगर]	ओवि
	वारि [नपुं०]	इद्रि [विशेषण]	मरि [नपु०]
ए० व०			
कर्ता	अवि-स्, वारि [न०]	पोलिस्, इद्रि [न०]	ओवि-स्, मरे [न०]
कर्म	अवि-म्, वारि [न०]	पोलिन्, इद्रि	ओवे-म्, मरे
करण	अविना [पु०]	×	×
	अव्या [स्त्री०]		
	वारिणा [नपुं०]	×	×
सम्प्रदान	अवये [पु०], अव्यै [स्त्री], वारिणे [न०]	× ×	ओवी ×

अपादान	अवेः, अव्याः [स्त्री०] वारिण [न०]	× ×	अवे [द्] मरि-[द्]
सम्बन्ध	अवेः, अव्याः [स्त्री०] वारिणः [न०]	पोलि-ओस्, पोले-ओस्, पोले-ओस्, पोलेयोस् ×	ओविस् ×
अधिकरण	अवौ, अव्याम् [स्त्री०], वारिणि [न०]	पोले-ई, पोलेइ पोले-ई	×
द्वि० व०			
कर्ता, कर्म	अवी, वारिणी	पोलि-ए, पोलेए	×
करण, सम्प्र०, अपा०	अविभ्याम्	पोलि-ओ-इन्	×
सबध अधिकरण	अव्योः, वारिणोः	×	×
च० व०			
कर्ता	अवयः, वारीणि	पोले-एस्, [=पोलेयस्] पोलि-एस्, पोलेइस् [न०] इद्रि-अ [न०]	ओवेस् मरि-अ
कर्म	अवीन् [पु०], अवीः [स्त्री०] वारीणि [न०]	पोले-अस्, पोले-इस् इद्रि-अ	ओवेस् मरिअ
करण	अविभिः [-भिस्]	×	×
सम्प्र०, अपा०	अविभ्यः [-भ्यस्]	×	ओवि बुस्
सबध	अवीनाम्	पोलि-ओन्, पोले-ओन्	ओवि-उम्

अधिकरण	अविषु	पोलि-सि, पोल-सिं; पोलि-ए-स्सि	×

नोट :—यहाँ हमने स्त्रीलिंग तथा नपुंसक लिंग शब्दोके उन्हीं रूपोका संकेत किया है, जो पुल्लिंग शब्दोके तत्तत् विभक्तिके तत्तत् वचनान्त रूपोसे भिन्न होते है। अन्यरूप पुल्लिंग रूपोके समान होनेसे उनका संकेत अनावश्यक समझा गया है, यही कारण है, यहाँ वारिभिः वारिभ्यः, वारिषु जैसे रूपोका कोई संकेत नहीं है, क्योकि उनका संकेत अविभिः, अविभ्यः, अविषु जैसे रूपोसे मिल जाता है।

[४] ध्वनियुग्मान्त शब्दों [Diphthongal stems] के रूप

	संस्कृत	ग्रीक	लै०
प्रातिपदिक	१. नौ	नउ	[नवि]
	२. गौ	बाउ	बाउ [बा-वि]
ए० व०			
कर्ता	नौ-स् [नौः]	नउस्	नवि-स्
	गौः	बाउस्	बोस् [बाउस्]
कर्म	नावम्	नेव, नउ-न्	नवम्
	गावम्	बाउ-न्	बावेम्
करण	नावा	नउफि	×
	गवा	×	×
सम्प्रदान	नावे	×	नवी
	गवे	×	बावि
अपादान	नावः [—अस्]	×	नावे [द्]
	गोः [—स्]	×	बावे [द्]
संबंध	नावः	नेवास्-नेओस्	नविस्
	गोः	बावास्	बाविस्

अधिकरण	नावि	नेवि	×
	गावि	ग्नोवि	×
द्वि० व०			
कर्ता-कर्म	नावा-नावौ	नेव	×
	गावा-गावौ	ग्नोवे	×
करण, सम्प्र०,	नौभ्याम्	नेवो-इन्, ने-ओइन्	×
अपादान	गोभ्याम्	ग्नो-वोइन	×
संबंध, अधि०	नावोः	×	×
	गवोः	×	×
ब० व०			
कर्ता	नावः	नेवेस्	नवेस्
	गावः	ग्नोवेस्	ग्नोवेस् [ग्नोविएस्
कर्म	नावः	नेवस्, नउस्	नवेस्
	गावः, गाः,	ग्नोवस्, ग्नोउस्	ग्नोवेस्
करण	नौभिः [–भिस्]	नउफिन्	×
	गोभिः [–भिस्]	×	×
सम्प्र०, अपा०,	नौभ्यः [–भ्यस्]	×	नवि-बुस्
	गोभ्यः [–भ्यस्]	×	ग्नो-बुस्, बू-बु
सम्बंध	नावाम्	नेवोन्, नेओन्	नवि उन्
	गवाम्	ग्नोवोन्	ग्नो-उम्=ग्नो
अधिकरण	नौषु	नेउसि, नउसि	×
	गोषु	ग्नोउसि	×

[इस सम्बन्धमें इतना संकेत कर दिया जाय कि लैतिनने ध्वनियुग्मोंके
कारण ध्वनियुग्मात प्रातिपदिकोंका अभाव है। 'नवि' वस्तुतः इ

प्रातिपदिक है। केवल 'बोस्' का प्रातिपदिक 'बोव्' [या बोउ] ही एकमात्र ऐसा शब्द है, जिसमे ध्वनियुग्मात शब्दके अवशिष्ट चिह्न देखे जा सकते है।]

हलन्त शब्दोंके रूप

[१] सस्कृत वाच्, [स्त्री०] ग्रीक ओप् [स्त्री०], लैतिन वोक् [स्त्री०]

	स०	ग्री०	लै०
ए० व०			
कर्ता	वाक्	ओप्-स्	वोक्-स् [वोक्स]
कर्म	वाच	ओप्-अ [ओप]	वोकम्
करण	वाचा	×	×
सम्प्रदान	वाचे	×	वोकि
अपादान	वाचः	×	वोके [द्]
सबध	वाचः	ओपास्	वोकिस्
अधिकरण	वाचि	ओपि [यह देतिवका रूप है]	×
द्वि० व०			
कर्ता-कर्म	वाचा, वाचौ	ओपे	×
करण, सम्प्र०	वाग्भ्याम्	ओपाइन्	×
अपा०	[=* वाच्-भ्याम्]		
सबध, अधि०	वाचोः	×	×
ब० व०			
कर्ता	वाचः [वाचस्]	ओपेस्	वोकेस् [वोकि-एस्]
कर्म	वाचः [,,]	ओपस्	वोकेस्
करण	वाग्भिः [=* वाच्भिः]	[-फिन्]	×

सम्प्र०-अपा०	वाग्भ्यः [=* वाच्भ्यः]	×	वोकिबुस्
सबध	वाचाम्	ओपोन्	वोकुम्
अधिकरण	वाक्षु	ओप्-सि [देतिव]	×

प्रातिपदिक

[२] स० भरत् [भरन्त्] [पु० नपु०], ग्रीक फेरोन्त् [पु० नपु०] लै० फेरेन्त् [पु० स्त्री० नपु०]

	स०	ग्री०	लै०
ए० व०			
कर्ता	भरन्, भरत् [नपु०]	फेरोन् [-ओन्त्-स्]	फेरेन्[त्]-स्
कर्म	भरन्तम्, भरत् [नपु०]	फेरोन्त [०न्त्-अ]	फेरेन्तेम्
करण	भरता	×	×
सम्प्रदान	भरते	×	फेरेन्ति
अपादान	भरतः [भरत्-अस्]	×	फेरान्ते [द्]
सबध	भरतः	फेरोन्तोस् [०न्त्-ओस्]	फेरेन्तिस्
अधिकरण	भरति	फेरोन्ति	×
द्वि० व०			
कर्ता-कर्म	भरन्ता, भरन्तौ भरन्ती [नपु०]	फेरोन्ते [०न्त्-ए]	×
करण, सम्प्र० अपादान	भरद्भ्याम् [=*भरत्भ्याम्]	फेरोन्तोइन्	×
संबध, अधिकरण	भरतोः	×	×
ब० व०			

कर्ता	भरन्तः [भरन्त्-अस्]	फेरोन्तेस्, फेरन्तेस् [-फेरेन्तिएस्]
	भरन्ति [नपुं०]	फेरान्त [०न्त्-अ]
कर्म	भरतः	फेरान्तस् [०न्त्-अस्] फेरन्तस्
	भरन्ति [नपुं०]	फरान्त [०न्त्-अ]
करण	भरद्भिः	[–फिन्]
सम्प्र०-अपा०	भरद्भ्यः	× फेरेन्ति-बुस्
सबंध	भरताम्	फेरोन्तोन् फेरेन्तिम् [फेरेन्तुम्]
अधिकरण	भरत्सु	फेरोन्त्सि [–फेराउसि] ×

नोटः—संस्कृतमे *'भरन्त्'के स्त्रीलिग रूपोमे 'ई' प्रत्यय जुड़कर 'भरन्ती' बनता है, जिसके रूप वृकी, देवी जैसे ईकारान्त स्त्री० शब्दोकी तरह चलते है। ग्रीकमे स्त्रीलिंगमे 'य' प्रत्यय जुडता है। ग्रीकमे सं० भरन्तीके समानान्तर प्रातिपदिक 'फरान्त्य' तथा 'फराउस' है, जिनके रूप अकारान्त स्त्रीलिग शब्द 'खोर' [Xora] की तरह चलते है। लैतिनमे पु०, स्त्री०, नपुं० तीनोमे ये एकसे बने रहते हैं।

स० मनस् [न०], दुर्मनस् [पु० स्त्री०], ग्रीक मेनास् [न०], दुस्मनास् [पु० स्त्री०]

	सं०	ग्रीक
ए० व०		
कर्ता	मनस् [मनः] [न०]	मेनास्
	दुर्मनाः [दुर्मनास्] [पु० स्त्री०]	दुस्मनेस्
कर्म	मनस् [मनः]	मेनास्
	दुर्मनसं [पु० स्त्री०]	दुस्मनस्-अ [०स], दुस्मनसेअ, ०से

सर्वनाम शब्दोंके रूपोंका तुलनात्मक परिचय

[१] उत्तम पुरुषवाचक सर्वनाम

	स०	ग्रीक	लैतिन
ए० व०			
कर्ता	अहम्	एगोन्, एगो	एगो
कर्म	माम्, मा	ए-मे, मे	मे
करण	मया	×	×
सम्प्रदान	मह्य, [मे]	एमिन् [एमे-फिन्]	मि-हइ, मिहि
अपादान	मत्	×	मेद्
सबंध	मम, [मे]	एमेइओ, एमोउ, मोउ, एमोउस्	[मइ ?]
अधिकरण	मयि	एमो-इ, मो-इ	मइ
द्विवचन			
कर्ता	आवाम्	नोइ, नो	×
कर्म	आवाम्, नौ		
करण, सम्प्र०, अपादान	आवाभ्याम् नौ [सम्प्र०]	नो-इन्, नोइन्	×
सम्बन्ध अधिकरण	आवयोः, नौ [सबंध]	×	×
बहुवचन			
कर्ता	वय, अस्मे [वैदिक]	अम्मेस् [अस्मिस्] हेमे-एस् [हेमिस्] हेमेइस्	नोस् [? नोस्]
कर्म	अस्मान्, नः	अम्मे, हेमेअस्, हेमस्	नोस्
करण	अस्माभिः	×	×

सम्प्रदान	अस्मभ्यं, नः	अम्मिन् [अम्मि-फिन्] हेमिन्	नो-ब्रिव्
अपादान	अस्मात्	×	नो-ब्रिव् [वितिव]
संबंध	अस्माकं, नः	हेमेइओन्, हेमे-ओन् हेमोन्	नोस्त्रि, नोस्त्रुम्
अधिकरण	अस्मासु	×	×

[२] मध्यम पुरुष वाचक सर्वनाम

	सं०	ग्री०	लै०
एक वचन			
कर्ता	त्वम्	तु, सु	तु
कर्म	त्वाम्, त्वा	से, से [=त्वे]	ते=त्वे-म्
करण	त्वया	×	×
सम्प्रदान	तुभ्यं [ते]	सेइन् [तेइ-फिन्]	ति-बेइ, तिबि
अपादान	त्वत्	×	तेद् [=तेइ-द्]
संबंध	तव [ते]	तेओइओ [=तेवोस्यो] सेइओ, सेओ, सोउ, सेउ, तेओउस्	[तुइ ?]
अधिकरण	त्वयि	सोइ [त्वि-इ]	तुइ [मूलतः जेनेतिव]
द्वि० व०			
कर्ता	युवाम्	स्फोइ, स्फो	×
कर्म	युवाम्, वाम्		
करण, सम्प्र०, अपा०	युवाभ्याम्, वाम् [सम्प्र०]	स्फो-इन् [स्फोइ-फिन्] स्फोइन्	×
संबंध, अधि०	युवयोः, वाम् [संबंध]	×	×

ब० व०			
कर्ता	यूयम्, युष्मे [वैदिक]	उम्मेस्, हुमेएस्, हुमेइस्	वोस्
कर्म	युष्मान्, वः	उम्मे, हुमेअस्, हुमइस्	वोस्
करण	युष्माभिः	×	×
सम्प्रदान	युष्मभ्यं, वः	उम्मि [म्मि-फिन्] हुमिन्	वा-बिस्
अपादान	युष्मात्	×	वो-बिस् [मूलतः देतिव]
सबंध	युष्माक		वास्त्रुम्
	वः	हुमेइओन्, हुमे-ओन्, हुमोन्	वास्त्रि
अधिकरण	युष्मासु	×	×

[३] अन्य पुरुष वाचक सर्वनाम

[क] पुल्लिंग तथा नपुंसकलिंग

	स०	ग्रीक	लैतिन
प्रातिपदिक	त-	तो-	इस्-तो-[इ+स+त]
ए० व०			
कर्ता	सः, तत् [न०]	हो [स्], तो [न०]	इस्तुस्, इस्ते, इस्तुद् [न०]
कर्म	तम्, तत् [न०]	तोन्, तो [न०]	इस्तुम्, इस्तुद् [न०]
करण	तेन	×	×
सम्प्र०	तस्मै	तोइ = तो-ओइ	*इस्ति ? = इस्तोएइ = क्वोइएइ

अपादान	तस्मात्	[तोस्=तोत्]	इस्तो-द्
सबंध	तस्य	ताइओ, तोउ	इस्तिउस् [इस्तो-इ-ओम्]
अधिकरण	तस्मिन्	[टोइ=टो-इ]	*इस्ति ?=इस्तोट =हुमि, क्वोट

द्वि० व०

कर्ता, कर्म	तौ [ता], ते [न०]	तो	
करण, सम्प्र० अपा०	ताभ्याम्	ताइन्	
सबंध, अधिकरण	तयोः	×	×

ब० व०

कर्ता	ते, तानि [न०]	ताइ, टाइ, त [न०]	इस्ती, इस्त, [न०]
कर्म	तान्, तानि [न०]	तान्स्, ताउस्, त [न०]	इस्तोम्, इस्त [न०]
करण	तैः	×	×
सम्प्र०, अपा०	तेभ्यः	×	[क्वि-बुस्, हि-बुस्, टाइ-बुस्]
सबंध	तेषाम्	तोन्	इस्तो-रुम्
अधिकरण	तेषु	ताइ-सि, ताइस्	इस्तिस् [क्वइस्]

[ख] स्त्रीलिंग रूप

	स०	ग्रीक	लैटिन
ए० व०			
कर्ता	सा	टे	इस्त, क्व-इ [क्वए]
कर्म	ताम्	तेन्	इस्तम्
करण	तया	[टेफि]	×

सम्प्र०	तस्यै	तेइ	इस्ति
अपादान	तस्याः	×	इस्ता-[द्]
सबध	तस्याः	तेस्	इस्तीउस्
अधिकरण	तस्याम्	तेइ	इस्ति
द्वि० व०			
कर्ता, कर्म	ते	त	×
करण, सम्प्र०, अपादान	ताभ्याम्	त-इन्	×
सबध, अधि०	तयोः	×	×
ब० व०			
कर्ता	ताः	तइ	इस्तए
कर्म	ताः	तस्	इस्तास्
करण	ताभिः	×	×
सम्प्र०, अपा०	ताभ्यः	×	×
सबंध	तासाम्	त-ओन्, तोन्	इस्ता रुम्
अधिकरण	तासु	तेइ-सि, तइस्	इस्तीस्

संस्कृत, ग्रीक तथा लैतिन तिङ् विभक्तियाँ

[१] मुख्य तिङ् विभक्तियाँ :—परस्मैपदी

	संस्कृत	ग्रीक	लैतिन
उ० पु० ए० व०	सं०—मि, [भरामि, ददामि],	ग्री०—मि, —ओ, [दिदोमि, फेरो],	लै०—म्, —ओ [सुम् [सं० अस्मि], फेरो]
द्वि० व०	सं०—वः [भरावः, दद्वः]	× ×	× ×
ब० व०	सं०—मः	ग्री० मेस् [दोरिक], मेन् [एतिक],	लै० मुस्

	[भरामः, दद्मः]	[फेरोमेन्, दिदोमेन्]	[सुमुस्, फेरिमुस्]
म० पु० ए० व० सं०—सि,		ग्री०—सि, एइस्	लै०—स्
	[भरसि, ददासि]	[दिदोसि, फेरइस्]	[फेर्स]
द्वि० व० स०—थः		ग्री०—तोन्	×
	[भरथः, दत्थः]	[फेरतान्, दिदातान्]	×
ब० व० स०—थ		ग्री०—ते	लै०—तिस्
	[भरथ, दत्थ]	[फेराते, ददाते]	[फेर्तिस्]
प्र० पु० ए० व० स०—ति,		ग्री०—ति, —सि,	लै०—त्
	[भरति, ददाति]	[एस्ति, तिथेति, फेरसि] [डोरिक, दिदोति, एतिक, दिदोसि]	[इस्त्, फेर्त]
द्वि० व० स०—तः,		ग्री०—तोन्	×
	[भरतः, दत्तः]	[फेरतान्, दिदातान्]	×
ब० व० स०—न्ति,		ग्री०—न्ति [डोरिक], —उसि [एतिक]	लै०—न्त्
	[भरन्ति, ददति]	[फेरान्ति [डो०] फेरोउसि [ए०] दिदोउसि]	[फेरन्त्]

[२] मुख्य तिङ् विभक्तियाँ : आत्मनेपदी :—

उ० पु० ए० व० स०—ए [भरे] ग्रीक—मइ [फेरामइ] ×

द्वि० व० सं०—वहे [भरावहे], ग्रीक–मेथान् [जो मूलतः ब० व० रूप ही है] [फेरोमेथान्]

ब० व० सं०—महे [भरामहे], ग्रीक–मेथ [फेरोमेथ] ∠*मधइ

म० पु० ए० व० सं०—से [∠*सइ] [भरसे], ग्रीक–सइ,–एइ [फेरइ ∠*फेरसइ]

द्वि० व० सं०—एथे [भरेथे], ग्रीक–स्थोन्, –स्थेन् [फेरेस्थान्, फेरस्थेन्]

ब० व० सं०—ध्वे [भरध्वे], ग्रीक–स्थे [फेरेस्थे]

प्र० पु० ए० व० सं०—ते [भरते], ग्रीक –तइ [फेरेतइ]

द्वि० व० सं०—एते [भरेते], ग्रीक–स्थोन्, स्थेन् [फेरेस्थोन्, फेरेस्थेन्]

ब० व० सं०—अन्ते [भरन्ते], ग्रीक–न्तइ, –अतइ [फेरोन्तइ, [आसते] हेअतइ]

लैतिनमें स्वतन्त्र आत्मनेपदी तिङ् चिह्न नहीं होते, वहाँ 'र्' जोड़ दिया जाता है, जैसे, अमोर्, अमरिस्, अमतुर्, अमम्रर्, अमन्तुर्। [दे० Papillon: Comparative philology applied to Greek and Latin p. 178].

[३] गौण तिङ् चिह्न : परस्मैपदी :—

उ० पु० ए० व० सं०—म् [अ-भर-म्] ग्रीक–न् [ए-फेरो-न्]
द्वि० व० ,,—आव [अ-भराव] ×
ब० व० ,,—आम [अ-भराम] ग्रीक–मेन् [ए-फेरो-मेन्]

म० पु० ए० व० सं०—स् [:] [अ-भर-: [स्]] ,,—स् [ए-फेर-स्]
द्वि० व० ,,—तम् [अ-भर-तम्] ग्रीक–तोन् [ए-फेरे-तोन्]
ब० व० ,,—त [अ-भर-त] ,,–ते ए-फेरे-ते]

ए० व० स०—त् [अ-भर-त्] ग्रीक—त् [ए-फेर-त्]
द्वि० व० ,,—ताम् [अ-भर-ताम्] ,,—तेन् [ए-फेर-तेन्]
ब० व० ,,—न् [अ-भर-न्] ,,—न् [∠*न्त्],-अन् [∠*अन्त्]
[ए-फरो-न् ; ए-लुस्-अन्]

लैतिनमें गौण चिह्न तथा मुख्य चिह्नोंमें कोई भेद नहीं रहा है, क्योंकि यहाँ आकर मुख्य चिह्न -म्,-स्,-त् हो गये है। लैतिनमें भूतकालका द्योतक आगम [augment] 'अ' [ग्रीक तथा प्रा० भा० यू० *ए] प्रायः लुप्त हो गया है, इसके अवशेष केवल उन चार क्रियारूपोंमें पाये जाते हैं, जिनके आदिमें स्वरध्वनि पाई जाती है :—एगि [ēgi], एदि [ēdi], एमि [ēmi],-एपि [-ēpi, in co-ēpi]। [दे० King and Cockson p 156].

[४] गौण तिङ् चिह्न, आत्मनेपदी :—

उ० पु० ए० व० स०—ए [अ-भरे] ग्रीक—मान् [-मेन्] [एफेरोमेन्]
द्वि० व० ,,—वहि [अ-भरावहि] ,,—मेथोन् [ए-फेर-मेथोन्]
ब० व० ,,—महि [अ-भरामहि] ,,—मेथ [ए-फेरमेथ]
म० पु० ए० व० स०—था: [अ-भर-था:] ग्रीक—सो [ए-फेर-सो]
द्वि० व० ,,—एथाम् [अ-भरेथाम्] ,,—स्थोन् [ए-फेर-स्थोन्]
ब० व० ,,—ध्वम् [अ-भर-ध्वम्] ,,—थे [-स्थे] [ए-फेर-स्थे]
प्र० पु० ए० व० स०—त [अ-भर-त] ग्रीक—तो [ए-फेर-तो]
द्वि० व० ,,—एताम् [अ-भरे-ताम्] ,,—स्थेन् [ए-फेर-स्थेन्]
ब० व० ,,—न्त [अ-भर-न्त] ,,—न्तो,-अता [ए-फेरो-न्तो]
—अत [आसत] [हेअतो]

संग्राह्य पुस्तक-सूची

१. Otto Jespersen : Language its Origin, Development and Nature.

२. Bloomfield : Language.

३. Marcel Cohen : Le Langage.

४. Saussure : Cours de Linguistique Generale.

५. Otto Jespersen : The Philosophy of Grammar.

६. Daniel Johns : An outline of English Phonetics.

७. Bloch : L'Indo-Aryen.

८. A. Meillet : Introduction a l'etude Comparative des langues Indo-europeenes.

९. A. Thumb : Handbuch des Sanskrit.

१०. Wackernagel : Altindische Grammatik. (Vol. I, II, III).

११. Ghosh : Linguistic Introduction to Sanskrit.

१२. T. Burrow : Sanskrit Language.

१३. Edgerton : Phonology of Indo-European.

१४. Sturtevant : Indo-Hittite Laryngeals.

१५. Hudson-Williams : Introduction to the study of Comparative Grammar.

१६. Atkinson : Greek Language.

१७. Buck : Comparative Grammar of Greek and Latin.

१८. King and Cockson : Comparative Grammar of Greek and Latin.

१९. Papillon : Comparative Philology applied to Greek and Latin.

Pischel Prakrit Sprachen.

- ... Woolner Introduction to Prakrit.

२२. Macdonell Vadic Grammar.

२३ Dr. Chatterjea. Origin and Development of Bengali Language.

२४ ,, Indo-Aryen and Hindi.

२५. Dr Saksena Evolution of Awadhi.

२६. Dr. Tagare: A Historical Grammar of Apabhramsa.

२७. Dr. Allen Indo-European primary affix 'Bh' (Trans. of Philological Society of Great Britain 1950).

२८. Mathews. Soviet Contribution to Linguistic thought (Archivum Linguisticum Vol. 2 pt I-II)

२९. डॉ० तिवारी : भोजपुरी भाषा और साहित्य-

३०. शौनकीय ऋक्प्रातिशाख्य

३१. शुक्लयजुःप्रातिशाख्य (उव्वट भाष्य सहित),

३२. तैत्तरीयप्रातिशाख्य

३३. अथर्वप्रातिशाख्य

३४. पाणिनिशिक्षा

३५. माध्यन्दिनीशिक्षा

३६. केशवीशिक्षा

३७ सिद्धातकौमुदी

३८ वररुचि : प्राकृतप्रकाश

३९. मार्कण्डेय : प्राकृतसर्वस्व

४०. हेमचन्द्र : शब्दानुशासन (अष्टम अध्याय),

४१. डॉ० चाटुर्ज्या : भारतीय आर्यभाषा और हिंदी